सूत्र संवेदना-१

संवेदनात्मक भाववाही अर्थ सहित
सामायिक के सूत्रो

सूत्र संवेदना-१

संवेदनात्मक भाववाही अर्थ सहित

आवश्यक क्रिया के सूत्र

भाग-१ सामायिक के सूत्र

(सूत्र संवेदना-१ गुजराती की संस्कारित हिन्दी आवृत्ति)

: संशोधन-संकलन एवं सविस्तार संपादन :

प्रशांतमूर्ती परम पूज्य साध्वीजी श्री **चरणश्रीजी** महाराज की सुशिष्या

परम पूज्य विदुषी साध्वीजी श्री **चन्द्राननाश्रीजी** महाराज की सुशिष्या

साध्वीजी श्री **प्रशमिताश्रीजी**

- प्रकाशक -

सन्मार्ग प्रकाशन

जैन आराधना भवन, पाछीया की पोल, रीलिफ रोड,

अहमदावाद-३८०००१. फोन : २५३९२७८९

सूत्र संवेदना-१

: प्रकाशक :

सन्मार्ग प्रकाशन

जैन आराधना भवन, पाछीया की पोल, रीलिफ रोड,
अहमदाबाद-३८०००१. फोन : २५३९२७८९

साहित्य सेवा : रु. १००

प्रथम आवृत्ति : वि.सं. २०६८, ई. सन-२०१२ अहमदाबाद

○ संपर्क स्थान - प्राप्ति स्थान ○

❖ **श्री अशोक अरविंद विक्रम मेहता**
पूनम फाइनेन्स
१६४, 'बी' स्ट्रीट, ६ क्रॉस,
गांधीनगर, बेंगलोर-५६०००९
(M) 9845452000/9845065000

❖ **श्री शांतिलालजी गोलच्छा**
श्री विचक्षण जैन तत्वज्ञान केन्द्र
श्री धर्मनाथ जैन मंदिर
नं. ८५, अम्मन कोइल स्ट्रीट
चैन्नई-६०००७९
फोन : (R) 044/25207875
(M) 9444025233

❖ **श्रीमती आरतीबेन हेमन्तभाई शैल**
३, जानकीनगर एवसटेन्शन
राम मंदिर के पास, इन्दौर
फोन : (R) 0731/2401779
(M) 9301337025

❖ **अहमदावाद :**
- सन्मार्ग प्रकाशन कार्यालय

❖ **सरलाबेन किरणभाई**
"ऋषिकिरण"
१२, प्रकृतिकुंज सोसायटी,
आंबावाडी, अहमदावाद-१५.
फोन : (R) 079-26620920
(M) 9825007226

❖ **साकेरचंदभाई मोतीचंदभाई झवेरी**
सी.व्यू एपार्टमेन्ट, ७मे मा,
डुंगरसी रोड, वाल्केश्वर, मुंबई-६.
फोन : (R) 23676379
(M) 98200811124

❖ **श्री खेमचन्द दयालजी**
रथाकार मंदीर, मणीलाल,
२, केस्टेलीनो रोड, पूणे.

❖ **श्री शैलैन्द्र सकलेचा**
वर्धमान ट्रेडर्स, जैन मंदिर के पीछे, सदर बजार,
रायपुर-४०२००१ (R) 077-4280223

जिनसे पाया उन्हीं के करकमलों में....

...आभार...

सन्मार्ग प्रकाशन द्वारा आयोजित

सूत्र संवेदना-१

पुस्तक प्रकाशन का लाभ लेनेवाला परिवार

भेरुतारक तीर्थ संस्थापक

श्रीमती भारतीबेन मोहनलाल संघवी परिवार

मालगाँव - सूरत

आपकी श्रुत भक्ति की हम हार्दिक अनुमोदना करते हैं।
भविष्य में भी आप ऐसी उच्चस्तर श्रुत भक्ति कर स्व-पर के
ज्ञानावरणीय कर्मो की निर्जरा करें !
यही शुभेच्छा ।

सन्मार्ग प्रकाशन

सूत्र संवेदना संबंधी

स्वर्गस्थ गच्छाधिपति पूज्यपाद

आचार्यदेव श्रीमद् विजय हेमभूषणसूरीश्वरजी म.सा. का अभिप्राय

नारायणधाम, वि.सं. २०५६, पो.व. ४

विनयादिगुणयुक्त सा. श्री प्रशमिताश्रीजी योग,

***जिज्ञा** से प्रत्यक्ष में पहले बात हुई, उसके बाद उसने 'सूत्र संवेदना' का प्रुफ पढ़ने के लिए भेजा। उसे विहार में पूरा पढ़ लिया। सच कहता हूँ - पढ़ने से मेरी आत्मा को तो अवश्य खूब आनंद हुआ। ऐसा आनंद एवं उस वक्त हुई संवेदनाएँ अगर स्थिर बनें, क्रिया के समय सतत उपस्थित रहें तो क्रिया-अनुष्ठान भावानुष्ठान बने बिना न रहे। निश्चित रूप से बहुत सुंदर पुरुषार्थ किया है। ऐसी संवेदना पाँचों प्रतिक्रमणों में उपयोगी सभी ही सूत्रों की तैयार हो तो योग्य जीवों के लिए जरूर खूब लाभदायक बनेगी। मैंने **जिज्ञा** को प्रेरणा दी है, लेकिन इसके मूल में आप हो इसलिए आपको भी बताता हूँ। मेरी दृष्टि में यह सूत्र-संवेदना प्रत्येक साधु, साध्विओं - खास करके नए साधु-साध्विओं को विशेष पढ़नी चाहिए।*

रत्नत्रयी की आराधना में अविरत लगे रहो, यही शुभाभिलाषा।

लि.

हेमभूषण सू. की अनुवंदना

अनुवादक की अभिलाषा

स्वार्थ से सर्वार्थ का प्रयाण ही जीवन की सर्वोत्तम यात्रा है। इसीलिए जैन दर्शन में तीर्थंकर सर्वप्रथम पूजे गये क्योंकि उन्होंने ही त्रिपदी की रचना की और द्वादशांगी के प्रणेता बने ।

जैन दर्शन का अनुत्तम मंत्र भी इसलिए वो मंत्र है जिसमें पंच परमेष्टि को वंदन किया जाता है। जिसमें साधक उनको नमन तो करते ही हैं जो कृतकृत्य हो गये, पर साथ में उन्हें भी वंदन करते हैं जो उस राह पर आरूढ़ हैं। कोई नाम नहीं, कोई आकार नहीं, कोई प्रकार नहीं; लक्ष्य हैं तो केवल वंदनीय गुणों का जिसके लिए हमने जन्म लिया है। और यही तो मूलतः अंतर नमस्कार महामंत्र एवं दूसरे मंत्रों में है। ये नमस्कार ही सभी पापों का नाश करता है और सर्व का सर्वोत्कृष्ट मंगल करने का हेतु बनता है।

इस पुस्तक में चर्चित सभी सूत्रों का आधार यही महामंत्र है, जिसका बखूबी विवेचन किया है **गुरुवर्या प.पू.विदुषी सा.श्री प्रशमिताश्रीजी ने।**

भाषांतर करना सरल तो नहीं, फिर भी यथाशक्ति गुजराती भाषा से हिन्दी में अनुवाद करने का प्रयास किया है, इस उम्मीद के साथ कि इस पुस्तक में निहित भावार्थ हिन्दी प्रेमी संघ के सदस्यों के लिए उपकारी बनेगा। पूर्व की तरह सराहनीय साथ दिया है भाई **शैलेषजी मेहता** ने । कार्यकर रहते हुए भी उन्होंने समय निकाला है धर्म प्रभावना के लिए।

श्रद्धेय **सा. श्री प्रशमिताश्रीजी** का वरदहस्त आशीर्वाद रूप रहा और पू. **सा. श्री जिनप्रज्ञाश्रीजी** का स्नेह भी जो इस भाषांतर को पूर्ण करने का हेतु बना। किन शब्दों में उनके प्रति कृतज्ञता प्रेषित करूँ ? कोटि कोटि नमन। वंदन स्व. पू. गुरुवर्या श्री **हेमप्रभाश्रीजी** एवं सा. **विनीतप्रज्ञाश्रीजी** के चरण कमलों में भी जो इस धर्म लाभ का कारण बनीं।

ऐसे अवसर पुनः पुनः मिले ताकि प्रत्यक्ष या परोक्ष में जिनशासन की निःस्वार्थ सेवा कर सकूँ, यही अभिलाषा...

१०, मंडपम रोड, किलपॉक,
चेन्नई - ६०००१०.
श्रावण सुद-१५ २०६८

- डॉ. ज्ञान जैन
B.Tech.,M.A.,Ph.D.

संवेदना जागृत करे वो सूत्र !
सूत्र के साथ संबंधित हो वो संवेदना !

सूत्र की सार्थकता संवेदना जागृत करने में है तो संवेदना की सफलता स्मृति में सूत्रार्थ सजीवन हो उठे उसमें है। सूत्र शब्द से यहाँ गणधर भगवंतों द्वारा रचित आवश्यक सूत्र समझना है एवं संवेदना शब्द यहाँ भावधर्म रूप अभिप्रेत है। सूत्र को दूध सदृश समझें तो संवेदना को शक्कर समझ सकते हैं। सूत्र सुवर्ण की तरह है तो संवेदना सुवर्ण में सुगंध समान है। सार ये है कि, धर्मक्रियाओं की सफलता-सार्थकता भावधर्म के जागरण में है। भावधर्म का जागरण न हो या भावधर्म को जागृत करने की भावना भी न हो तो धर्म क्रिया का परम एवं चरम फल नहीं मिल सकता ।

धर्म की समग्र सृष्टि को ध्यान में रखते हुए यह तथ्य यदि हम प्रतिक्रमणादि आवश्यक क्रियाओं के संदर्भ में विचारें तो सूत्र के साथ संवेदना और संवेदना के साथ सूत्र का संबंध होने की अनिवार्यता समझे बिना न रहे। ऐसी समझ पैदा होने के बाद सूत्र एवं संवेदना के बीच सेतु बनकर दोनों का संधान बनाये, ऐसे कोई माध्यम की तरफ अपनी दृष्टि जाये बिना न रहे। **प्रतीक्षा के ऐसे पलों में जिसकी प्राप्ति से प्रसन्न-प्रसन्न हो जाये, ऐसा एक माध्यमरूप प्रकाशन है 'सूत्र संवेदना' ।**

सूत्र की तरह उसे ही आदर दे सकते हैं, जो सुप्त संवेदनाओं को जागृत करे एवं सच्ची संवेदना उसे ही मान सकते हैं, जिसका संबंध सूत्र के साथ हो। हृदय में इस प्रकार की हलचल जागृत करने में समर्थ इस पुस्तक को दिया गया नाम 'सूत्र संवेदना' असलीयत में बहुत ही सार्थक लगता है। अल्प समय में ही द्वितीय आवृत्ति (आज सूत्र संवेदना-१ की छट्ठी आवृत्ति एवं सूत्र संवेदना भाग-१ से ६ गुजराती प्रकाशित है। हिन्दी में भाग १ से ४ प्रकाशित है और ५-६ प्रकाशन-अधीन है) के इस पुनःप्रकाशन में विदुषी साध्वी प्रशमिताश्रीजी ने बहुत ही सुन्दर और सरल होते हुए भी सचोट

शैली में नवकार से लेकर सामायिक व्रत को स्वीकार करने के लिए आवश्यक सूत्रों का विवेचन किया है। यह विवेचन मात्र विवेचन न रहता हुआ ऐसा हृदयंगम बना है कि पढ़ते-पढ़ते वाचक को अपनी धर्म क्रियाओं को इस तरीके से मूल्य करने का मन हुए बिना नहीं रहता कि, मेरी क्रियाओं में धर्म आया है कि नहीं; ऐसे ही मेरी क्रियाएं धर्मरूप बनी हैं कि नहीं ? प्रस्तुत विवेचन की यह विशेषता अनोखी होने से आँखें टिकी रहे ऐसी बन पड़ी है।

सूत्र परिचय, मूल सूत्र, अन्वय सहित संस्कृत छाया एवं शब्दार्थ, जिज्ञासा-तृप्ति और सूत्रोच्चार के समय भाने योग्य भावना, इस क्रम से इसमें सामायिक सूत्रों का विवेचन हुआ है। विवेचन इतना संक्षिप्त भी नहीं कि लिखने-कहने जैसा कुछ रह जाय एवं इतना विस्तृत भी नहीं कि पढ़ते-पढ़ते विषयांतर होता हुए लगे !

सामायिक सूत्रों की इस विवेचना पर वाचन-मनन एवं चिंतन-मंथन हो, तो ऐसा लगे बिना न रहे कि स्वभाव में स्थिर रहना ही बहुत सहज, सरल एवं आसान है। यदि मुश्किल, कठिन एवं असहज हो तो वह विभाव में भटकना। सामायिक की सार्थकता ही स्वभाव को समझ लेने में है। यदि हम स्वभाव में लम्बे समय तक स्थिर नहीं रह सकते हों तो अपनी स्वस्थता ही मर गयी होती। इस बात को बराबर समझना हो, तो 'स्वभाव-विभाव' का स्वरूप सर्वप्रथम समझ लेना चाहिए।

पानी को नजर के सामने रखकर 'स्वभाव-विभाव' को समझने का प्रयत्न करें तो यह बात बड़ी सरलता से समझ में आ जायेगी। पानी का स्वभाव क्या ? कहना ही पड़ेगा, शीतलता। शीतलता पानी का स्वभाव है, इसीलिए पानी अधिक समय तक शीतल रह सकता है एवं शीतलता टिकाए रखने के लिए पानी को कोई खास मेहनत नहीं करनी पड़ती। उष्णता पानी का विभाव है। इसलिए उष्णता पाने के लिए पानी को मेहनत करनी पड़ती है। चुल्हे पर चढ़ाने पर ही उसमें गरमी आती है। इस गरमी को टिकाकर

रखना हो तो चुल्हे को गरम रखना जरूरी हो जाता है। मुश्किल से गरम हुआ पानी जैसे ही चुल्हे के संसर्ग से अलग होता है वैसे ही धीरे-धीरे पुनः शीतलता पाता जाता है। पानी को शीतल बनाने के लिए खास मेहनत नहीं करनी पड़ती, कारण कि शीतलता पानी का स्वभाव है। संक्षेप में, शीतलता पानी का स्वभाव होने से पानी बहुत दिनों तक शीतल रह सकता है। उष्णता पानी का विभाव होने से थोड़ी देर तक भी पानी को गरम रखना पड़े तो मेहनत करनी पड़ती है।

क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषाय-दोष आत्मा के साथ विभाव रूप से अनादिकाल से जुड़े होने पर भी इन दोषों का सतत सेवन नहीं हो सकता। क्योंकि ये विभाव हैं। वैसे ही क्षमा, नम्रता, सरलता, संतोष ये गुण स्वभाव रूप होने से इन गुणों की उपासना बहुत समय तक हो सकती है, क्योंकि यह आत्मा का स्वभाव है। आत्म-स्वभाव ऐसा होने पर भी अनादि के कुसंस्कार आत्मा को बहुत बार परघर अर्थात् विभाव दशा में खींच ले जाते हैं। इस खिंचाई के वश न होना एवं घर के घर में आकर मध्यस्थ भाव में स्थिर हो जाने का पुरुषार्थ करना, यही तो सामायिक है, इसी का नाम तो प्रतिक्रमण है।

आक्रमण एवं प्रतिक्रमण के बीच यही भेद है। प्रवाह में घसीटना, बहना आक्रमण है। इसमें जरा भी बल की आवश्यकता नहीं होती। कीडी जैसा जीव भी प्रवाह के साथ बह सकता है जब कि, विरुद्ध धारा में तैरने में तो पूरे पराक्रम की आवश्यकता रहती है। कुंजर जैसा जीव भी यदि पराक्रम का प्रयोग करे तो ही विरुद्ध धारा में तैर सकता है। इस अर्थ में सामायिक या प्रतिक्रमण आसान साधना नहीं मानी जाती, तो भी स्वभाव में रहनेवाली होने से ये साधना अशक्य भी नहीं मानी जाती।

'सूत्र संवेदना' का यदि बराबर अध्ययन-चिंतन-मनन हो, तो सामायिक-प्रतिक्रमण जैसी स्वभावभूत साधना में विरुद्ध धारा में तैरने जैसा पराक्रम अपेक्षित है, वैसे पराक्रम पर कम से कम प्रीति की जागृति हुए बिना नहीं

रहे। यही प्रीति पराक्रम की प्राप्ति करानेवाली बनकर अंत में 'परिणति' को पलटाए बिना नहीं रहती। 'सूत्र संवेदना' ऐसी फलश्रुति पैदा करने में खूब सफल सिद्ध बनें एवं इसमें पुण्यभागी विदुषी **साध्वीजी श्री प्रशमिताश्रीजी** सामायिक सूत्रों की तरह आवश्यक क्रिया के संपूर्ण सूत्रों पर की संवेदना को शब्द देह देने की कार्य-सिद्धि के शिखर पर शीघ्रताशीघ्र पहुँचे, ऐसी सर्वोत्तम कल्याण कामना।

सांचोरी जैन भवन, पालीताणा - **आचार्य विजयपूर्णचन्द्रसूरि**
ता. २१-१०-२००२,
आसो सुद पूर्णिमा, वि.सं. २०५८

पूज्य आचार्यश्री के आशीर्वचन से आज दो प्रतिक्रमण के सूत्रों पर की संवेदना को यत्किंचित् शब्ददेह देना मुमकिन हुआ है। पुनः पुनः ऐसे आशीर्वाद की अभिलाषा रहती है, जिससे पूज्यश्री द्वारा व्यक्त कल्याण कामना भी सिद्ध हो और हमारी क्रियाएँ जीवंत हो। - सं.

प्रवेशक

तत्त्व संवेदन - आराधना का एक आवश्यक

सूत्र संवेदना एक दृष्टि से विशिष्ट पुस्तक है। इतना ही नहीं, परन्तु अध्यात्म मार्ग के आराधक के लिए अति आवश्यक है । हमने पिछले जन्मों में आराधना की होगी जिसके प्रताप से यहाँ तक पहुँचे हैं एवं ऐसी पुस्तक पढ़ने के लिए तैयार हुए हैं। बाकी इस काल में ऐसा वाचन करने की प्रीति भी जीवों को भाग्य से ही होती है एवं जहाँ प्रीति न हो वहाँ प्रयत्न तो कहाँ से होगा ? शायद हम कितने जन्मों के आराधक रहे होंगे तो भी आज तक हम संसार में भटक रहे हैं और अपना ठिकाना बना नहीं - इसका एक कारण यह लगता है कि, हमने अधिकतर ओघ संज्ञा से आराधना की होगी। जितने भी जीव ओघ संज्ञा से आराधना मार्ग पर आगे बढ़े होंगे, वे ज्यादातर द्रव्य क्रिया पर ही अर्थात् कोरी क्रिया पर ही अटक गए होंगे। ये तो ऐसी बात हुई कि मोक्षमार्ग संबंधी कुछ सुना, उसको अच्छी तरह से समझा एवं उसके उपर यात्रा भी की; परन्तु कहीं कुछ चूक गए जिसके परिणाम स्वरूप लक्ष्य पर पहुँच नहीं सके एवं समग्र यात्रा केवल एक कवायत जैसी बन कर रह गई। हम कहाँ चूक गए एवं क्या चूक गए, वो बात एक तरीके से **साध्वीजी श्री प्रशमिताश्रीजी ने** इस पुस्तक में की है एवं आगे का मार्ग स्पष्ट किया है।

समग्र जैन धर्म के मूल में 'कर्म' की बात कही गई है । सकल कर्मों के क्षय बिना किसी का मोक्ष हुआ नहीं एवं होगा भी नहीं। हमारी आत्मा कर्मों से आवृत्त है। कर्मों से लदी हुई है एवं इन सभी कर्मों को काटे बिना वो परम ऐश्वर्य को कदापि प्राप्त नहीं कर सकती। इसलिए समग्र साधना का सार एक ही बात में आ गया है कि, किस तरह से कर्मक्षय कर सकते हैं? एवं तरह-तरह की साधना-आराधना करने के बाद भी हम आज तक क्यों सकल कर्मों का क्षय नहीं कर सके, ये बात भी सोचने जैसी है।

कर्मरहित होने के लिए जीव को द्विपक्षी व्यूह अपनाना पड़ता है। एक तो नए कर्मों को आने से रोकना एवं दूसरा पूर्ण तरह से न रोक सके तो कर्मों का आस्रव कम से कम हो वैसी व्यवस्था करना। दूसरी तरफ भवोभव से संचित कर्मों को आत्मा के ऊपर से झाड़ कर फेंक देना, जिसे निर्जरा कहते हैं। इन दोनों बातों को सिद्ध करने के लिए ही आराधना मार्ग बताया है एवं उसका विधि-विधान भी निश्चित किया गया है।

ये विधि-विधान अर्थात् सूत्र, जिनके सहारे आराधना करनी होती है। सूत्रों के रचयिता गणधर भगवंत हैं। वे सूत्र अपने सद्भाग्य से आज तक संभाल कर रखे गए हैं। इन सभी सूत्रों के आधार से सभी धर्म क्रियाएँ की जाती हैं, परन्तु बड़ी से बड़ी गलती ये है कि, **हमने अधिकतर इन सूत्रों का समझे बिना सिर्फ रटन किया है,** जिसके परिणाम से उनमें जितनी शक्ति उत्पन्न होनी चाहिए एवं जितने प्रमाण में होनी चाहिए उतनी होती नहीं। परिणाम स्वरूप विशेष कर्मक्षय नहीं होता। सूत्रों का रटन करने से जीव को लाभ होता है, परन्तु वो बहुत सामान्य होता है। जहाँ से करोड़ों मिले वहाँ से कौड़ियाँ लेकर वापस आये ऐसा लाभ (!) होता है।

यदि हम सूत्रों को समझकर भाव के साथ अपनी धर्मक्रियाएँ करें तो उन्हीं सूत्रों में से कल्पनातीत शक्ति उत्पन्न होती है जो थोकबंध कर्मों की निर्जरा कर सकती है। इसके अलावा भावपूर्वक बोले गए सूत्रों से नए आनेवाले कर्म रुकते हैं एवं पूर्ण संवर साधा जाता है। इसके अलावा, उस समय जिन कर्मों का आस्रव होता है, वह भी शुभ कर्मों का आस्रव होता है। सूत्रों में शब्द का महत्त्व है, परन्तु उससे भी अधिक गुणा महत्त्व उसके भावों में है। एक व्यवहारिक वंदन जैसी सामान्य क्रिया भी अगर भाव-विहीन हो तो उसके बोलनेवाले और करनेवाले पर कोई खास असर नहीं पड़ता जब कि, यहाँ तो बात है धर्म की आराधना की जिसमें हमें देव, गुरु एवं धर्म जैसे सर्व शक्तिमान तत्त्वों के साथ सम्पर्क साधना होता है। ऐसी कल्पनातीत शक्ति से सम्पन्न तत्त्वों का आविर्भाव हमें सूत्रों के सहारे करना

होता है। सूत्र शब्दों से बने हैं और शब्द अक्षरों से बने हैं। अक्षरों में अनंत शक्ति निहित होती है। परन्तु उसे हमें जगानी होती है एवं उसे जगाने के लिए हमें सूत्रों में प्राण भरने पड़ते हैं। **यह प्राण फूँकने की क्रिया अर्थात् सूत्र का संवेदन,** सूत्र का जब हमें संवेदन होता है, तब सूत्र सजीवन बन जाता है एवं उसके बाद उसमें से कल्पनातीत शक्ति का आविर्भाव होता है जो हममें रहे अनंत कर्मों को क्षय करने में सक्षम होती है।

विदुषी साध्वी श्री प्रशमिताश्रीजी ने 'सूत्र संवेदना' की बात करके आराधना मार्ग की एक अति महत्व की एवं आवश्यक बात की तरफ सभी आराधकों का ध्यान खींचा है। इतना ही नहीं, परंतु सूत्र संवेदना का पूरा मार्ग चित्रित किया है ताकि आराधक कहीं भूल न जाए एवं सरलता से मार्ग पकड़ कर मुक्ति के अंतिम मुकाम तक पहुँच सके। सूत्र की संवेदना के लिए भाव चाहिए। सूत्र का अर्थ जाने बिना भाव नहीं होता एवं शब्द का मर्म समझे बिना सूत्र का अर्थ समझ नहीं आता। इस प्रकार, सूत्र संवेदना कोई छोटी-मोटी बात नहीं। इसके लिए बहुत सारी पूर्व तैयारी एवं क्षमता का प्रयोग करना पड़ता है। हमारे यहाँ कहा जाता है कि 'श्री तीर्थंकर परमात्मा को एक ही नमस्कार अगर विधिपूर्वक किया जाए तो वह जीवों को संसार सागर पार कराने में समर्थ होता है।' इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है। परन्तु उसके पीछे रही हुई बात समझनी है। यहाँ 'सामर्थ्ययोग' से किए नमस्कार की अपेक्षा से यह फलवर्णन किया गया है । इच्छयोग व शास्त्रयोग की साधना जब संवेदना बनती है तब वह आगे जाकर सामर्थ्ययोग को प्रगटाती है । उसी तरह नमस्कार महामंत्र आदि सूत्रों भी समझें। यदि संवेदनापूर्वक नवकार महामंत्र की आराधना हुई हो तो ही वह एक नवकार इतना समर्थ-शक्तिशाली बन सकता है कि, जिससे जीव अनेक जन्मों से आत्मा पर लगे हुए कर्मों की निर्जरा करने में सक्षम बना रहता है।

पुस्तक में निरूपण किए हुए सूत्रों में से हम एक सूत्र-खमासमण सूत्र की बात करें। उसके विषय में चर्चा करते हुए साध्वीश्री बताती हैं कि, **'गुणवान के प्रति आदर ही गुण की प्राप्ति में विघ्न करनेवाले कर्मों का**

नाश करता है। अतः वंदन करनेवाले साधक के लिए ऐसा आदर ही गुण प्राप्ति का कारण बनता है ।'

अब अगर खमासमण बोलते समय क्षमादि विशिष्ट गुणवाले गुरु के प्रति आदर ही न हो एवं आदर बिना ही सूत्र को तोते की तरह रटा जाए तो वो गुण प्राप्ति के अवरोधक कर्मों का नाश करने के लिए सक्षम नहीं बनता एवं साधक यह सूत्र बोलकर कितनी ही बार खमासमण देते हुए भी खास लाभान्वित नहीं हो सकता।

साध्वीजी इसी सूत्र पर विवेचन करते हुए आगे लिखती हैं - 'हे क्षमाश्रमण !' इन शब्दों का प्रयोग करते ही क्षमादि दसों यतिधर्म का सेवन करते हुए विशिष्ट गुण संपन्न व्यक्ति को मैं इच्छापूर्वक वंदन करता हूँ', वैसा भाव उल्लसित होना चाहिए। जिससे साधक गुण के अभिमुख होता है एवं वंदन काल में उसके कषाय शांत होते हैं । फलतः वंदन करने से क्षमाभाव को रोकनेवाले कर्मों का भी नाश होता है।'

अब यदि इस सूत्र के बोलनेवाले व्यक्ति को क्षमादि दस गुणों का ख्याल ही न हो एवं उनके प्रति आदर ही न हो तो उसका मन ऐसे भावों से उल्लसित नहीं होगा एवं क्षमादि गुणों को आवृत्त करनेवाले कर्मों का खास क्षय भी नहीं होगा।

लेखिका इसी बात को आगे बढ़ाके कहती हैं - 'इच्छामि खमासमणो... बोलते हुए मोक्षमार्ग के उपकारी क्षमादि गुणयुक्त पुरुष हृदयस्थ हों, उनके प्रति हृदय में अत्यंत बहुमान हो एवं ऐसे गुण प्राप्त करने की इच्छा हो वैसी आत्मा को ही यह पद बोलते समय क्षमाभाव को रोकनेवाले कर्मों का नाश वगैरह उपर कहे हुए लाभ होने की संभावना है, अन्य को नहीं ।'

इस बात का मर्म या अर्थ यह होता है कि जो केवल भगती गाड़ी की तरह सूत्र बोलकर वंदन करता है, उसे वर्षों तक वंदन की क्रिया करने के बाद भी खास लाभ नहीं होता। इस सूत्र में आए हुए शब्दों का अर्थ समझे बिना उनके पीछे गर्भित गुणों का ख्याल नहीं आयेगा। गुणों का ख्याल आए

बिना उनके प्रति आदर भी कहाँ से होगा ? जहाँ आदर ही न हो वहाँ भावोल्लास की बात ही कहाँ रही ? भावोल्लास बिना तत्त्व संवेदन नहीं एवं तत्त्व संवेदन बिना क्रिया केवल द्रव्य-क्रिया बनकर रह जाती है। ऐसी भाव-विहीन क्रिया या सूत्र का तोता रटन या जप कर्मों की कितनी निर्जरा कर सके एवं गुण प्राप्ति में कितना सहायक हो सकता है ?

साध्वी प्रशमिताश्रीजी उनके लेख में प्रथम प्रत्येक सूत्र का परिचय कराती हैं, बाद में मूल सूत्र बताती हैं, उसके बाद सूत्र का अन्वय, छाया और शब्दार्थ करती हैं। इसके बाद उसका विशेष अर्थ करती हैं। उसमें वे उससे संबंधित बहुत सी बातों का संदर्भ देती हैं जिससे वाचक आराधक सूत्र को, उसके शब्दार्थ को एवं विशेषार्थ को समझ सके। इस प्रकार भावित आराधक यदि सूत्र बोलकर पूरी क्रिया करे एवं उसके साथ उसका तत्त्व संवेदन करता जाए तो ही पूरी क्रिया अमृत क्रिया बनती है। परिणाम स्वरूप साधक को गुणप्राप्ति होती है एवं अनंत निर्जरा का लाभ मिलता है।

बात का सार इतना ही है कि तत्त्व संवेदन बिना की हुई क्रियाओं का फल सामान्य एवं अल्प होता है। इसलिए हमें तत्त्व संवेदन की बात को जरा स्पष्ट कर लेना चाहिए। संवेदन को तो अधिकतर लोग समझते हैं एवं पल-पल अनुभव करते हैं। संवेदना चेतना का, जीव का गुण है। जड़ को संवेदन नहीं होता। जीव मात्र सानुकूल परिस्थिति में सुखद संवेदन अनुभव करता है एवं प्रतिकूल विषयों में या संयोगों में दुःख की अनुभूति करता है। तभी तो प्रत्येक जीव सानुकूल संवेदन मिले तो उसकी तरफ जाता है एवं प्रतिकूल संवेदन से दूर रहना चाहता है। जीव की संवेदन की यह परिणति राग और द्वेष के घर की होती है। जीव जहाँ तक बहिरात्मा दशा में होता है, वहाँ तक उसे रागवाले विषयों में सुख का संवेदन होता है एवं द्वेषवाले विषयों के प्रति दुःख का संवेदन होता है।

जीव जब अन्तरात्म दशा में आता है या आने की तैयारी में होता है तब उसे इन्द्रियों के विषयों का संवेदन इतना सुखद या दुःखद नहीं लगता। राग

द्वेष के भाव कमजोर होते हुए जीव की वीतराग चेतना सचेत होती है एवं ऐसी चेतना जो संवेदन करती है, वह तत्त्व संवेदन होता है। तत्त्व संवेदन कषाय रहित होता है। आत्मा के गुणों की बात आने पर या उसके प्रकटीकरण के समय जीव जो संवेदन अनुभव करता है, वो कर्मों की बहु निर्जरा एवं सबल संवर का कारण बन सकता है। उस समय जीव यदि किसी कर्म का आश्रव करता है, तो ज्यादातर पुण्यानुबंधी पुण्य कर्म का ही होता है।

अपने प्रत्येक सूत्र के उच्चारण के साथ क्रिया करते समय यदि आराधक ऐसा तत्त्व संवेदन करता रहे तो शीघ्रातिशीघ्र मोक्षमार्ग पर आगे बढ़ता जाए। जीव जब संपूर्णतया वीतराग अवस्था को प्राप्त करता है, उसके बाद वो जो संवेदन अनुभव करता है उसमें कोई भाव नहीं होता। उसमें तो केवल अस्तित्व का आनंद होता है। पर ये बात तो अन्तिम परमात्म दशा की है।

अपना समग्र अध्यात्म मार्ग बहिरात्म दशा में से अंतरात्म दशा में आने के लिए है एवं तत्त्व संवेदन करते-करते एकदम वीतराग अवस्था-शुद्ध अवस्था तक पहुँचने के लिए है। यह मार्ग तत्त्व संवेदन सहित सूत्रार्थ एवं क्रिया द्वारा पार किया जा सकता है। इसलिए सूत्र संवेदना का अति महत्त्व है। तत्त्व संवेदन बिना की हुई अपनी सारी धर्मक्रियाएँ निष्प्राण द्रव्यक्रियाएँ ही बनी रहती हैं एवं सकल कर्मों का क्षय कर सके ऐसी ऊर्जा उससे उत्पन्न हो नहीं सकती।

अपनी प्रत्येक धर्म क्रिया के साथ संलग्न हुए सूत्रों का यदि हम अर्थ समझकर, विधिवत् उच्चारण करें एवं उनके साथ अपना भावोल्लास जाग्रत होता जाए एवं वह क्षणिक नहीं रहते हुए, लंबे समय तक टिका रहे तथा इसके अतिरिक्त उसकी परंपरा बनी रहे उस तरह प्रयत्न करें तो तत्त्व संवेदन स्थिर हो एवं ऐसा तत्त्व संवेदन आत्मा को मुक्तिधाम तक पहुँचाए बिना ना रहे। **साध्वी श्री प्रशमिताश्रीजी** ने इस लक्ष्य को ध्यान में रखकर 'सूत्र संवेदना' लिखने का भगीरथ कार्य हाथ में लिया है एवं उसके परिणाम

स्वरूप उसका प्रथम भाग प्रकाशित हो रहा है। इसमें नमुस्कार महामंत्र से सामाइय वयजुत्तो तक के ग्यारह सूत्रों का समावेश किया है एवं प्रत्येक सूत्र का विशद् विवेचन किया गया है। (आज सूत्र संवेदना भाग १ से ६ प्रकाशित हो चूके हैं एवं हिन्दी में भाग १ से ४ प्रकाशित हो रहे हैं। भाग ५-६ प्रकाशन अधीन हैं। अल्प समय में भाग १ से ७ हिन्दी में उपलब्ध बनाने की भावना है।)

आराधक यदि प्रत्येक सूत्र को ठीक-ठीक समझकर तत्त्व संवेदन सहित प्रत्येक क्रिया करता जाए तो मोक्ष उससे अधिक भवों तक दूर नहीं रहे। शायद ऐसे आराधकों का वर्ग मर्यादित रहे, परन्तु आखिर तो मुमुक्षु जीवों को ध्यान में रखकर ही **'सूत्र संवेदना'** पर लिखा गया है एवं लिखा जा रहा है। इसलिए इसके संबंध में अधिक चिंता करने की आवश्यकता नहीं । सभी आराधकों के लिए अति उपकारक हो उस प्रकार इस पुस्तक का सर्जन करके साध्वी श्री प्रशमिताश्रीजी ने अनेक मुमुक्षु जीवों के लिए आराधना मार्ग स्पष्ट एवं सुलभ कर दिया है। उनकी इस मार्ग की अनुमोदना करने का मुझे इस प्रकार जो मौका मिला है, उसका मुझे आनंद है। इस ज्ञानधारा का सातत्य बना रहे एवं उसका लाभ लेकर अनेक जीव मिले हुए मनुष्य भव को उत्तम तरीके से उपयोग कर पाएँ वैसी प्रार्थना के साथ मैं विराम लेता हूँ ।

'सुहास' ६४, जैननगर — चन्द्रहास त्रिवेदी
पालडी, अमदाबाद-३८०००७ — ता. ३०-११-२०००

- श्री चन्द्रहास त्रिवेदी गुजरात के एक अग्रगण्य लेखक हैं। जन्म से ब्राह्मण होते हुए भी आपने जैन दर्शन का विशद् अभ्यास किया है। दर्शन शास्त्र, सामाजिक परिस्थिति, जैनधर्म, काल्पनिक नवलकथा इत्यादि विभिन्न विषयों पर आपका वर्चस्व है। सूत्र संवेदना श्रेणी का परिशीलन करना आपका प्रिय विषय रहा है। - सं.

संकलनकारिका का निवेदन

'पंचमकाल जिनबिंब जिनागम भवियण को आधारा'

अच्छे काल में योग्य आत्माओं के पास मोक्ष पाने के अनेकों साधन होते हैं। परन्तु पांचवें आरे जैसे विषम काल में भव्य प्राणियों को तैरने के साधन मात्र जिन बिंब एवं जिनागम हैं।

जिनागम इतने विस्तृत प्रमाण में हैं कि, उन्हें सर्वांगीण समझने की शक्ति सामान्य इन्सान की नहीं होती। इसलिए सामान्य मानव भी अपना आत्मकल्याण साध सके इस हेतु से आगमों के सार को ग्रहण करके पूर्व पुरुषों ने प्राकृत भाषा में अनेक सूत्रों की रचना की है। ये सूत्र अपेक्षा से छोटे एवं भावपूर्ण होने से सब कोई इन सूत्रों को पढ़कर अपना आत्म-कल्याण साध सकते हैं।

प्रमाण में छोटे होने पर भी इन एक-एक सूत्रों में मोक्ष साधना के रहस्य ठूस-ठूस के भरे हैं। एक-एक सूत्र में हेयभूत आश्रव के भावों का त्याग कराकर मोक्षमार्ग के लिए उपयोगी ऐसे संवरभाव को प्राप्त करवाने की एवं जड के प्रति प्रीति को तोड़कर समग्र जीवराशि के उपर वास्तविक मैत्री भाव पैदा करानेवाली अनुपम शक्ति देखने को मिलती है। अरिहंतादि उत्तम तत्त्वों का शरण, दुष्कृत गर्हा एवं सुकृत की अनुमोदना द्वारा कर्म के अशुभ अनुबंधों को तुड़वाकर उत्तरोत्तर गुणवृद्धि द्वारा मोक्ष तक ले जाने का अनुपम सामर्थ्य इन सूत्रों में भरा है।

इन सूत्रों के माध्यम से ही आफतों में से उभरकर आत्मकल्याण के मार्ग पर आगे बढ़नेवाले सुदर्शन सेठ, अमरकुमार, सती श्रीमती आदि के अनेक प्रसंग शास्त्र में देखने को मिलते हैं। 'दगमट्टी' इतने छोटे पद का चिंतन करते हुए अपने किये हुए दुष्कृतों की आलोचना करते हुए अइमुत्ता मुनि को केवलज्ञान हुआ एवं 'उपशम, विवेक एवं संवर' - इन तीन पद की अनुप्रेक्षा करते-करते चिलातीपुत्र कषाय का त्याग करके, विवेक भाव को

प्राप्त करके, सर्व संवरभाव को धारण करके मुक्तिपथ के पथिक बने।

जिन सूत्रों के एक-एक पद में ऐसी अचिंत्य शक्ति है, ऐसे ही सूत्र हम सब को भी मिले हैं एवं उन सूत्रों का उपयोग हम रोजाना की धर्म क्रिया में करते हैं। ऐसा होने पर भी इन सूत्रों द्वारा जिस प्रकार का लाभ होना चाहिए वैसा लाभ वर्तमान के आराधक वर्ग में देखने को नहीं मिलता। इसका मूल कारण यह है कि, क्रिया में प्रयोग होनेवाले सूत्रों के भावों को स्पर्श करके जिस प्रकार के भाव से क्रिया होनी चाहिए वैसी भाव क्रिया अब होती नहीं। भावक्रिया तो नहीं होती, परन्तु भाव का कारण बने वैसी प्रधान द्रव्य क्रिया भी अब बहुत से नहीं कर सकते।

भाव का कारण बने वैसी द्रव्य क्रिया को शास्त्रकार 'प्रधान द्रव्य क्रिया' कहते हैं। जब कि, भाव का कारण न बने वैसी द्रव्यक्रिया को अप्रधान द्रव्यक्रिया कहा गया है । 'उपदेश रहस्य' नामक ग्रंथ में महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने प्रधान द्रव्य क्रिया के चार लक्षण बताये हैं। उनमें पहला है -

1. **'तदर्थालोचन'** - क्रिया में आनेवाले सूत्रों के अर्थ का इस तरह गंभीरता से विचार करना कि जिससे सूत्र में रहे हुए भावों को बुद्धि से समझ सकें। समझने के बाद उनको हृदय से स्वीकार करके उन भावों से अंतर को भावित कर सकें।

2. दूसरा लक्षण है - **'गुणानुराग'** - सूत्र के अर्थ का जैसे-जैसे बोध हो, सूत्र के माध्यम से आत्मिक भावों का जैसे-जैसे उत्थान हो, वैसे-वैसे सूत्र, सूत्र का अर्थ एवं सूत्र के उपदेशक अरिहंत भगवंत एवं सूत्र के रचयिता गणधर भगवंतों के ऊपर तीव्र राग उत्पन्न होता है। यह सूत्र एवं सूत्र को बतानेवाले अरिहंत भगवंत एवं सूत्र के रचयिता गणधर भगवंत ही वास्तविकता से आत्मिक हित करनेवाले हैं। इस प्रकार उनके प्रति अत्यंत बहुमान पैदा होता है।

3. तीसरा लक्षण है **'अप्राप्तपूर्व का हर्ष'** - सूत्र एवं सूत्र बतानेवाले अरिहंतादि के प्रति अत्यंत अनुराग होने के कारण साधक को होता है कि,

अनादिकाल से भटकते हुए मेरे जैसे दरिद्र जीव को महानिधान तुल्य इस अनुष्ठान को करने का यह अभूतपूर्व सद्भाग्य वर्तमान काल में मिलने पर सच में मैं कृतार्थ बना हूँ। इस प्रकार की प्रशंसा से प्रमोद का परिणाम पैदा होता है।

4. चौथा लक्षण है - **'विधि भंग से भव का भय'** - जिसके प्रति प्रीति या भक्ति का परिणाम पैदा होता है, उसके वचन का विधिपूर्वक पालन करने की इच्छा हो वह तो सहज है एवं अविधि से करने से ये वस्तु नहीं मिलेगी ऐसी सच्ची समझ होने के कारण अविधि का भय भी सतत रहता है, उसी प्रकार यहाँ भी कभी प्रमादादि के कारण विधिमार्ग का उल्लंघन हो, तब 'अरे रे ! इससे तो मेरा संसार घटने के बदले बढ़ सकता है । यह उत्तम क्रिया मुझे दुबारा नहीं मिलेगी तो बादमें भव अटवी में से बाहर निकलने के लिए फिर कभी मौका नहीं मिलेगा ।' ऐसा भय रहता है। ऐसे भय के कारण भी साधक अति सावधानीपूर्वक क्रिया काल में सूत्रों का विचार करता है । ऐसी जागृति होनी ही तदर्थालोचन का फल है।

सूत्रों के माध्यम से की जानेवाली अपनी क्रिया भावक्रिया स्वरूप बननी चाहिए। जब तक यह क्रिया भाव क्रिया न बने तब तक प्रधान कोटि की द्रव्य क्रिया तो बननी ही चाहिए। इस क्रिया को प्रधान कोटी की द्रव्य क्रिया बनाने के लिए कई वस्तुओं का ज्ञान जरुरी है, जिस में सूत्रार्थ का ज्ञान अत्यंत जरूरी है। सूत्रों का अर्थ सामान्य से समझने के बाद उसके ऊपर गहन चिंतन किया जाए, एक-एक शब्द के उपर अनुप्रेक्षा की जाए एवं चिंतन, मनन एवं ध्यान द्वारा उन सूत्रों से आत्मा को जब भावित बनाई जाए तब ही की हुई क्रिया भावक्रिया बन सकती है।

सभी क्रियाओं को भावपूर्ण बनाने के लिए ही यह सूत्रार्थ लिखने का प्रयास किया गया है। यद्यपि पूर्वधर पुरुषों ने आवश्यक सूत्रों के उपर पंचांगी की रचना की है और आज तक पंच प्रतिक्रमण के सूत्रों के उपर अनेक गीतार्थ गुरु भगवंतों ने और विद्वान श्रावकों ने अपअपने क्षयोपशम अनुसार प्रकाश डाला

है। तो भी भावात्मक रूप से सूत्र के अर्थ को अगर लिखा जाए तो आज कल के बालजीवों के विशेष उपकार का कारण बन सके वैसे उद्देश्य से ही शब्दार्थ मात्र पर लक्ष्य न रखते हुए वे वे शब्द, पद या सूत्र बोलते समय हृदय में कैसे भाव होने चाहिए, उस बात पर महत्त्व देकर इस पुस्तक का लेखन शुरु किया और उस बात पर पुस्तक में बहुत बल भी दिया गया। इसके अतिरिक्त आवश्यक निर्युक्ति आदि ग्रंथों में एक-एक शब्द के अनेक अर्थ, नय, निक्षेपादि किए हैं, तो भी आज के जीव सामान्य से जितने भावों का स्फूरण कर सकें उतने ही मुख्य अर्थ यहाँ लिए गए हैं।

यह किसी साहित्यकार की कृति नहीं या किसी विद्वान द्वारा बनाई हुई पुस्तक नहीं। इस पुस्तक में लिखे गए भाव तो शास्त्र के आधार से सद्-अनुष्ठान करने के लिए यत्न करते हुए एक साधक का शास्त्र सम्मत भाव ही है। इन भावों का स्रोत सामान्य जन के लिए भी उपकारी बन सके उस आशय से ही उसे पुस्तक का रूप दिया गया है।

अर्थ का निर्णय करने के लिए बहुत से संस्कृत, प्राकृत, ग्रंथों एवं गुजराती विवेचनों को ध्यान में लिया है तथा सुश्रावक श्री प्रवीणभाई मोता की सहायता भी ली है। बहुत सी जगह जहाँ सीधे शास्त्र वचन उपलब्ध नहीं हुए वहाँ स्व-क्षयोपशम के अनुसार भी अर्थ किया है। ऐसे स्थानों पर 'मुझे ऐसा लगता है' ऐसा उल्लेख किया है।

'सूत्र संवेदना' को पढ़ते हुए सामान्य अर्थ तो प्राप्त होगा ही; परन्तु बहुत सी जगह विशेष विचारणीय अनेक दिशाएँ खुलेंगी। इसके अलावा, अनुप्रेक्षा करते करते अनेक शंकाओं का समाधान होगा। इसके अतिरिक्त अनेक नई जिज्ञासाएँ भी प्रकट होंगी। कहीं-कहीं थोड़ी गहनता भी देखने को मिलेगी। परन्तु विशेष अभ्यासी के लिए तो वो दिशा सूचक मात्र ही रहेगी।

इस पुस्तक में मुख्यतया ये बताया गया है कि कौन-कौन से सूत्र बोलते समय किन-किन भावनाओं से हृदय को भावित करना चाहिए, क्योंकि इस लेखनी का मुख्य उद्देश्य यही है कि, सूत्रार्थ पढ़ने द्वारा योग्य आत्माएँ उन-

उन सूत्रों के भावों को हृदय में स्थिर करके, उन-उन भावों से आत्मा को भावित करके, भावपूर्वक क्रिया कर सके। इसलिए प्रत्येक सूत्र या पद को बोलते समय कैसा भाव उल्लसित करना चाहिए वह खास बताया है। शब्द और भाषा की मर्यादा होने से हृदय के बहुत से भाव लेखनी में प्रेषित नहीं हो सके, तो भी यथाशक्ति प्रयत्न किया है।

इसमें प्रकट हुए सूत्र के सभी भावों में शास्त्र का आधार निश्चय ही रखा गया है। यथाशक्ति सर्वयत्न के बावजूद अज्ञान, प्रमाद या अभिव्यक्ति की मर्यादा के कारण इसमें परमात्मा की आज्ञा के विरुद्ध एवं सूत्रकार एवं अर्थकार महर्षियों के आशय विरुद्ध जो कुछ लिखा हो, उसके लिए मैं मिथ्या दुष्कृत चाहती हूँ एवं गुणग्राही बहुश्रुतों से अंतर से प्रार्थना करती हूँ कि वे मेरी क्षति को बताएँ जिससे पुनः उसमें सुधार हो सके।

मैं जानती हूँ कि क्षयोपशम भाव के कारण संपूर्ण क्षतिमुक्त एवं सर्वस्पर्शी कथन नहीं हो सका है तो भी देवगुरु की कृपा से स्व-परिणति की निर्मलता के लिए किया गया ये प्रयास सभी के आत्मलाभ का कारण बने, यही अंतरेच्छा ।

लि. सा. प्रशमिताश्री
मगसर सुद ११, वि.सं. २०५७
हस्तगिरि महातीर्थ

वि.सं. २०५७ की साल में सु. **सरलाबहेन** के आग्रह से यह लेखन कार्य शुरु किया था। आज देव-गुरु की कृपा से सूत्र संवेदना का वाचक वर्ग काफी विस्तृत हुआ है। गुर्जर भाषा की छट्ठी आवृत्ति प्रकाशित हो रही है।

इस हिन्दी आवृत्ति की नींव है - **सुविनित ज्ञानानंदी सरलभाषी स्व.सा. विनीतप्रज्ञाश्रीजी,** जो खरतरगच्छिया विदुषी **सा. हेमप्रभाश्रीजी** म. की शिष्या है ।

उन्होंने वि.सं. २०६३ की साल में मुझे आत्मीयता से निवेदन किया था कि सूत्र संवेदना साधना का एक आवश्यक अंग है। अतः वह सिर्फ

गुजराती भाषा के वाचक वर्ग तक सीमित न रहकर हिन्दी भाषी जिज्ञासु साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका के लिए भी उपयोग में आए, इसलिए उसका हिन्दी भावानुवाद करना आवश्यक है। मैंने उन्हें बताया कि मुझे हिन्दी का अनुभव नहीं है, तो उन्होंने तुरंत विनती की कि, मुझे इस पुस्तक का भावानुवाद करने का लाभ दीजिए। इससे अनेक साधकों के लिए साधना मार्ग सरल बनेगा, यह सोचकर मैंने उनकी विनती को सहर्ष स्वीकार किया।

थोड़े ही समय बाद एक दुर्भाग्यपूर्ण दिन उनके गुरुवर्या सा. श्री **हेमप्रभाश्रीजी** के साथ उनका भी एक अकस्मात दुर्घटना में यकायक कालधर्म हो गया। पर मानो कि उनकी परोक्ष मदद न हो वैसे डॉ. श्री ज्ञानचंद जैन ने अनुवाद का कार्य हाथ पर लिया।

आज डॉ. श्री ज्ञानचंद जैन, डॉ. श्रीमती शिल्पा शाह, डॉ. श्री दीनानाथ शर्मा एवं अनेक जिज्ञासु साध्वीजी भगवंतों के योगदान से सूत्र संवेदना भाग १ से ६ हिन्दी में भी प्रकाशित हो रहे हैं।

वाचक वर्ग इस पुस्तक द्वारा अपनी धर्म क्रिया को भावक्रिया बनाने में सफल बने ऐसी शुभाभिलाषा व्यक्त करती हूँ । सूत्र संवेदना की संवेदना के मूलरूप दीक्षायुग प्रवर्तक **परम पूज्य आचार्य भगवंत श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा** के दीक्षा शताब्दी वर्ष में यह प्रकाशन होने जा रहा है, यही भी आनन्दप्रद है ।

लि. सा. प्रशमिताश्री
भादरवा सुद-१४
वि.सं. २०६८
- अहमदावाद

गुर्जर भाषा में प्रकाशित प्रथम आवृत्ति के प्रकाशक के हृदय की बात....

संसार की विषम परिस्थितियों में से गुजरते हुए दुःखमय संसार की असारता तो अपने आप समझ में आ जाती है, परन्तु पुण्योदय से जब सद्गुरु का योग होता है तब ही सुखमय संसार भी असार है, ये बात गंभीरता से समझी जाती है। हमारे कोई उत्कृष्ट पुण्योदय से जैन शासन सिरताज तपागच्छाधिराज परम पूज्य **आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचंद्र-सूरीश्वरजी महाराज** का सुयोग मिला। उनकी अमृतमय वाणी का पान करते हुए समझ में आया कि संसार का सुख मिथ्या है एवं निरंतर सुख तो मोक्ष में ही है और मोक्ष की प्राप्ति शास्त्रानुसारी प्रवृत्ति से ही होती है।

इस कारण से ही शास्त्राभ्यास करने का मन बहुत बार होता था। परन्तु प्रमादादि के कारण से साकार नहीं हो सका। एक बार देव-गुरु की परम कृपा से अनायास प्राप्त हुए शुभ मुहूर्त में **परम विदुषी चंद्राननाश्रीजी महाराज साहेब** का सुयोग प्राप्त हुआ। प्रथम दर्शन से ही शास्त्राभ्यास करने की सुषुप्त इच्छा जागृत हुई। हृदय की बात होठों पर आ गई। वात्सल्य की साक्षात् मूर्ति ऐसी उन्होंने मेरी भूमिका का विचार करके मुझे 'जय वीयराय' सूत्र का अर्थ करवाने की शुरुआत की। पहले दिन ही मैं धन्य हो गई। अभ्यास चालू रखने का संकल्प किया। उनकी अस्वस्थता के कारण मेरा पाठ उन्होंने परम **पूज्य सा. प्रशमिताश्रीजी महाराज** को सौंपा और कई श्राविकाओं के संग हमारा नियमित अभ्यास शुरु हुआ।

उस समय मेरी उम्र के चालीस वर्ष बीत गये थे। धर्म करने का समय जैसे बहता जा रहा था। मेरी एवं मेरे साथ अभ्यास के लिए आती मेरी बेटियाँ तथा दूसरी जिज्ञासु बहनों के बीच उम्र की दृष्टि से विषमता होते हुए भी साक्षात् गणधर भगवान की वाणी का मर्म पूज्यश्री इतनी सूक्ष्मता एवं सरलता से समझाते थे कि उम्र, संस्कार एवं क्षयोपशम की मर्यादा को

उलांघ कर, सबको कोई अनोखी एवं अद्‌भुत समझ प्राप्त होने की अनुभूति होने लगी ।

अति अल्पमति से भी जब हम सूत्रार्थ का श्रवण करते तब अरिहंत का स्वरूप, उनके गुण, उनके योग का ऐश्वर्य एवं सब से अधिक तो उनकी करुणा का हूबहू चित्र हमारे मानसपट पर तैयार होता गया।

सूत्रार्थ का अभ्यास कराते-कराते उन्होंने हमें जीवन जीने कि दिशा बताई **'पंच परमेष्ठि मात्र हमारे उपकारी हैं इतना ही नहीं; परन्तु यह अवस्था ही हमारा ध्येय है'** ऐसा निर्णय कराया एवं उसके लिए पंचाचार का पालन ही सुख का मार्ग है ऐसी प्रतीति होने लगी। अरिहंतादि का वर्णन सुनते ही रागद्वेषादि अंतरगशत्रु की पहचान हुई। शत्रुओं की शत्रुता कैसी है ये समझ में आया। आत्मा, पुण्य, पाप एवं परलोक के प्रति आस्था बढ़ती गई। आत्मभाव पाने के लिए एवं परलोक सुधारने के लिए क्या करना चाहिए, उसका उपाय मानसपट पर थोड़ा-थोड़ा उपस्थित होने लगा।

आर्यदेश के संस्कारी कुटुंब में गृहिणी का जीवन गुजारते या कर्माधीन बन कर व्यापार करते हुए जो विचारशक्ति नहीं खिली थी, वैसी विचारकता इस सूत्रार्थ पढ़ते हुए खिलने लगी। अनादि-अनंतकाल तक भटकते हमारी क्या हालत होगी ये जानकर जो बेचैनी होने लगी उसके सामने अपनी रोज-रोज की आर्थिक, सामाजिक या पारिवारिक परेशानी की कोई कीमत नहीं लगी। साध्वीजी भगवंत से गणधर भगवंत की वाणी सुनते हुए वास्तविकता का भान होने पर ऐसी चिंता होने लगी कि अपना क्या होगा ? तब करुणापरायण गुरुदेव ने कहा, 'भले आप विशिष्ट तप-जप न कर सकें, यदि बोध एवं श्रद्धापूर्वक मात्र आवश्यक क्रिया करोगे तो भी आप मार्ग पर जल्दी से आगे बढ़ सकोगे ।'

मोक्ष मार्ग पर चलने के लिए ही पू.साध्वीजी भगवंत ने हमें अर्थ करवाया था। आपश्री ने सूत्रार्थ का ज्ञान मात्र शब्द से ही नहीं करवायाँ, अर्थ का ज्ञान मात्र जानकारी के लिए ही नहीं दिया, परन्तु आवश्यक क्रिया

द्वारा आत्मा को कैसी निर्मल बनानी चाहिए वह सिखाने के लिए दिया था। वे हमेशा कहती थी कि इन सूत्रार्थ के ज्ञान के द्वारा तुम्हें क्रिया करते हुए कैसे भाव करना, कैसी संवेदनाओं का अनुभव करना, यह खास समझना है। उनका लक्ष्य हमेशा क्रिया को आत्मलक्षी बनाने का रहता। क्रिया के पूर्व आत्मशुद्धि या मोक्षप्राप्ति का प्रणिधान हो तो ही क्रिया सुयोग्य बने - ऐसा वे बारबार कहती थी।

चिंताओं का समाधान सामने था, परन्तु क्षयोपशम की अल्पता के कारण मुझे तो बहुत चिंता होती थी कि मैं इस अर्थ को किस प्रकार स्मृति में रखूँ एवं इसे क्रिया करते समय किस तरह से प्रेषित करूँ ? इसलिए साहेब से विनंती की कि, आप इस अर्थ का भावपूर्ण लेखन कर दीजिए तो हम इसका बारबार पठन-मनन कर सकें एवं उसके आधार से हमारा प्रयत्न भी थोड़ा सफल बन सके ।

कृपालु गुरुदेव ने हमारी विनती स्वीकार करके लेख तैयार कर दिया। आपने जितनी मेहनत करके लेख तैयार किया, उतनी या उससे अधिक मेहनत यदि हम धर्म क्रिया में करें तो थोड़ा-सा ऋणमुक्त हो सकते हैं। इसके अलावा ऋणमुक्ति का अन्य उपाय नहीं मालूम।

प्रत्यक्ष में जितना मिला है, उसके सामने लेखनी से प्राप्त हुआ ज्ञान अत्यंत अल्प है, तो भी यह ज्ञान बहुतों को सत्क्रिया में उपयोगी बनेगा, ऐसा विचारकर ही मैंने यह लेखन प्रकाशित करवाने का निर्णय लिया है। इस प्रकाशन के माध्यम से जो ज्ञान मुझे मिला है, वह ज्ञान अनेक तत्त्व-जिज्ञासु आत्माओं तक पहुँचे एवं वे इसका बहुत लाभ लें यही अंतर की इच्छा है।

आप सब तक इस लेखन को पुस्तकाकार में पहुँचाने के लिए अनेक पुण्यात्माओं ने अलग-अलग तरीके से मेहनत की है।

पू.सा.श्री **चन्दनबालाश्रीजी** म.सा.ने अस्वस्थ होते हुए भी बहुत समय देकर प्रूफ रीडिंग का कार्य किया है, इसके लिए मैं उनकी ऋणी हूँ।

श्री प्रवीणभाई, श्री मयंकभाई, श्री अश्विनभाई तथा साहेबजी से पढ़ते अनेक साध्वीजी भगवंत एवं बहनों का सराहनीय योगदान है। उन सब की भी मैं आभारी हूँ।

इस प्रस्तुक को पढ़कर आपको यदि ये अनुभव हो कि पुस्तक में किसी भी प्रकार की कमी हो या इस पुस्तक को और अधिक सुलभ बनाने के लिए कोई भी सुझाव हो तो कृपा करके बताइयेगा।

'ऋषि किरण', १२, प्रकृतिकुंज सोसायटी,
श्रेयस स्कूल के पास, अमदावाद-१५
फोन : ०७९-२६६२०९२०

प्रकाशिका -
सरलाबेन किरणभाई शाह
पोष वद-१०, वि.सं. २०५७

ग्रंथ	विषय	सूत्र क्रम
सूत्र संवेदना-१	सामायिक के सूत्र	१-११
सूत्र संवेदना-२	चैत्यवंदनना के सूत्र	१२-२५
सूत्र संवेदना-३	प्रतिक्रमण के सूत्र	२६-२२
सूत्र संवेदना-४	वंदित्तु सूत्र	३३
सूत्र संवेदना-५	आयरिय उवज्झाएथी सकलतीर्थ सुधी के सूत्र	३४-४७
सूत्र संवेदना-६	मन्नहजिणाणंनी सज्झाय, संतीकरं पौषध के सूत्र, प्रतिक्रमण के हेतु	
सूत्र संवेदना-७	पांच प्रतिक्रमण के सूत्र	

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय	पृष्ठ नं.
१.	**नमस्कार महामंत्र**	**१-५८**
	* सूत्र परिचय	१
	* नवकार मंत्र मूल	४
	* अन्वय छाया और शब्दार्थ	५
	* **'नमो अरिहंताणं' पद का विशेषार्थ**	**६-२३**
	* नमो शब्द का अर्थ	६-९
	* नमो शब्द प्रार्थना सूचक	७
	* भाव नमस्कार का उपाय	९
	* अरिहंत का स्वरूप	११
	* अरिहंत का महत्त्व	१२
	* अरिहंत के बारह गुण	१४
	* चार अतिशय	१४
	* अष्ट महाप्रातिहार्य	१५
	* अरिहंत का उपकार	१७
	* अरिहंत शब्द के अलग	
	* अलग अर्थ	१८
	* अरिहंत का ध्यान किस	
	* वर्ण से ओर क्यों	२२
	* नमो अरिहंताणं **बोलते समय** करने योग्य भावना	२२
	* **"नमो सिद्धाणं" पद का विशेषार्थ**	**२३-३३**
	* सिद्ध के आठ गुणों का वर्णन	२४
	* सिद्धात्मा के सुख का वर्णन	२५
	* सिद्धों का स्थान	२८
	* सिद्ध जीवों की संख्या	३०
	* 'सिद्ध' शब्द के भिन्न भिन्न अर्थ	३०
	* सिद्ध पहले या अरिहंत ?	३१
	* सिद्ध का ध्यान किस वर्ण से और क्यों ?	३२
	* नमो सिद्धाणं **बोलते समय** करने योग्य भावना	३२
	* **'नमो आयरियाणं' पद का विशेषार्थ**	**३३**
	* आचार्य के छत्तीस गुण	३४
	* आचार्य के दो प्रकार	३४
	* आगम आधारित भावाचार्य का स्वरूप	३५
	* आचार्य शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ	३७
	* आचार्य का ध्यान किस वर्ण से और क्यों ?	३७
	* 'नमो आयरियाणं' पद बोलते समय करने योग्य भावना	३८
	* **'नमो उवज्झायाणं' पद का विशेषार्थ**	**३८**
	* उपाध्याय के २५ गुण	४०
	* उपाध्याय शब्द के भिन्न भिन्न अर्थ	४०
	* उपाध्याय भगवंत का ध्यान किस वर्ण से और क्यों ?	४१

क्रम	विषय	पृष्ठ नं.
	* 'नमो उवज्झायाणं' बोलते समय करने योग्य भावना	४२
	* **'नमो लोए सव्व-साहूणं' का विशेषार्थ**	**४२**
	* साधु का स्वरूप	४३
	* साधु भगवंत के २७ गुण	४४
	* साधु शब्द के भिन्न भिन्न अर्थ	४५
	* 'सव्व' शब्द का प्रयोजन	४५
	* सव्वसाहूणं के भिन्न-भिन्न अर्थ	४६
	* साधु का किस वर्ण से ध्यान करना और क्यों?	४७
	* 'नमो लोए सव्वसाहूणं' बोलते समय करने योग्य भावना	४८
	* पंच परमेष्ठी की पूज्यता	४८
	* प्रथम पाँच पद संबंधी जिज्ञासा	४९
	* **'एसो पंच नमुक्कारो सव्व-पाव-प्पणासणो' का विशेषार्थ**	**५१**
	* **'मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं' का विशेषार्थ**	**५३**
	* मंगल के प्रकार	५४
	* भावमंगल की उपकारकता	५४
	मंगल शब्द के भिन्न भिन्न अर्थ	५६
२.	**श्री पंचिंदिय सूत्र**	**५९-९१**
	* सूत्र परिचय	५९
	* मूल सूत्र	६०
	* अन्वय छाया और शब्दार्थ	६१
	* **'पंचिंदिय संवरणो' का विशेषार्थ**	**६१**
	* संवर के प्रकार	६२
	* भाव संवर की प्राप्ति का उपाय	६३
	* **'तह-नवविह-बंभचेर गुत्ति धरो' का विशेषार्थ**	**६५**
	* ब्रह्मचर्य का स्वरूप	६५
	* ब्रह्मचर्य विषयक जिज्ञासा	६७
	* **'चउविह-कसाय-मुक्को' का विशेषार्थ**	**६९**
	* कषायों के भेद तथा प्रभेद	७०
	* कषाय के प्रकार	७४
	* अनंतानुबंधी आदि चार कषायों का स्वरूप	७५
	* **'इअ... संजुत्तो' का विशेषार्थ**	**७९**
	* **'पंच महव्वय जुत्तो' का विशेषार्थ**	**७९**
	* पाँच महाव्रतों का स्वरूप	८०
	* **'पंचविहायारपालण-समत्थो' का विशेषार्थ**	**८४**
	* **'पंच समिओ तिगुत्तो' का विशेषार्थ**	**८६**
	* 'पाँच समितिओं' का स्वरूप	८६

क्रम	विषय	पृष्ठ नं.
	* तीन गुप्तियों का स्वरूप	८९
	* **'छत्तीसगुणो गुरु मज्झ' का विशेषार्थ**	९१
३.	**श्री खमासमण सूत्र**	९२-१००
	* सूत्र परिचय	९२
	* मूल सूत्र	९३
	* अन्वय छाया और शब्दार्थ	९३
	* **'इच्छामि... वंदिउं' का विशेषार्थ**	९४
	* क्षमाश्रमण का अर्थ क्षमादि दश यतिधर्मो का वर्णन	९४
	* **'जावणिज्जाए' का विशेषार्थ**	९७
	* **'निसीहिआए' का विशेषार्थ**	९९
	* **'मत्थएण वंदामि' का विशेषार्थ**	१००
४.	**इच्छकार सूत्र**	१०१-१०८
	* सूत्र परिचय	१०१
	* मूल सूत्र	१०२
	* अन्वय सहित संस्कृत छाया और शब्दार्थ	१०३
	* **इच्छकार** का विशेषार्थ	१०३
	* **'सुहराइ/सुहदेवसि' का विशेषार्थ**	१०४
	* **'सुख-तप' का विशेषार्थ**	१०४
	* **'शरीर-निराबाध' का विशेषार्थ**	१०५
	* **'स्वामी-जी' का विशेषार्थ**	१०६
	* **'भात...जी' का विशेषार्थ**	१०७
५.	**अब्भुट्ठिओ सूत्र**	१०९-१२८
	* सूत्र परिचय	१०९
	* मूल सूत्र	१११
	* अन्वय, छाया और शब्दार्थ	१११
	* **'इच्छाकारेण...राइयं खामेमि' का विशेषार्थ**	११२
	* **'जं किचि...वेयावच्चे' का विशेषार्थ**	११६
	* **'आलावे...उवरीभासाए' का विशेषार्थ**	११९
	* **'जं किचि मज्झ... न जाणामि' का विशेषार्थ**	१२२
	* **'मिच्छा मि दुक्कडं' का विशेषार्थ**	१२५
६.	**इरियावहिया सूत्र**	१२९-१५२
	* सूत्र परिचय	१२९
	* मूल सूत्र	१३२
	* अन्वय, छाया, संस्कृत और शब्दार्थ	१३४
	* **'इच्छाकारेण....विराहणाए' का विशेषार्थ**	१३५
	* **'गमणागमणे...पंचिंदिया' का विशेषार्थ**	१३९
	* **'अभिहया... मिच्छा मि दुक्कडं' का विशेषार्थ**	१४८
७.	**तस्स उत्तरी सूत्र**	१५३-१६८
	* सूत्र परिचय	१५३
	* मूल सूत्र	१५५

क्रम	विषय	पृष्ठ नं.
	* अन्वय छाया और संस्कृत शब्दार्थ	१५५
	* **'तस्स' का विशेषार्थ**	**१५६**
	* **'उत्तरीकरणेणं' का विशेषार्थ**	**१५६**
	* **'पायच्छितकरणेण' का विशेषार्थ**	**१५७**
	* **'विसोहिकरणेणं' का विशेषार्थ**	**१५८**
	* **विशुद्धि के प्रकार**	**१५९**
	* **'विसल्लीकरणेणं' का विशेषार्थ**	**१६०**
	* भाव शल्य के तीन प्रकार	१६१
	* शल्य की खोज एवं दूर करने का उपाय	१६३
	* कायोत्सर्ग का प्रयोजन	१६५
	* **'पावाणं...निग्घायणट्ठाए' का विशेषार्थ**	**१६६**
	* कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा	१६६
	* **'ठामि काउस्सग्गं' का विशेषार्थ**	**१६६**
	अन्नत्थ सूत्र	**१६९-१८३**
	* सूत्र परिचय	१६९
	* मूल सूत्र	१७२
	* अन्वय छाया और शब्दार्थ	१७३
	* **'अन्नत्थ...दिट्ठिसंचालेहिं' का विशेषार्थ**	**१७४**
	* **'एवमाइएहिं...' का विशेषार्थ**	**१७७**
	* **'अभग्गो.... काउस्सग्गो' का विशेषार्थ**	**१७९**
	* **'जाव...वोसिरामि' का विशेषार्थ**	**१८१**
९.	**लोगस्स सूत्र**	१८४-२१७
	* सूत्र परिचय	१८४
	* मूल सूत्र	१८७
	* अन्वय छाया और शब्दार्थ	१८८
	* **'लोगस्स उज्जोअगरे' का विशेषार्थ**	१९०
	* **'धम्मतित्थयरे'** का विशेषार्थ	१९२
	* **'जिणे'** का विशेषार्थ	१९३
	* **'अरिहंते कित्तइस्सं' का विशेषार्थ**	१९४
	* **'चउवीसंपि केवली' का विशेषार्थ**	१९४
	* प्रत्येक विशेषण की आवश्यकता	१९५
	* **'उसभ...वद्धमाणं'** का विशेषार्थ	१९८
	* चौबीस भगवान के नाम के सामान्य और विशेष अर्थ	१९९
	* **'विहुय-रय-मला' का विशेषार्थ**	**२०५**
	* **'पहीण-जर-मरणा' का विशेषार्थ**	**२०६**

क्रम	विषय	पृष्ठ नं.
	* **'चउवीसं...पसीयंतु' का विशेषार्थ**	२०७
	* **'कित्तिय-वंदिय...दिंतु' का विशेषार्थ**	२१०
	* आरोग्य और बोधि की विचारणा	२११
	* समाधि की विचारणा	२१३
	* **'चंदेसु...मम दिसंतु' का विशेषार्थ**	२१४
१०.	**करेमि भंते सूत्र**	२१८-२३८
	* सूत्र परिचय	२१८
	* मूल सूत्र	२२१
	* अन्वय छाया और शब्दार्थ	२२१
	* **'करेमि भंते सामाइयं' का विशेषार्थ**	२२२
	* भंते शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ	२२२
	* सामायिक शब्द का विशेष अर्थ	२२४
	* भूमिका भेद से सामायिक का वर्णन	२२५
	* **'सावज्जं जोगं पच्चक्खामि' का विशेषार्थ**	२२७
	* **'जाव नियमं पज्जुवासामि' का विशेषार्थ**	२३०
	* **'दुविहं...न, कारवेमि' का विशेषार्थ**	२३२
	* १४७ प्रकारों का वर्णन	२३३
	* **'तस्स...पडिक्कमामि' का विशेषार्थ**	२३६
	* **'निंदामि...वोसिरामि' का विशेषार्थ**	२३७
११.	**सामाइय-वयजुत्तो**	२३९-२५८
	* सूत्र परिचय	२३९
	* मूल सूत्र	२४०
	* अन्वय, छाया और शब्दार्थ	२४१
	* **'सामाइय-वयजुत्तो' का विशेषार्थ**	२४२
	* **'जाव...नियम संजुत्तो' का विशेषार्थ**	२४२
	* **'छिन्नइ...कम्मं' का विशेषार्थ**	२४४
	* **'सामाइय...वारा' का विशेषार्थ**	२४४
	* **'सामाइयम्मि उ कअे' का विशेषार्थ**	२४५
	* **'एएण... कुज्जा' का विशेषार्थ**	२४६
	* **'सामायिक...दुक्कडं' का विशेषार्थ**	२४७
	* मन के दस दोष	२५०
	* वचन के दस दोष	२५३
	* काया के बारह दोष	२५५
१२	**सामायिक लेने की विधि**	२५९-२६९
१३	**सामायिक पारने की विधि**	२६९-२७२
१४	**मुहपत्ति पडिलेहन की विधि**	२७३-२८१

श्री नमस्कार महामंत्र

सूत्र परिचय :

नमस्कार महामंत्र को पंचनमस्कार, पंचनमोक्कारो, पंचपरमेष्ठि नमस्कार, पंच-मंगल-महाश्रुतस्कंध आदि कहते हैं । यह मंत्र एक-एक पद के पाँच अध्ययन एवं चार पदों की एक चूलिका मिलकर बना है । सूत्र एवं अर्थ से यह शाश्वत है ।

महामहोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराजा ने नमस्कार महामंत्र के गुण गाते हुए कहा है –

रतन-तणी जिम पेटी, भार अल्प बहुमूल्य,
चौद पूरवनो सार छे, मंत्र ए तेहने तुल्य,
सकल समय अभ्यंतर, ए पद पंच प्रमाण,
महसुअ-खंध ते जाणो, चूला-सहित सुजाण - १३०

पंच परमेष्ठि गीता

जिस प्रकार रत्न की पेटी का वजन कम होता है और मूल्य अधिक होता है, उसी प्रकार अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु - इन पाँच परमेष्ठियों को वंदन करने में उपयोगी यह मंत्र मात्र अडसठ अक्षरों का होने

पर भी अत्यंत फलदायक होता है । जिस तरह तिल में तेल सर्वत्र रहता है, उसी तरह सभी आगमों में ये पंच परमेष्ठी व्याप्त हैं ।

शास्त्र की दृष्टि से ६८ अक्षरों का यह मंत्र सर्वश्रेष्ठ माना जाता है । एकाग्र चित्त से श्रद्धापूर्वक जो इस मंत्र का स्मरण, उच्चारण, जाप और ध्यान करते हैं, उनके विघ्न नाश हो जाते हैं एवं कभी बाहर से विघ्न दिखाई दें, तो भी नमस्कार महामंत्र के साधक की साधना में वे बाधक नहीं बनते । वर्तमान में भी अनेक दृष्टांत इस बात के साक्षी हैं ।

इस महामंत्र के चूलिका सहित नव पद को पंचमंगल-महाश्रुतस्कंध कहते हैं । जीव एवं जड़ के वास्तविक स्वरूप को बताने वाले शास्त्र श्रुत कहलाते हैं । सर्व श्रुत की अर्थ से प्ररूपणा करनेवाले अरिहंत, श्रुत के मूल स्कंध समान है । इस मंत्र में उन अरिहंतादि पूज्यों को नमस्कार किया जाता है । तदुपरांत नन्दीसूत्र, अनुयोगद्वारादि सूत्रों के और सामायिक ग्रहण इत्यादि महान क्रियाओं के आरम्भ में यह महा मांगलिक मन्त्र अलग से बोला जाता है। इन्हीं सब कारणों से यह मंत्र महाश्रुतस्कंध कहा जाता है ।

पंच नमस्कार के प्राकृत रूप **नवकार मन्त्र** के नाम से यह महामन्त्र जगत् में प्रसिद्ध है । यह चौदह पूर्व का सार है । अनंत लब्धियाँ, नौ निधान, चौदह रत्न एवं ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि अनंत गुण भी इसी मंत्र में निहित हैं।

नवकार चौदह पूर्व का सार है : सार अर्थात् रहस्य, चौदह पूर्व का रहस्य अरिहंत और सिद्ध अवस्था की प्राप्ति है । अरिहंत और सिद्ध अवस्था की प्राप्ति का उपाय यह नवकार मंत्र है । सार का अर्थ श्रेष्ठ भी होता है । आत्मा की श्रेष्ठ अवस्था अरिहंतादि स्वरूप है । जैसे चौदह पूर्व पढ़कर यह श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त की जाती है, वैसे नवकार के ध्यान से भी यही श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त की जाती है तथा चौदह पूर्व से जो लक्ष्य सिद्ध करना है, वही लक्ष्य नवकार से प्राप्त हो सकता है । इसलिए नवकार महामंत्र को चौदह पूर्व का सार कहा जाता है । जिन्होंने चौदह पूर्व का ज्ञान प्राप्त किया है, जो

पूर्वानुपूर्वी[1] से और पश्चानुपूर्वी[2] से अथवा अनानुपूर्वी[3] से अंतर्मुहूर्त जितने अल्पकाल में चौदह पूर्व के ज्ञान का पुनरावर्तन कर सकते हैं, वे भी अंतिम समय में चौदह पूर्व का स्मरण न करते हुए, चौदह पूर्व के सारभूत नवकार का ही स्मरण करते हैं।

नवकार में अनंत लब्धियाँ हैं : विशिष्ट चारित्र के पालन से प्राप्त होनेवाली लब्धियाँ गणधर भगवंत, आचार्य भगवंत एवं मुनियों में होती हैं एवं उनका समावेश नवकार में होता है । इसलिए नवकार का स्मरण करने से लब्धि के अर्थी को अनेक प्रकार की लब्धियाँ प्राप्त होती हैं । अतः नवकार में अनंत लब्धियाँ समाई हुई हैं, ऐसा कहा जाता है ।

नवकार में चौदह रत्न, नौ निधान भी निहित हैं : बाह्य दृष्टि से चौदह रत्न और नौ निधानरूप वैभव नवकार में नहीं दिखता । यह वैभव तो चक्रवर्ती आदि में दिखाई देता है, तो भी यह चक्रवर्ती पद धर्म की विशिष्ट आराधना करने से बँधे पुण्य के योग से ही मिल सकता है । धर्म की विशिष्ट आराधना में भी नवकार की अर्थात् पंचपरमेष्ठी की आराधना का समावेश हो ही जाता है । संक्षेप में, **जगत् में जो भी उत्तम वस्तु या उत्तम पदवी है, वह सब इस नवकार मंत्र से प्राप्त होती है ।** इसलिए ऐसा कह सकते हैं कि नवकार की आराधना से चौदह रत्न और नौ निधान प्राप्त होते हैं ।

नवकार में दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी निहित हैं । अनंत ज्ञान-दर्शन-चारित्र के धारक अरिहंत और सिद्ध भगवान नवकार में हैं ।

शास्त्र में कहा गया है कि-

'जस्स मणे नवकारो संसारो तस्स किं कुणइ'

'जिसके मन में हो नवकार उसका क्या बिगाडेगा संसार'

- पंचनमुक्कार फल

---

1. पूर्वानुपूर्वी से = आगे से पीछे गिनने की रीत
2. पश्चानुपूर्वी से = पीछे से आगे गिनने की रीत
3. अनानुपूर्वी से = क्रमरहित गिनने की रीत

नवकार के जाप एवं ध्यान का तथा उसे सुनने और सुनाने का फल शब्दातीत है । जन्म के समय नवकार सुनाया जाए, तो जन्म लेनेवाले को विपुल संपत्ति की प्राप्ति होती है तथा मृत्यु के समय नवकार सुनाया जाए, तो मृत्यु के बाद सद्‌गति की प्राप्ति होती है । नवकार गिनने से सर्व प्रकार के भय का नाश होता है । भौतिक ऋद्धि, समृद्धि की प्राप्ति तो नवकार का मामूली फल है, परन्तु जिन्होंने मोक्ष का शाश्वत सुख प्राप्त किया है, कर्म मल से रहित होकर जो मोक्ष में जा रहे हैं अथवा भविष्य में जाएँगे, उन सब का मूल नवकार ही है । जिसके हृदय में नवकार बसा हो, उसे दुनिया में सिर्फ अरिहंत और सिद्ध पद ही प्राप्त करने जैसा लगता है और उसके लिए वह साधु बनने की तीव्र अभिलाषा रखता है । इसी कारण से उसके चित्त को संसार की कोई भी वस्तु या स्थिति राग या द्वेष उत्पन्न करके व्याकुल या व्यथित नहीं कर सकती ।

मूल सूत्र :

नमो अरिहंताणं ।
नमो सिद्धाणं ।
नमो आयरियाणं ।
नमो उवज्झायाणं ।
नमो लोए सव्व-साहूणं ।
एसो पंच-नमुक्कारो, सव्व-पाव-प्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ।

पद-९ संपदा-८ अक्षर-६८

पद	१	नमो अरिहंताणं	संपदा	१
पद	२	नमो सिद्धाणं	संपदा	२
पद	३	नमो आयरियाणं	संपदा	३

पद	४	नमो उवज्झायाणं	संपदा	४
पद	५	नमो लोए सव्वसाहूणं	संपदा	५
पद	६	एसो पंचनमुक्कारो,	संपदा	६
पद	७	सव्व-पाव-प्पणासणो,	संपदा	७
पद	८	मंगलाणं च सव्वेसिं	संपदा	८
पद	९	पढमं हवइ मंगलं		

अन्वय सहित संस्कृत छाया और शब्दार्थ :

अरिहंताणं नमो

अर्हद्भ्यो नमः

अरिहंत भगवंतों को नमस्कार हो ।

सिद्धाणं नमो

सिद्धेभ्यो नमः

सिद्ध भगवंतों को नमस्कार हो ।

आयरियाणं नमो

आचार्येभ्यो नमः

आचार्य भगवंतों को नमस्कार हो ।

उवज्झायाणं नमो

उपाध्यायेभ्यो नमः

उपाध्याय भगवंतों को नमस्कार हो ।

लोए सव्व-साहूणं नमो

लोके सर्वसाधुभ्यो नमः

लोक में उपस्थित सर्व साधु भगवंतों को नमस्कार हो ।

एसो पंच-नमुक्कारो, सव्व-पाव-प्पणासणो

सव्वेसिं, च मंगलाणं पढमं मंगलं हवइ

एष पञ्च-नमस्कारः, सर्व-पाप-प्रणाशनः ।

सर्वेषां च मङ्गलानां प्रथमं मङ्गलं भवति ।

इन पाँच परमेष्ठी भगवंतों को किया हुआ नमस्कार सब पापों का नाश करनेवाला है और सभी मंगलों में प्रधान मंगल है ।

विशेषार्थ :

नमो अरिहंताणं[4] : अरिहंत भगवंतों को नमस्कार हो ।

राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया एवं लोभ : इन छः आन्तरिक शत्रुओं[5] का नाश करके जो वीतरागी हुए हैं, केवलज्ञान रूपी सूर्य द्वारा जो जगत् के सभी पदार्थों को प्रकाशित कर रहे हैं, चौंतीस अतिशयों एवं अष्ट महाप्रतिहार्यों से जो दिशाचक्र (चारों दिशा) को अलंकृत कर रहे हैं, जो अनंत गुण समूह से युक्त हैं तथा जो भव्य जीवों को संसार सागर से पार उतारने के लिए धर्मतीर्थ की स्थापना करके इस अवनीतल पर विचर रहे हैं, वे परम ज्योतिस्वरूप प्रथम परमेष्ठी अरिहंत परमात्मा हैं; ऐसे अरिहंत परमात्मा को इस पद द्वारा नमस्कार किया गया है ।

'नमो' :

नमो अर्थात् नमस्कार; मन-वचन-काया से नमन करने की क्रिया नमस्कार है । गुणवान व्यक्ति के गुणों के प्रति मन में आदर या बहुमान का भाव धारण कर 'नमो जिणाणं' 'मत्थएण वंदामि'... जैसे शब्दों को बोलकर दो हाथ जोड़कर मस्तक झुकाने की क्रिया नमस्कार है । नमस्कार नम्रता का सूचक है । गुणवान के प्रति भक्ति की निशानी है । कृतज्ञता का संकेत है । गुणवान के प्रति आदर-बहुमान का भाव प्रदर्शित करने का साधन है । 'इस संसार में मैं कुछ भी नहीं हूँ एवं अरिहंतादि अनंत गुणों के भंडार हैं' ऐसी वास्तविक समझ एवं अनुभूति ही नमस्कार है । ऐसे नमस्कार द्वारा अहंकार का नाश होता है एवं अर्हंभाव के प्रति आदर बढ़ता है । अरिहंतादि गुणसंपन्न आत्माओं के प्रति प्रगट हुआ आदर धर्मबीज का

4. यह प्रथमपद प्रथम अध्ययन रूप है, उसमें 'नमो', 'अरि' एवं 'हंताणं' ऐसे तीन पद है ।
5. अन्य अपेक्षा को मद्देनज़र रखते हुए आवश्यक निर्युक्ति में इन्द्रिय, कषाय, विषयभोग की इच्छाएँ, परिषह, उपसर्ग एवं वेदनाओं को छः आंतरशत्रुओ कहा है ।

वपन करता है एवं बार-बार ऐसा नमस्कार करने से वह बीज अंकुरित हो, वृद्धि पा कर अंत में मोक्षरूपी फल की प्राप्ति करवाता है ।

'नमो' का अर्थ पूजा भी होता है । पूजा दो प्रकार से संपन्न होती है : द्रव्य संकोच से एवं भाव संकोच[6] से । काया से हाथ, पैर, मस्तक आदि शरीर के अवयवों की विविध क्रियाओं को संकोच करके अर्थात् उन्हें नियंत्रित करके, दोनों हाथ जोड़कर मस्तक झुकाकर, पंचांग प्रणिपात वगैरह नम्रता सूचक मुद्राओं को धारण करना, वाणी से नमस्कार के योग्य शब्दोच्चार करना एवं मन में उन शब्दों के अर्थ की विचारणा करना, **द्रव्य संकोच** है । इसके अलावा, यहाँ वहाँ दौड़ते मन को संकोच करके उसे अरिहंत आदि पँच परमेष्ठि के गुणों में केन्द्रित करना, **भाव संकोच** है । संक्षिप्त में कहें तो निर्मल मन को परमेष्ठी के गुणों के साथ जोड़ना, वह भाव संकोच है ।

'नमो' शब्द प्रार्थना सूचक :

यहाँ प्रयोग किया हुआ 'नमो[7]' शब्द क्रियापद नहीं एक निपात है, इसलिए 'इस शब्द का अर्थ करते समय 'भवतु = हो' इस क्रियापद को अध्याहार से

---

6. इत्थ नमु त्ति पयं दव्व-भावसंकोयरूवं पूयत्थं कर सिरनमाई दव्वे मण पणिहाणाई भाव नमो ।।
- आवश्यक निर्युक्ति

वंदण त्ति सामान्येन वचः कायादिस्तुत्यवनामनादीनि,
- चैत्यवंदन महाभाष्ये

'नमः' इति पूजार्थं, पूजा च द्रव्यभावसङ्कोचः, तत्र करशिरःपादादिसंन्यासो **द्रव्यसङ्कोचः** । **भावसङ्कोचस्तु** विशुद्धस्य मनसो नियोग इति । 'अस्तु' इति भवतु; प्रार्थनार्थोऽस्येति ।
- ललित विस्तरा

7. श्री भगवतीसूत्र की टीका में श्री अभयदेवसूरि कहते हैं :
'तत्र नमः इति नैपातिकं पदं द्रव्यभावसंकोचार्थम् । आह च नेवाइयं पदं दव्वभावसंकोयणपयत्थो । मनःकरचरणमस्तकसुप्रणिधानरूपो नमस्कारो भवत्वित्यर्थः ।
यहाँ 'नमो' निपात अव्यय है । निपतन्ति अनेकेषु अर्थेषु इति निपाताः । जिसमें एक अर्थ का नियम नहीं होता अर्थात् जो अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है उसे 'नैपातिक पद' कहते हैं । जिसके द्वारा अर्थ का बोध होता है उसे 'पद' कहते हैं । उसके पाँच प्रकार है :

लेकर उसका अर्थ करना है । अतः नमो का अर्थ **'नमस्कार हो**[8]**'** ऐसा होता है । इससे साधक की प्रार्थना सूचित होती है । वह प्रार्थना करता है,-

"हे नाथ ! अंतर में बसी हुई प्रभुता को तत्काल प्रगट करनेवाले सामर्थ्य योग[9] से नमस्कार करने की तो मेरी शक्ति ही नहीं है, पर शास्त्र में बताई

---

१. नामिक, २. नैपातिक, ३. औपसर्गिक, ४. आख्यातिक, ५. मिश्र.

१. संज्ञावाचक प्रत्यय से सिद्ध होनेवाले शब्द 'नामिक पद' कहलाते हैं, जैसे अश्वः, घट :

२. अव्ययवाची शब्द "नैपातिक पद" कहलाता है । जैसे खलु, ननु ।

३. उपसर्गवाचक शब्द "औपसर्गिक पद" कहलाता है, जैसे कि परि, परा

४. क्रियावचक धातुओं से बना हुआ शब्द 'आख्यातिक पद' अथवा क्रियापद कहलाता है, जैसे कि, धावति, पचति ।

५. कृदंत-कृत् प्रत्यय एवं तद्धित प्रत्ययों से बने हुए शब्द 'मिश्र पद' कहलाते हैं । जैसे कि, संयत, नायक, पावक [इन पाँच प्रकार के पदों में 'नमो' पद नैपातिक पद है ।]

इससे अतिरिक्त क्रिया में प्रत्यय लगाकर जब शब्द बनाए जाते हैं, तो बना हुआ शब्द **'कृदन्त'** कहलाता है । जैसे नायक, पाचक इत्यादि । कृदन्तों की दो स्थितियाँ होती हैं -

(अ) संबन्धक भूत कृदन्त और हेत्वर्थ कृदन्त अव्यय होते है; इसलिए उनका समावेश "नैपातिक पद" की श्रेणी में होता है ।

(ब) उपरोक्त दो कृदन्त के सिवाय बाकी के सारे कृदन्त विशेषण होते हैं । इसलिए उन्हें नाम की ही श्रेणी में रखते हैं ।

नाम (संज्ञा) में प्रत्यय लगाकर जब दूसरा नाम (संज्ञा) बनाया जाता है तब **'तद्धितान्त'** शब्द होता है । जैसे कुन्ती, कुन्ती का पुत्र **कौन्तेय ।**

राधा, राधा का पुत्र **राधेय ।**

जिन जिन की परम्परा का व्यक्ति **जैन** ये **'तद्धितान्त'** पद नाम ही होते है ।

इस तरह 'मिश्र' शब्द जैसा पाँचवा प्रकार होता ही नहीं सिर्फ १. नाम, २. आख्यात, ३. उपसर्ग और ४. निपात ऐसे चार ही प्रकार यास्काचार्य बताते है ।

8. इस पर विस्तृत चर्चा सूत्र संवेदना-१ 'नमोत्थुणं' में मिलेगी ।

9. तरतमता के भेद से शास्त्रकारों ने धर्मक्रिया के तीन प्रकार बताए हैं : इच्छायोग, शास्त्रयोग एवं सामर्थ्ययोग :

१. इच्छायोग : धर्म करने की तीव्र इच्छा हो, क्रिया संबंधी शास्त्रज्ञान भी हो, तो भी प्रमादादि दोष के कारण शास्त्र में जिस प्रकार से धर्मक्रिया करने को कहा है, पूर्णतया उस प्रकार न कर सके । अमुक प्रकार की कमी रहे, वह इच्छायोग कहलाता है ।

२. शास्त्रयोग : शास्त्र वचन के अत्यंत बोधवाला, मोहनीय कर्म के नाश से विशिष्ट कोटि की श्रद्धा जिसमें प्रगट हुई हो, वैसी आत्मा अपनी शक्ति के अनुरूप प्रमादादि भावों को त्याग कर शास्त्र में जो धर्मक्रिया जिस तरीके से करने को कहा है, पूरी क्रिया उसी तरीके से करे, किसी भी तरह की कमी न रहने दे , वह शास्त्रयोग कहलाता है ।

विधि के अनुसार शास्त्रयोग का नमस्कार करने की भी मेरी क्षमता नहीं है, इसलिए आज मैं मात्र इच्छायोग से नमस्कार करता हूँ, एवं मेरा यह नमस्कार शास्त्र या सामर्थ्य योग का बने, ऐसी अभिलाषा रखता हूँ ।"

अथवा

"हे नाथ ! भाव नमस्कार करने का मेरा सामर्थ्य नहीं होते हुए भी इस द्रव्य नमस्कार द्वारा भाव नमस्कार तक पहुँच सकूँ, ऐसी प्रार्थना करता हूँ।"

गुणों के बोध बिना या गुणों के प्रति बहुमान के बिना नमन की क्रिया द्रव्य नमस्कार है या किसी भौतिक आकांक्षा से किया हुआ नमस्कार भी द्रव्य नमस्कार है, जबकि नमस्करणीय में रहे हुए गुणों के पूर्णबोधपूर्वक, यही गुण मेरे लिए प्राप्त करने योग्य हैं, यही सारभूत हैं, इस प्रकार के परिणाम से उन गुणों की निष्पत्ति के अनुकूल आत्मवीर्य का प्रवर्तन, **भाव-नमस्कार**[10] है । यह भाव नमस्कार मात्र उपयोगवंत सम्यग्दृष्टि[11] जीव ही कर सकता है । इसके अलावा जीव चाहे बाह्य विधि कितनी भी शुद्ध करे, तो भी उसका नमस्कार, द्रव्य नमस्कार ही रहता है ।

भाव नमस्कार का उपाय :

भाव से नमस्कार करने के लिए पहली आवश्यकता है - नमस्करणीय

---

३. सामर्थ्ययोग : मोक्ष का मार्ग अतीन्द्रिय है । अतीन्द्रिय ऐसे इस मार्ग का ज्ञान, शास्त्र से भी मर्यादित प्राप्त होता है । आत्मशक्ति का जब उद्रेक होता है अर्थात् आत्मा की तीव्र शक्ति जब प्रगट होती है, तब अनुभव ज्ञान होता है । इस ज्ञान से शास्त्र में बताए हुए मार्ग से आगे बढ़ने का मार्ग दिखता है । उस मार्ग पर शक्ति प्रवर्तन करने से घाती कर्मों का नाश करके आत्मा केवलज्ञान को प्राप्त करता है । वीर्य प्रवर्तन की इस क्रिया को सामर्थ्य योग कहते हैं । तरतमता के भेद से शास्त्रकारों ने इस प्रकार से धर्म क्रिया के तीन प्रकार बताएँ हैं ।

10. तथा भाव नमस्कारमाह - तत्तितयं - तत्वत्रिकं देव गुरु धर्म-विषयम्, भावनमस्कारः सम्यक्त्वम् । देव-गुरु-धर्म इन तीन तत्त्वों को यथार्थ रूप से जानकर सम्यग्दर्शन गुण की स्पर्शनापूर्वक जो नमस्कार किया जाता है वह भाव नमस्कार है । सम्यक्त्व के बिना भाव नमस्कार नहीं होता ।

- नमस्कार स्वाध्याय

11. निह्वाइ दव्व-भावोवउत्त जं कुज्ज सम्मदिट्ठी १ x x x।।८९।।

- श्री आवश्यक निर्युक्ति

के गुणों का संवेदनात्मक ज्ञान । पंच परमेष्ठी के गुणों का यथार्थ ज्ञान होने पर जब 'प्रभु ही उत्तमोत्तम हैं, सर्वश्रेष्ठ हैं, संसार के सभी भाव उनके सामने तुच्छ हैं, असार हैं' - ऐसी संवेदनाओं से हृदय भर जाता हो । 'उनको प्राप्त हुए गुणों में ही आनंद है' - ऐसी आंशिक भी अनुभुती होती हो और प्रभु जैसे गुणों को प्राप्त करने का पूर्ण प्रयत्न होता हो याने आत्मवीर्य गुण निष्पत्ति के लिए प्रवृत्त रहता हो; तब ही भाव नमस्कार निष्पन्न हो सकता है।

इसके बिना मात्र, 'नमो अरिहंताणं' वगैरह पद बोलने से, सामान्य ढंग से उसके अर्थ का विचार करने से, शुभ भाव से या शुभलेश्या से भाव नमस्कार निष्पन्न नहीं होता, क्योंकि अर्थ का विचार एक मानासिक व्यायाम है एवं 'मैं ऐसे गुणवान को नमन करता हूँ' ऐसा शुभ अध्यवसाय, यह शुभ लेश्या अवश्य है, परन्तु वह भाव नमस्कार रूप नहीं है । भाव नमस्कार तो इससे भी उपर की अवस्था है । **वीतराग ही उत्तमोत्तम सुदेव है एवं उनके अलावा संसार के समग्र भाव तुच्छ, निःसार हैं ।'** ऐसे भाव की अतिशयता भाव नमस्कार है । **भावनमस्कार के लिए उत्तम पुरुषों में निहित गुणों का संवेदन होना चाहिए, गुणों के प्रति बहुमान होना चाहिए एवं उन गुणों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न भी होना चाहिए ।** इसके उपरांत भावनमस्कार के लिए अपनी गुणहीनता की अनुभूति एवं उसके त्याग की इच्छा भी इतनी ही जरूरी है । अरिहंत भगवंत गुणवान हैं एवं मैं गुणहीन हूँ, ऐसा ज्ञान मिथ्यात्व मोहनीय कर्म की मंदता के बिना सम्भव नहीं है, इसलिए भाव नमस्कार के लिए ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के साथ-साथ मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का क्षयोपशम भी आवश्यक है ।

इस प्रकार जो अरिहंत भगवंतों को नमस्कार करते हैं, वे तीर्थंकर नामकर्म आदि विशिष्ट पुण्यकर्म का बंध करते हैं एवं पूर्व के बंधे हुए पापकर्म को शिथिल करते हैं । शिथिल बने हुए पापकर्म पुनः विशेष कदर्थना नहीं कर सकते ।

अरिहंत का स्वरूप :

जिस प्रकार महापुरुष होनेवाले बालक के लक्षण शिशुकाल से ही अलग उभर आते हैं, उसी प्रकार अरिहंत परमात्मा संपूर्ण संसार में ही नहीं, परन्तु चरमभवी जीवों में भी सबसे उत्तमोत्तम होते हैं । उनकी प्रकृति अनादिकाल से अलग प्रकार की होती हैं । तीनों लोक में सर्वोत्कृष्ट गुणों का समूह उनमें प्रगट होता है । जिस प्रकार के महान पवित्र प्रशस्त अध्यवसायों से वे पूर्व के भव में श्री तीर्थंकर नामकर्म की निकाचना करते हैं, उस प्रकार के श्रेष्ठ अध्यवसाय, दृढता, स्थिरता, सम्यक्त्व, तथा वीर्य वगैरह दूसरे किसी जीव में कभी भी नहीं होते। अरिहंत परमात्मा जन्म से ही तीन प्रकार के निर्मल ज्ञान से युक्त होते हैं । उनका जन्म महावैभव युक्त राजकुल में ही होता है । जन्म से ही इन्द्रों आदि द्वारा वे पूजे जाते हैं, तो भी ऐसे बाह्य वैभव की उनके मन पर कोई असर नहीं होती, क्योंकि उनमें जन्म से ही विशिष्ट कोटि का वैराग्यभाव होता है ।

बाल्यावस्था में भी उनमें बाह्य और अतरंग शत्रुओं को जीतने के लिए लोकोत्तर सत्त्व होता है । संसार की तमाम प्रवृत्तियों में कहीं भी कषायभाव का स्पर्श न हो, उस तरह जिस संयोग में जो कार्य करने योग्य हो, वह उचित कार्य, वे सदा करते हैं । औचित्य पालन के लिए जरूरी औदार्य, दाक्षिण्य, गांभीर्यादि भाव भी उनमें लोकोत्तर कोटि के होते हैं ।

युवावस्था में निकाचित भोगावली कर्म बाकी हों, तो प्रभु को भोगादि में प्रवृत्त होना पड़ता है । फिर भी वे भोगादि क्रिया में भाव से अलिप्त होते हैं । इसलिए भोगादि की क्रिया भी उनके लिए कर्मनिर्जरा का कारण बनती है । जैसे ही उनके भोगावली कर्म खत्म होते हैं, वैसे ही परमात्मा तृण की तरह संसार का त्याग कर निर्मल संयमजीवन का स्वीकार करते हैं ।

संयम जीवन में उपसर्गों और परिषहों को समभाव से सहन करते हैं । समिति - गुप्ति के पालन में अप्रमत्त भाव से यत्न करके, अरिहंत परमात्मा क्षपकश्रेणी का प्रारंभ करके, केवलज्ञान आदि गुणों को प्राप्त करते हैं ।

केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद पूर्व के तीसरे भव में **'सवि जीव करुँ शासनरसी'** की भावना से जो तीर्थंकर नामकर्म निकाचित किया था, उसका विपाककाल आने से परमात्मा जगत् के जीवों पर उपकार करने के लिए संघरूप शासन की स्थापना करते हैं । तीर्थंकर नाम कर्म का उदय प्राप्त होते ही उनको अद्वितीय बाह्य वैभव स्वरूप अष्ट महाप्रातिहार्य, चौंतीस अतिशय, वाणी के पैंतीस गुण, देवेन्द्रों और नरेन्द्रों की पूजा आदि प्राप्त होते हैं, जिसको देखकर अनेक लोग धर्ममार्ग में आकर्षित होते हैं। इस वैभव का भी उनके मन में कोई मूल्य नहीं होता ।

केवलज्ञानादि आंतरिक गुण और अष्ट महाप्रातिहार्यादि बाह्य वैभव युक्त अरिहंत परमात्मा जितनें समय तक उनका आयुष्य कर्म शेष हों, उतने समय तक पृथ्वीतल पर विचरते हैं एवं श्रम वगैरह के अनुभव बिना देशना देकर अनेक भव्य आत्माओं को सन्मार्ग दिखाने का विशिष्ट कार्य करते हैं । सन्मार्ग का प्रदान जैसे परमात्मा करते हैं, वैसे सन्मार्ग का दान अन्य कोई जीव नहीं कर सकता।

अरिहंत का महत्त्व :

अरिहंत भगवंत अंतिम भव में अपने भवोपग्राही कर्मों का क्षय करने के लिए धर्मतीर्थ की स्थापना करते हैं तथा देशनादि की प्रवृत्ति करते हैं । छद्मस्थों की हजारों जिह्वा भी उनके गुणों की स्तुति करने के लिए असमर्थ हैं तथा तीर्थंकर को छोड सर्वजीवों के सभी गुण एकत्रित किए जाये, तो भी तीर्थंकर के गुण के अनंतवें भाग की भी तुलना में न आएँ । योग के प्रभाव से प्राप्त होनेवाले अष्ट महाप्रातिहार्य एवं चौंतीस अतिशय रूप उत्तम ऐश्वर्य तीर्थंकर की बाह्य समृद्धि है । बाकी अरिहंत की आंतरिक समृद्धियों की तो योगी भी कल्पना नहीं कर सकतें । इन चौंतीस में से चार[12] अतिशय मूल से अर्थात् जन्म से होते हैं,

12. **चार मूल अतिशय :** (१) अद्भुत रूप : उनकी देह सुगंधित, निरोगी तथा मलादि से रहित होती है । (२) उनका श्वास कमल जैसा सुंगधित होता है । (३) उनके शरीर में मांस एवं रूधिर गाय के दूध जैसा निर्मल एवं दुर्गंध रहित होता है । (४) उनका आहार, निहार (मल त्याग) आदि क्रियाएँ चर्मचक्षु से दिखाई नहीं देते ।

ग्यारह[13] अतिशय कर्मक्षय से होते हैं तथा उन्नीस अतिशय देवकृत[14] होते हैं याने देवता द्वारा निर्मित होते हैं । इन चौंतीस अतिशयों का संक्षेप कर शास्त्रों में अरिहंत के बारह गुणों का वर्णन किया हैं ।[15]

---

13. **कर्मक्षय से होनेवाले ११ अतिशय :** (१) एक योजन के समवसरण में कोटा कोटि देव, मनुष्य, तिर्यंचों का समावेश हो सकता है । (२) एक योजन तक सुनाई दे, एवं सर्व प्राणी अपनी भाषा में समझ सकें ऐसी पैंतीस गुणों से युक्त उनकी वाणी होती है (३) केवलज्ञान प्रगट होने के बाद प्रभु के अद्‌भुत रूप का तेजपुंज भामंडल के रूप में उनके पीछे स्थित हो जाता है । इस भामंडल में यदि प्रभु का तेज संक्रमित न हो, तो प्रभु के सन्मुख कोई दृष्टि भी नहीं कर सकता और प्रभु विहरते हों तब उनके आसपास सवा सौ योजन तक (४) रोग का नाश होता है (५) वैर का नाश होता है (६) इति अर्थात् उपद्रवों का नाश - बीमारीयों का नाश होता है (७) मारी-मरकी नहीं होती (८) अतिवृष्टि नहीं होती (९) अनावृष्टि नहीं होती (१०) दुर्भिक्ष भी नहीं होता तथा (११) लोगों को स्व-पर राज्य का भय नहीं रहता ।

14. **देवकृत १९ अतिशय :** (१) धर्म चक्र : प्रभु चलते हैं तब धर्म चक्र आगे चलता है एवं प्रभु स्थिर होते हैं तो वह भी स्थिर हो जाता है (२) चामर : दोनों तरफ देव चामर झुलाते हैं (३) मृगेन्द्रासन : स्फटिकमय सिंहासन : यह सिंहासन जब प्रभु चलते हैं तब उपर चलता है एवं बैठते है तो नीचे व्यवस्थित हो जाता हैं (४) छत्रत्रय : रत्न एवं मणि के तीन छत्र मस्तक पर रहते हैं (५) रत्नमय ध्वज : प्रभु के उपर रत्नमय ध्वज होता है (६) सुवर्ण कमल : जब प्रभु चलते हैं तब मक्खन से भी अधिक कोमल सुवर्ण के नौ कमल अपने आप पैरों के नीचे व्यवस्थित हो जाते हैं (७) वप्रत्रय : कांगरा (उमडी हुई बनावटवाली पंक्ति) सहित चांदी, सुवर्ण एवं रत्न के तीन गढ समवसरण में होते हैं (८) चतुर्मुख : देशना के समय जीव चारों तरफ से भगवंत के मुख का दर्शन कर सकते हैं, एक मूल रूप एवं तीन प्रतिबिंब होते हैं (९) अशोकवृक्ष : समवसरण में भगवान की ऊँचाई से बारह गुणा ऊँचा अशोकवृक्ष होता है जो द्रव्य एवं भाव से लोगों के शोक को दूर करता है (१०) भगवान की विहार भूमि में काँटें भी उल्टे हो जाते हैं (११) वृक्ष अत्यंत झुक जाते हैं (१२) दुंदुभि : आकाश में दुंदुभि का नाद सतत चालू ही रहता है (१३) अनुकूल वायुः वायु शरीर को सुख दे ऐसी अनुकूल होती है (१४) पक्षी प्रभु की प्रदक्षिणा देते हैं (१५) सुगंधित पानी की बारिश होती है (१६) पाँच वर्ण के सचित्त पुष्पों की वृष्टि होती है (१७) छ ऋतुएँ इन्द्रियों के विषय में अनुकूल रहती हैं (१८) दीक्षा लेने के बाद भगवान के दाढ़ी, मूँछ, नाखून बढ़ते नहीं (१९) जघन्य से एक करोड देव प्रभु की सेवा में रहते हैं ।

15. 'षट्‌खंडागम' नाम के ग्रंथ के आधार से अरिहंत का स्वरूप जानने के लिए सूत्र संवेदना-१ गुजराती में परिशिष्ट-१ एवं ४ देखिए।

अरिहंत के बारह गुण :

चौदह पूर्व के साररूप श्री नमस्कार महामंत्र का रहस्य उसके प्रथम पद 'नमो अरिहंताणं' में है । नमो अरिहंताणं का रहस्य अरिहंत पद है एवं अरिहंत पद का रहस्य बारह गुण हैं । इन बारह गुणों के आलंबन बिना श्री अरिहंत परमात्मा को बुद्धि से समझना सम्भव नहीं है । बारह गुणों के आलंबन के बिना श्री अरिहंत परमात्मा का ध्यान तो, निर्ग्रन्थभाव रहित व्यक्ति का मात्र साधुवेश देखकर उसे साधु मानकर उसकी उपासना करने के बराबर है । बारह गुण एवं अरिहंत का अविनाभावी संबंध है । केवलज्ञान की उत्पत्ति होने के साथ ही तीर्थंकर के बारह गुण प्रकट होते हैं । वे ही भगवान के लक्षण हैं अर्थात् भगवान की पहचान हैं । जब तीर्थंकर परमात्मा विद्यमान होते हैं, तब समकिती जीव को इन बारह गुणों के माध्यम से श्री तीर्थंकर की पहचान होती है एवं जो भव्य जीव मिथ्यादृष्टि होते हैं, उनको ये बारह गुण एक चमत्कार लगते हैं, जिससे प्रभावित होकर वे परमात्मा की ओर आकर्षित होते हैं एवं धीरे धीरे वे भी धर्म करने लगते हैं । ये महाप्रभावशाली गुण, दर्शन मात्र से अनेक जीवों के हृदय की व्याकुलता मिटा देते हैं । इसका श्रेष्ठ उदाहरण श्री गौतमस्वामीजी है ।

अरिहंतों के यथाभूत, वास्तविक एवं दूसरों में न हों, ऐसे १२ गुणों में निम्नोक्त ४ अतिशय एवं ८ प्रातिहार्यों का समावेश होता है ।

चार अतिशय :

१. अपायापगम अतिशय : श्री अरिहंत जहाँ विद्यमान होते हैं, वहाँ उनकी चारों दिशाओं में पचीस पचीस योजन, इस प्रकार १०० योजन तथा ऊर्ध्व एवं अधो दिशा में १२$^{१}/_{२}$, १२$^{१}/_{२}$ योजन इस तरह १२५ योजन तक लोक में दुर्भिक्ष (दुष्काल) वगैरह सर्व प्रकार के कष्ट शांत हो जाते हैं । यह पूज्यों का अपायापगमातिशय है । ऐसे कष्टों को दूर करने की शक्ति जगत् में अन्य किसी की नहीं होती ।

२. ज्ञानातिशय : श्री अरिहंत परमात्मा केवलज्ञान से लोक-अलोक के संपूर्ण भावों को देखते हैं । यद्यपि ऐसा ज्ञान केवली भगवंतों में भी होता है,

परन्तु केवली भगवंतों का ज्ञान संपूर्ण होते हुए भी अतिशयित नहीं होता । अनुत्तरवासी देवताओं के तत्त्वज्ञान संबंधी संशय तथा अन्य जीवों के सर्व संशय भगवान ज्ञानातिशय द्वारा दूर करते हैं । संशय निवारण करने का ऐसा सामर्थ्य सामान्य केवली भगवंत में नहीं होता ।

३. वचनातिशय : सर्व जीवों को अभयदान देने में समर्थ एवं सर्व भाषाओं में परिवर्तित होनेवाली श्री अरिहंत परमात्मा की वाणी ३५ गुणों[16] से युक्त होती है । देवता, मनुष्य एवं तिर्यंच सभी अपनी-अपनी भाषा में इस वाणी को समझकर प्रतिबोध पाते हैं । प्रभु की वाणी में ऐसी क्षमता होती है कि जीवों की जितनी योग्यता हो, उतनी योग्यता वाणी द्वारा प्रगट होती है। वाणी की ऐसी शक्ति जगत् में अन्य किसी की नहीं होती । यह प्रभु का वचनातिशय है ।

४. पूजातिशय : सभी देवता, असुर एवं मनुष्य सतत भगवान की उत्कृष्ट पूजा करते हैं । सर्वश्रेष्ठ ऐश्वर्य के धारक ६४ इन्द्र उनके पाँचों कल्याणकों के समय अत्यंत भावपूर्वक जैसी भक्ति करते हैं, वैसी भक्ति/पूजा जगत् में अन्य किसी को भी प्राप्त नहीं होती, यह पूजातिशय है ।

अष्ट महाप्रातिहार्य :

५. अशोक वृक्ष : जहाँ-जहाँ श्री अरिहंत परमात्मा खड़े रहते हैं, बैठते हैं, तथा चलते हैं वहाँ-वहाँ यक्ष देवता; पत्तों से परिपूर्ण, सर्व ऋतुओं के एक साथ खिले हुए पुष्पादि से युक्त तथा ध्वजाएँ, घंटाएँ एवं पताकाओं से सुशोभित अशोक वृक्ष की रचना करते हैं । उसकी ऊँचाई भगवंत की ऊँचाई से बारह गुणी ऊँची होती है, उसका विस्तार एक योजन होता है । श्री अरिहंत के मस्तक पर शोभित तीन छत्र इस वृक्ष से झूलते हैं।

६. सुरपुष्पवृष्टि : श्री अरिहंत परमात्मा की देशनाभूमि में देवता पाँच वर्ण के विकसित मुखवाले पुष्पों की निरंतर वर्षा करते हैं । यह पुष्पवर्षा

16.वाणी के ३५ गुणों के लिए गुजराती सूत्र संवेदना-१ में परिशिष्ट - २ देखें

समवसरणभूमि में एक योजन तक एवं प्रभु के घुटने तक ऊँची फैली होती है। सैकडों लोगों के गमनागमन के बावजूद भी इन पुष्पों को भगवंत के प्रभाव से लेश मात्र भी पीड़ा नहीं होती । देवता इस पुष्पवर्षा के साथ-साथ उसकी अत्यंत शोभायमान ऐसी व्यवस्थित रचना भी करते हैं, जैसे मानों स्वस्तिक, श्रीवत्स वगैरह प्रशस्त आकृतियों का पुष्पों से निर्मित गलीचा ही हो।

७. दिव्यध्वनि : मालकोष आदि ग्राम रागों से पवित्रित श्री अरिहंत की ध्वनि, देवताओं द्वारा की गई ध्वनि से मिश्रित होकर एक योजन तक फैलती है । जिस प्रकार back-ground music से किसी गायिका की गीत ध्वनि अधिक मधुर हो जाती है, वैसे ही स्वाभाविक रूप से अमृत का सिंचन करनेवाली प्रभु की वाणी देवताओं के वाजिंत्रनाद से अत्यधिक आह्लादक बनती है ।

८. चामर (चामर श्रेणी) : जब श्री अरिहंत परमात्मा चलते हैं, तब ऊपर आकाश में चामर झूलते रहते हैं एवं जब वे समवसरण में बिराजमान होते हैं, तब उनकी चारों आकृतिओं के दोनों तरफ देवता चामर झूलाते हैं ।

९. सिंहासन : समवसरण में पाद पीठ से युक्त रत्नजडित सोने के सिंहासन पर श्री अरिहंत परमात्मा बिराजमान होते हैं । जब श्री अरिहंत परमात्मा विहार करते हैं, तब यह सिंहासन भगवंत के आगे के भाग में ऊपर आकाश में चलता है । अशोक वृक्ष के नीचे चार दिशाओं में चार सिंहासन होते हैं । हर एक के उपर मोतियों की मालाओं से सुशोभित तीन छत्र होते हैं एवं आगे धर्मचक्र होता है ।

१०. भामंडल : भगवंत के मस्तक के पीछे अत्यंत मनोहर एवं सूर्यमंडल की शोभा से भी अधिक शोभावाला भामंडल होता है । घाति कर्मों का नाश होने के बाद अरिहंत परमात्मा के मस्तक के बहुत ही नजदीक पीछे के भाग में तेजोमंडल (प्रभाओं का वर्तुल) उत्पन्न होता है । भगवंत का रूप अतितेजस्वी होता है । यह भामंडल भगवान् के अतितेजस्वी रूप को अपने में संक्रमित

कर लेता है, जिससे देखनेवालों को इस रूप का दर्शन अति दुर्लभ नहीं रहता और दर्शनाभिलाषी भगवान् को अच्छी तरह से देख सकते हैं।

११. दुंदुभि : श्री अरिहंत परमात्मा जहाँ विचरते हैं, वहाँ ऊपर आकाश में दुंदुभि की ध्वनि होती है । भगवंत जब विहार करते हैं, तब उनके प्रयाण कालीन कल्याण मंगल ध्वनि करनेवाली सतत गंभीर नाद करती हुई दिव्य दुंदुभि श्री भगवंत के आगे चलती है । उसकी आवाज से ऐसा लगता है मानो 'भगवान जहाँ हों, वहाँ प्राणियों के कर्मजन्य कष्ट कहाँ से हों ?' ऐसी घोषणा हो रही हो ।

१२. तीन छत्र : पृथ्वी, पाताल एवं स्वर्ग इन तीनों के उपर सर्वोपरि साम्राज्य का प्रतीक, शरद्ऋतु के चन्द्र जैसा अत्यंत शुभ्र, लटकती मोतियों की मालाओं की श्रेणियों से अत्यंत मनोरम एवं पवित्र तीन छत्र श्री अरिहंत परमात्मा के ऊपर होते हैं ।

श्री अरिहंत परमात्मा की अनुपस्थिति में इन प्रातिहार्यों का ध्यान परम उपयोगी बनता है । इनसे भगवान के वास्तविक स्वरूप की पहचान होती है, भक्ति भाव में वृद्धि होती है एवं आत्मविशुद्धि के उत्तरोत्तर श्रेष्ठ भाव जागृत होते हैं । श्री अरिहंत का लोकोत्तर स्वरूप, इन अष्ट महाप्रातिहार्यों एवं अतिशयों के ध्यान द्वारा अति स्पष्ट होता है । **वस्तु के अमुक ज्ञान बिना ध्यान संभव नहीं है एवं ध्यान से वस्तु का विशेष ज्ञान स्वयमेव ही अंदर से प्रगट होता है ।** इसलिए जब जब अरिहंत का ध्यान करना हो, तब इन बारह गुणों का अवश्य चिंतन[17] करना चाहिए, इससे धीरे धीरे भगवान की पहचान अपने आप हो जाएँगी । यह महापुरुषों का स्वानुभव है ।

अरिहंत का उपकार :

विश्व संचालन में सूर्य का जितना महत्त्वपूर्ण स्थान है, उससे भी अनंतगुणा महत्त्वपूर्ण स्थान श्री अरिहंत भगवंत का है, क्योंकि उन्होंने इस

17. समवसरण में चतुर्मुख अरिहंत के ध्यान की विधि गुजराती सूत्र संवेदना-१ में परिशिष्ट-३ में देखें ।

जगत् पर जैसा उपकार किया है, वैसा उपकार अन्य किसी ने नहीं किया है। जीवों में जो भी अच्छाई देखने को मिलती है, वह सब अरिहंत के प्रभाव से है ।

यदि अरिहंत न होते, जीवों के ऊपर उन्होंने अपनी करुणा न बरसाई होती, जगत् के जीवों को उन्होंने हित का मार्ग न बताया होता, शासन की स्थापना करके इस जगत् में शासन की प्रभावना न की होती, तो दया-नम्रता-संतोष-सरलता-करुणा वगैरह गुण जो भी जगत् में देखने को मिलते हैं, वे देखने को नहीं मिलते एवं ये गुण न होते, तो गुणों के कारण बंधे हुए पुण्य, पुण्य से प्राप्त होनेवाले भौतिक सुख या सद्गति की प्राप्ति भी नहीं होती ।

सागर मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता, सूर्य-चन्द्र समय से उगते हैं, ऋतुएँ अनुकूल रहती हैं, वायु अनुकूल बहती है, पाँचों भूत योग्य रीति से काम करते हैं; यह सब प्रभाव धर्म का है एवं इस जगत् में धर्म है, वह प्रभाव श्री अरिहंत का है ।

अरिहंत न होते एवं उनका प्ररूपित मार्ग न होता, तो मोक्ष की आराधना नहीं होती और उसके बिना मोक्ष भी नहीं होता, मोक्ष नहीं होता तो सिद्ध भी नहीं होते... अरिहंत न होते, तो नवपद भी नहीं होते । देवतत्त्व, गुरुतत्त्व या धर्मतत्त्व भी नहीं होते, साधक भी नहीं होते एवं साधना भी नहीं होती...

इस तरह, इस जगत् पर सब से बड़ा उपकार श्री अरिहंत का है । आज तक हुई अनंत माताओं ने हमारे ऊपर जो प्रेम बरसाया है, वह प्रेम मर्यादित एवं स्वार्थपूर्ण था, जब कि श्री अरिहंतरूप इस माता ने अपने ऊपर जो प्रेम बरसाया है, वह अमर्यादित एवं निःस्वार्थ भाव का है ।

'अरिहंत' शब्द के अलग-अलग अर्थ :

१. अरिहंताणं : 'अरि' अर्थात् शत्रु और 'हंत' अर्थात् नाश करनेवाला इस तरह जो क्रोध, मान, माया, लोभ, राग और द्वेष स्वरूप अंतरंग शत्रुओं का नाश करते हैं, वे अरिहंत कहलाते हैं ।

श्री भद्रबाहुस्वामी ने आवश्यक निर्युक्ति में **'अरिहंत'**[18] शब्द का अर्थ करते हुए कहा है कि अप्रशस्त भाव में प्रवर्तित **इंद्रियाँ,** पाँचों इन्द्रियों के **विषयभोग की इच्छाएँ,** क्रोध, मान, माया, लोभ आदि **कषाय,** भूख-प्यास आदि बाईस प्रकार के **परिषह,** शारीरिक एवं मानसिक दुःख के अनुभव रूप **वेदनाएँ** तथा मनुष्य, तिर्यंच एवं देवों के द्वारा हुए **उपसर्गरूप** अंतरंग शत्रुओं का नाश करनेवाले 'अरिहंत' कहलाते हैं ।

बाह्य शत्रु जीव की उतनी बरबादी नहीं कर पाते, जितनी रागादि अंतरंग शत्रु करते हैं । इन रागादि अंतरंग शत्रुओं के कारण ही जीव अनंतकाल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है तथा सतत अशांत और अस्वस्थ रहता है ।

जैसे राग-द्वेष आदि आत्मा के शत्रु हैं, वैसे ही राग-द्वेष के कारण आत्मा से संबंधित कर्म भी आत्मा के शत्रु हैं, क्योंकि वे आत्मा के ज्ञानादि गुणों का आच्छादन करते हैं । जीव के ज्ञानादि गुणों का आच्छादान ही जीव के लिए अरिभूत है । वैसे तो सभी कर्म शत्रुभूत हैं, फिर भी ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, मोहनीय कर्म और अंतराय कर्म, ये चार घाति कर्म सीधे आत्मिक गुणों पर प्रहार करते हैं, इसलिए उन्हें विशेष शत्रुभूत कहा जाता है । परमात्मा इन घाति कर्म रूप शत्रुओं का नाश करनेवाले हैं ।

जिज्ञासा : अरिहंत भगवतों के राग-द्वेष मोहादि नाश होने पर भी अघाति कर्म तो उनके साथ ही होते हैं और ये कर्म ही अरिहंत भगवंतों को संसार में कुछ समय के लिए बांध कर रखते हैं, तो उन कर्मों को शत्रु क्यों नहीं कहा ?

तृप्ति : मोह का नाश होते ही जन्म-मरण की परंपरारूप संसार का भी नाश होता है क्योंकि घातिकर्मों का नाश होने से अन्य अघाति कर्म अल्प सामर्थ्यवाले हो ही जाते हैं, इसलिए उनमें आत्मा के गुणों को आच्छादान करने का और कर्म की परंपरा का सर्जन करने का सामर्थ्य नहीं रहता, अतः मोह ही आत्मा का वास्तविक शत्रु है और उसका नाश होने के कारण ही, तीर्थंकर को अरि (शत्रु) के नाशक कहा गया है । घातीकर्म का नाश

18. इंद्रिय-विसय-कसाये, परीसहे वेयणा उवसग्गे । एए अरिणो हंता, अरिहंता तेण वुच्चंति.... ९९९ ।।
- आवश्यकनिर्युक्ति

करके, मार्ग की स्थापना करके, धर्म की देशना देते हुए भव्य जीवों के उपकार के लिए पृथ्वीतल पर जो विचरते हैं, वे अरिहंत कहलाते हैं ।

जिज्ञासा : केवली भगवंतों के चार घातिकर्मों का नाश हुआ है और वह भी धर्मदेशना देते हैं, तो फिर उन्हें अरिहंत क्यों नहीं कहा जा सकता ?

तृप्ति : केवली भगवंत हमेशा देशना दें, ऐसा जरूरी नहीं है । परन्तु अरिहंत भगवंत अपने पूर्व के तीसरे भव में **"सवि जीव करुँ शासनरसी"** की उच्च भावना भावित करते हैं, उसके प्रताप से तीर्थंकर के अंतिम भव में तीर्थंकर नामकर्म के विपाकोदय के समय उन्हें धर्मदेशना देनी ही पड़ती है । इस तीर्थंकर नामकर्म के फलरूप अष्टप्रातिहार्य तथा चौंतीस अतिशयों जैसी बाह्य ऋद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं । फिर भी तीर्थंकर नामकर्म का मुख्य फल श्रम का अनुभव किये बिना दिन के पहले और अंतिम प्रहर में धर्मदेशना देना ही है । इसके अलावा केवली भगवंतों को अरिहंत भगवंतों की तरह समवसरण और अष्ट प्रातिहार्य आदि नहीं होते, इसलिए 'अरिहंत' शब्द से यहाँ सामान्य केवली को ग्रहण नहीं किया जाता बल्कि जो शासन की स्थापना करके धर्मदेशना दें, उन तीर्थंकरों को ही ग्रहण किया जाता है।

२. अर्हत् : अर्हत् अर्थात् योग्य होना या लायक होना ।

श्री भद्रबाहुस्वामी ने आवश्यक निर्युक्ति में अर्हत् का अर्थ इस प्रकार किया है : जो नरेन्द्रों द्वारा स्तुति, वंदन और नमस्कार के योग्य हैं और जो सुरवरनिर्मित अशोकवृक्षादि आठ महाप्रातिहार्य रूप पूजा-सत्कार के योग्य हैं और जो सिद्धिगमन के योग्य हैं, उनको **अर्हत्** कहा जाता है ।[19]

३. अरुहंत : 'रुह' अर्थात् उगना और 'अरुह' अर्थात् न उगना। श्री हरिभद्रसूरि महाराजा पंचसूत्र की टीका में **'अरुहंताणं'**[20] का अर्थ करते हुए

---

19. अरिहंति वंदण-नमंसाई, अरिहंति पूय-सक्कारं । सिद्धिगमणं च अरहंता तेण वुच्चंति ।।९२१।।
- श्री भद्रबाहुस्वामी कृत आवश्यक निर्युक्ति

20. न रोहन्ति, न भवाङ्कुरोदयमासादयन्ति, कर्मबीजाभावादिति अरुहाः ।
नोंध : अरिहंत के अरुहंताणं-अरहंताणं आदि नाम पाठांतर से प्राप्त हैं ।

कहते हैं कि, कर्मरूपी बीज सर्वथा जल जाने से अर्थात् सर्व कर्मों का नाश होने से जिनका भवरूपी अंकुर नहीं उगता अर्थात् जिनका अब कभी जन्म होनेवाला नहीं है, वे **अरुहंत** कहलाते हैं ।

४. अरहंत : 'रह' अर्थात् एकान्त या गुप्त स्थान तथा "अंत" अर्थात् अंदर का भाग । अतः अरहंत अर्थात् जिनकी दृष्टि में अतिगुप्त ऐसा वस्तु-समूह के अंदर का भाग भी अदृश्य नहीं है याने कि ऐसा एक भी गुप्तस्थान नहीं है, जो वे नहीं जानते । जो सर्वज्ञ हैं, वही **अरहंत** हैं ।

अथवा 'अरहंताण'[21] अर्थात् राग का क्षय होने से किसी भी पदार्थ पर आसक्ति नहीं धारण करने वाले तथा ('रह' धातु का अर्थ 'त्याग करना' करे तो) 'अरहंत' का अर्थ, प्रकृष्ट राग तथा द्वेष के कारणभूत मनोहर विषयों का संपर्क होने पर भी वीतरागता वगैरह जो अपना स्वभाव है, उसका त्याग नहीं करनेवाले ऐसा भी होता है ।

५. अरथान्त : 'रथ' शब्द के उपलक्षण से सर्व परिग्रह का ग्रहण करना है । 'अन्त' अर्थात् मरण और 'अ' अर्थात् 'नहीं' । अर्थात् जिन्हें परिग्रह और मरण तथा उपलक्षण से जिनका पुनर्जन्म भी नहीं है, वे **अरथान्त** ।

जिज्ञासा : यहाँ 'अरिहंताणं' अर्थात् 'अरिहंतों को' ऐसा बहुवचन का प्रयोग क्यों किया है ?

तृप्ति : अरिहंत एक ही है अर्थात् ईश्वर एक ही है, ऐसा जो मानते हैं, उनके मत का खंडन करने के लिए ऐसे बहुवचन का प्रयोग किया है । अनंतकाल की अपेक्षा से तो अरिहंत अनंत है तथा व्यवहारनय से बहुत से अरिहंतों की पूजा, स्तुति, नमस्कार करने से शुभभावों की वृद्धि होती है और इस शुभ भाव से विशेष निर्जरारूप फल की प्राप्ति होती है, इसलिए बहुवचन का प्रयोग किया गया है ।

21.'अरहंताणं'त्ति । क्वचिदप्यासक्तिमगच्छदभ्यः क्षीणरागत्वात् (अत्र रहि गतौ) अथवा अरहयद्भ्यः प्रकृष्टरागादिहेतुभूतमनोज्ञेतरविषयसंपर्केऽपि वीतरागत्वादिकं स्वं स्वभावमत्यजद्भ्यः इत्यर्थ । (अत्र रह त्यागे) - आवश्यक निर्युक्ति

अरिहंत का ध्यान किस वर्ण से और क्यों :

अरिहंत भगवंतों का ध्यान श्वेत, उज्ज्वल वर्ण से किया जाता है, क्योंकि

१. जिस प्रकार वर्णो में श्वेतवर्ण प्रधान है, वैसे ही पंच परमेष्ठी में अरिहंत प्रधान है, इसलिए उनका ध्यान श्वेत वर्ण से किया जाता है ।

२. अरिहंत सब कष्टों, परिषहों, उपसर्गों को अत्यन्त धीरता से सहन करते हैं, इसलिए वे सात्त्विक वृत्तिवाले होते हैं । ऐसे सात्त्विक वृत्तिवाले उत्तम पुरुषों का रक्त, मांस आदि भी उज्ज्वल, शांत और स्थिर होता है । अतः आन्तरिक वृत्तियों को जीतनेवाले, महान अतिशयसंपन्न अरिहंत भगवान का शुक्लवर्ण से ध्यान करना चाहिए ।

३. अपना लक्ष्य राग-द्वेष आदि दोषों से मलिन बनी हुई आत्मा को उज्ज्वल बनाने का है, इसलिए उज्ज्वल गुणों को जिन्होंने प्राप्त किया हैं, ऐसे अरिहंत का ध्यान भी उज्ज्वल वर्ण से करना चाहिए । जिससे हम भी अरिहंत के उज्ज्वल गुणों को प्राप्त कर सकें ।

सभी अरिहंत बाह्य शरीर की दृष्टि से श्वेतवर्ण के होते हैं, वैसा नहीं है परन्तु साधना करनेवाले साधक के लिए बाह्य आकृति से ज्यादा अंतरंग गुणसमृद्धि उपकारक है । अंतरंग उज्ज्वल आत्मस्वरूप का ध्यान करने के लिए अंतरंग गुणों का लक्ष्य रखकर अरूपी आत्मा का **निरालंबन** ध्यान जब तक सम्भव नहीं है, तब तक उज्ज्वल गुणसमृद्धि के स्मरण के लिए उपकारक उज्ज्वल बाह्य रूप का '**सालंबन**' ध्यान किया जाता है ।

'नमो अरिहंताणं' बोलते हुए करने योग्य भावना :

यह पद बोलते हुए साधक अनंत अरिहंत भगवंतों तथा उनके उपकारों को याद करके, नमस्कार करते हुए सोचता है,

'हे प्रभु ! आप इस जगत् में सर्वश्रेष्ठ हैं । आपने ही मुझे सुख का मार्ग बताया, दुःख को मिटाने का सत्य उपाय समझाया है,

इसलिए आप मेरे परम उपकारी हैं, वंदनीय हैं, स्तवनीय हैं, चिंतनीय हैं, माननीय हैं... आप ही ध्यान करने योग्य हैं । यह जानता हूँ फिर भी मानादि दोषों के कारण नम्र बनकर आप की वास्तविक स्तवना आदि नहीं कर सकता । आप के जैसा सुख नहीं पा सकता ! हे प्रभु ! मेरे दोषों को बताकर उन्हें दूर करने का सामर्थ्य आप मुझमें प्रकट करें, यही अभ्यर्थना है ।'

नमो सिद्धाणं[22] - सिद्ध भगवंतों को नमस्कार हो ।

जिन्होंने परम आनंदरूप, महोत्सवरूप, महाकल्याणरूप, अनुपम सुख को शुक्ल ध्यान एवं योगनिरोध जैसे महाप्रयत्न से सिद्ध किया हो, उनको सिद्ध कहते हैं । यह सुख सिद्ध परमात्माओं ने आठ प्रकार के कर्मों को क्षय करके प्राप्त किया है । कर्म से मुक्त होने के कारण उनको जन्म नहीं लेना पड़ता या शरीर के पिंजरे में रहना नहीं पड़ता । शरीर न होने के कारण शरीर से होनेवाले रोग-शोक-जरा-मरण जैसे कोई दुःख उनको कभी भी सहन नहीं करने पड़ते[23] । केवलज्ञानादि गुणों के स्वामी होने के कारण उनको कुछ जानने के लिए मन की भी आवश्यकता नहीं पडती । मन नहीं होने के कारण उन्हें मानसिक आधि या उपाधि की भी कोई पीड़ा नहीं होती । संक्षेप में, सिद्ध भगवंत सदा सुखी होते हैं । संसार के तमाम भावों एवं तमाम प्रवृत्तियों से पर उनका चैतन्य स्वरूप मात्र है । उनकी चेतना निराकुल एवं स्वस्थ परिणामवाली होती है । यह निराकुल स्थिर चेतना ही सिद्ध परमात्मा के अनंत सुख का कारण है । ऐसी निराकुल चेतना-(शुद्धस्वरूप) - आठ कर्मों के क्षय से प्रकट होती है एवं उसी कारण सिद्ध के जीवों में आठ गुण प्रकट होते हैं ।

---

22. यह दूसरा पद दूसरे अध्ययन रूप है । इसमें 'नमो' एवं 'सिद्धाणं' ऐसे दो पद तथा कुल पाँच अक्षर हैं, इसमें 'नमो' अर्थ पूर्ववत् जानना ।

23. सिद्धाणि परमाणंदमहूसवमहाकल्लाणनिरुवमसोक्खाणि णिप्पकंपसुक्कज्झाणाइअचिंतसत्ति-सामत्थओ सजीववीरिएणं जोगनिरोहाइणा महापयत्तेण त्ति सिद्धा ।। - सिरि महानिसीहसुत्त
नित्थि(च्छि)न्नसव्वदुक्खा, जाई-जरा-मरण-बंध-विमुक्का। अव्वाबाहं सुक्खं, अणुहवंति सासयं सिद्धा ।। ९८८ ।। - आवश्यक निर्युक्ति

सिद्ध के आठ गुणों का वर्णन :

आठ कर्मों के क्षय से सिद्ध आठ गुणों से युक्त बनते हैं ।

१. **ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से अनंतज्ञान** प्राप्त होता है । इसके द्वारा वे तीनों कालों के, चराचर जगत् के, रूपी - अरूपी पदार्थों को तथा उनके सर्व पर्यायों को अपने हाथ में रहे हुए आँवले (या जल की बुंद) की तरह विशेष प्रकार से पहचान सकते हैं ।

२. **दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से अनंत दर्शन** उत्पन्न होता है । इसके कारण वे सर्व पदार्थों का सामान्य स्वरूप देख सकते हैं ।

३. **वेदनीय कर्म के क्षय से अव्याबाध सुख** की प्राप्ति होती है। वेदनीय कर्म शरीर रूप पुद्गल को शाता-अशाता उत्पन्न करवाता है । सिद्ध भगवंत को वेदनीय कर्म का अभाव होने के कारण शरीरकृत कोई पीड़ा नहीं होती और ऐसी पीड़ा का नाश होने के कारण ही वे अव्याबाध (बाधारहित) आत्मिक सुख का अनुभव करते हैं ।

४. **मोहनीय कर्म के क्षय से अनंत चारित्र** की प्राप्ति होती है । मोहनीय कर्म सत्श्रद्धा और सत्प्रवृत्ति का बाधक है, उसके क्षय से आत्मा को अनंत चारित्र गुण की प्राप्ति होती है । इस गुण के कारण वे सदैव अपने आत्मस्वरूप में लीन रहते हैं । मोहनीय कर्म के अभाव से स्व स्वरूप में रमण करते हुए आत्मा में वीतरागता का गुण प्रकट होता है ।

५. **आयुष्य कर्म के क्षय से अक्षय स्थिति** की प्राप्ति होती है । जैसे किसी व्यक्ति के पैर में जंजीर डाल दी जाए, तो जंजीर उस व्यक्ति को एक स्थान पर जकड़ कर रखती है, वैसे ही यह कर्म भी जीव को भिन्न-भिन्न गति में मर्यादित समय तक अपने शिकंजे में रखता है और आयुष्य पूर्ण होने पर जीव दूसरी गति में चला जाता है । आयुष्यकर्म के क्षय से सिद्धावस्था में क्षय न होनेवाली स्थिति अर्थात् अक्षयस्थिति प्राप्त होती है ।

६. **नामकर्म के क्षय से अरूपी अवस्था** पैदा होती है । इस कर्म के कारण ही जीव अलग-अलग रूप धारण करता है और उसके द्वारा ही सुखी और दुःखी होता है और उसके क्षय से अरूपी अवस्था प्राप्त होती है।

७. **गोत्र कर्म के क्षय से अगुरुलघु गुण** प्राप्त होता है । गोत्रकर्म के कारण जीव को उच्च-नीच (गुरु-लघु) भाव की प्राप्ति होती है । उसके क्षय से अगुरुलघु गुण प्रकट होता है ।

८. **अंतराय कर्म के क्षय के कारण अनंतवीर्य** पैदा होता है । यह कर्म आत्मा के दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य के गुण को नाश करता है । जब इस कर्म का नाश होता है, तब आत्मा में अनंत दान, लाभ, भोगादि गुण प्रकट होते हैं । इन गुणों के द्वारा सिद्ध परमात्मा अनंत जीवों को अभयदान देते हैं । उन्हें अनंत गुणों का लाभ होता है । प्राप्त ज्ञानादि गुणों का वे भोग और उपभोग करते हैं और स्वगुणों में ही रमण करने में उनका अनंत वीर्य प्रवर्तित होता है ।

संक्षेप में, अविनाशी अनंत सुख को धारण करने के कारण सिद्ध परमात्मा भव्य आत्माओं को अतिशय प्रमोद उत्पन्न करवाते हैं । इस प्रकार भव्य आत्मा को वे अत्यंत उपकारक होने के कारण नमस्करणीय[24] हैं और भव्य जीवों के लिए आत्मविशुद्धि के अंतिम आदर्शभूत हैं । श्री अरिहंत भगवंत भी अपने निर्वाण के बाद सिद्धावस्था को प्राप्त करते हैं ।

सिद्धात्मा के सुख का वर्णन :

सिद्ध परमात्मा को जानने के लिए उनके सुख को जानना पड़ता है, उनकी स्थिर-निराकुल चेतना को जानना पड़ता है; परन्तु संसारी जीवों के लिए इस सुख को जानना मुश्किल है । इसलिए उनको वास्तविक सुख कैसा होता है - उसका ज्ञान ही नहीं होता । शांतचित्त से यदि संसारी एवं सिद्ध के सुख की तुलना की जाए, तो बुद्धि में सिद्ध के परम सुख की एक झलक उठ सकती है ।

---

24. नमस्करणीयता यैषामविप्रणाशिज्ञानदर्शनसुखवीर्यादिगुणयुक्त तया स्वविषयप्रमोद-प्रकर्षोत्यादननेन भव्यानामती वोपकार हेतुत्वादिनी ।।

- श्री अभयदेवसूरि रचित भगवतीसूत्र वृत्ति

संसारी जीवों को जो भी सुख प्राप्त होता है, वह पराधीन है । उसमें पुण्य, पुद्गल एवं परव्यक्ति की अपेक्षा रहती है एवं वह सुख भी इच्छा, उत्सुकतारूप दुःख के बाद प्राप्त होता है । पहले किसी वस्तु की इच्छा होती है, उससे संसारी जीवों की चेतना आकुल-व्याकुल होती है । उसके बाद अगर पुण्य हो तो जीव को वह वस्तु मिलती है एवं मिलने के बाद इच्छा की पूर्ति होने से दुःख हलका होता है । इस प्रकार उसे दुःख की अल्पता रूप सुख का थोड़े समय के लिए अनुभव होता है । परन्तु फिर नवीन इच्छा उत्पन्न होती है, इच्छापूर्ति न हो तब तक दुःख होता है, वस्तु मिलने पर थोड़े समय सुख लगता है... इस प्रकार परपदार्थ विषयक इच्छा की पूर्ति से संसारी को क्षणवर्ती दुःख के शमनरूप सुख लगता है एवं कभी इच्छापूर्ति न हो तो दुःख में वृद्धि भी होती है । परन्तु सिद्धगति प्राप्त जीवों (सिद्धों) को ऐसी कोई मोहकृत इच्छा नहीं होती । **इच्छा, मोह से हुआ विकार है । अनिच्छा आत्मा का स्वभाव है ।** इसलिए सिद्ध भगवंतो की आत्मा को ऐसी इच्छा से होनेवाली आकुलता-व्याकुलता का कोई दुःख नहीं होता, मात्र निराकुल शुद्ध चेतना होती है । स्थिरभाव युक्त यह चेतना उनको अनंतकाल तक अनंत सुख एवं स्वाभाविक आनंद देती है। उनके ऐसे सुख की तुलना किसी संसारिक सुख के साथ नहीं हो सकती ।

सिद्ध अवस्था का सुख तो कर्मरोग के संपूर्ण नाश से होनेवाली निरोगी अवस्था का तात्त्विक (आत्मिक) सुख है । जब कि संसारियों का माना हुआ सुख तो कर्मरोग से होनेवाला पौद्गलिक सुख है । संसारी जीवों के इस सुख की तुलना शास्त्रकारों ने खुजली के दर्दी को खुजलाने से जो सुख मिलता है, उस सुख के साथ की है । जैसे खुजली के दर्दी को जब खुजली उठती है तब उसे बहुत खुजलाने का मन होता है । ये खुजलाना उसे बहुत अच्छा लगता है । इसलिए वो खुजलाने की क्रिया करता है, जिससे उसे आनंद होता है । पर खुजलाने के बाद उसे अत्यंत जलन एवं ज्यादा खुजली आती है, फिर भी वह खुजलाना नहीं छोड़ सकता। इसी तरीके से संसारी जीवों को मोहनीय कर्मरूप खुजली लागू हुई है । इस मोहनीय कर्म

के कारण संसारी जीव को नित्य नई-नई इच्छाओं रूपी खुजली पैदा होती है । फिर उन इच्छाओं की पूर्ति करने के लिए जीव यथाशक्ति प्रयत्न करता है । उसमें उसको मेहनत करनी पड़ती है, व्यथा होती है, वह विह्वल भी होता है । इन सभी दुःखों के बाद अंत में इच्छा पूरी होने पर वह आनंदित हो जाता है एवं मुझे सुख मिला ऐसा संतोष मानता है ।

वास्तव में यह सुख नहीं, सुखभास है । मात्र इच्छा, व्यथा के नाशरूप क्षणिक दुःख का प्रतिकार है । मोहनीयकर्म की प्रबलता संसारी जीव को यह समझने ही नहीं देती कि उत्पन्न हुई ये इच्छाएँ ही रोग हैं । इनके कारण आत्मा सच्चे सुख को कभी भी प्राप्त नहीं कर सकती । जब कि सिद्ध भगवंतो ने तो मात्र मोहनीय कर्म का ही नहीं, परन्तु सर्व कर्मरूपी रोगों का नाश किया होता है । इसलिए उनको ऐसे क्षणिक, दुःख मिश्रित एवं मात्र काल्पनिक सुख की आवश्यकता नहीं होती बल्कि उनको तो **निरंतर, दुःख के अभाववाला, वास्तविक, ऐकांतिक एवं आत्यंतिक अनंत सुख की प्राप्ति होती है ।**

जिनका मोह मंद हुआ हो, वैसे योगी पुरुष ऐसे सुख का आंशिक अनुभव कर सकते हैं और इसलिए वास्तविक अर्थ में ऐसे योगी ही सिद्ध परमात्मा को समझकर उनकी भक्ति कर सकते हैं, कोई और नहीं । 'हाँ' योगी होने की इच्छावाले और मोहनीयकर्म का त्याग करने की भावनावाले भी सिद्ध परमात्मा की भक्ति करें, तो अवश्य लाभ हो सकता है ।

ऐसे सर्व गुणसंपन्न सिद्ध परमात्मा को स्मृति पटल में केन्द्रित कर, यदि उनको भावपूर्वक नमस्कार किया जाए, तो धीरे-धीरे अपनी चेतना भी आकुलता के बिना स्थिर सुख के लिए प्रयत्न करने लगती है एवं उसके फलस्वरूप हमें भी सिद्धभाव की प्राप्ति हो सकती है ।

सिद्धों का उपकार :

लोक व्यवस्था इस प्रकार की है कि, कोई भी एक जीव जब सिद्धिगति को प्राप्त करता है, तब एक जीव अव्यवहार राशि में से निकलकर व्यवहार

राशि में आता है । हम भी इसी तरह किसी एक जीव की सिद्ध गति के कारण ही अव्यवहार राशि में से निकल कर व्यवहार राशि में आए है एवं यहाँ आकर आत्मिक प्रगति सिद्ध कर सकते हैं ।

इसके अतिरिक्त मोक्ष में गए हुए सिद्ध परमात्मा हमारे लिए पुष्ट=दृढ आलंबनरूप है। उनके आलंबन से याने उनको लक्ष्य बनाकर हम भी अपना शुद्ध स्वरूप पाने के लिए प्रबल पुरुषार्थ कर सकते हैं। उनका स्मरण या ध्यान करके हम भी कर्मसमूह को भेदकर उनके जैसे बन सकते हैं । यही उनका हमारे ऊपर सबसे बड़ा उपकार हैं ।

तदुपरांत सर्व साधकों का लक्ष्य सिद्ध अवस्था है । सिद्ध भगवंत सर्व साधकों के लिए परम आदर्शरूप हैं । उनको लक्ष्य बनाकर साधना करनेवाले साधक अवश्य सिद्ध अवस्था प्राप्त करते हैं । सिद्ध भगवंतों का यह सर्वश्रेष्ठ उपकार है । इसीलिए प.पू. देवचन्द्रजी महाराज ने कहा है -

"सकल सिद्धता ताहरी रे, मारे साधन रूप"

- संभवनाथजी स्तवन

सिद्धों का स्थान :

सिद्ध के जीव आठ कर्मों के भार से हलके होने के बाद लोक के अग्रभाग में स्थिर होते हैं क्योंकि जीव का स्वभाव ही ऊर्ध्वगमन का है, तो भी जब तक जीव कर्म के भार से दबा हुआ है, तब तक वह कर्मानुसार ही प्रवृत्ति करता है । जब कि सिद्ध भगवंत कर्म से संपूर्णतया मुक्त हैं । अग्नि, तुंबडा वगैरह के दृष्टांत से जीव कर्मरहित होने के साथ ही ऊर्ध्वगति करता है । कर्मरहित जीव का ऊर्ध्वगमन का स्वभाव होने से वे ऊपर लोक के अग्रभाव में स्थिर होते हैं । वहाँ से आगे अलोक आता है एवं अलोक में गति-सहायक धर्मास्तिकाय, स्थिति-सहायक अधर्मास्तिकाय न होने के कारण अलोक में सिद्ध की आत्मा गति नहीं कर सकती या स्थिर भी नहीं रह सकती । इसलिए चौदह राजलोक के अंत पर अग्रभाग में शुद्ध, निर्मल स्फटिक की ४५ लाख योजन

लम्बी-चौड़ी एवं बीच में आठ योजन मोटी एवं किनारे में मक्खी के पंख सी पतली (तवे के आकारवाली) सिद्धशिला है । उसके ऊपर के भाग में याने लोक के अग्रभाग का स्पर्श करते हुए १६६$^{२}/_{३}$ धनुष्य प्रमाण आकाश में कर्मरहित ऐसे सिद्ध के जीव स्थिर होते हैं । सिद्धशिला के ऊपर अनंत सिद्ध एक साथ, एक जगह पर एक ही आकाश प्रदेश का अवगाहन करके रहते हैं।

जिज्ञासा : जहाँ एक सिद्ध आत्मा होती है, वहाँ दूसरे अनंत सिद्ध की आत्माएँ कैसे समा सकती हैं ?

तृप्ति : जैसे एक कमरे में एक दीपक की रोशनी हो और उसी कमरे में हजारों दीपक की रोशनी की जाए, तो उनका प्रकाश भी उसी कमरे में समाविष्ट हो जाता है, वैसे ही सिद्ध भगवंत की आत्माएँ शरीर आदि पुद्गल से रहित होने के कारण परस्पर एक दूसरे के आत्मप्रदेश में समाविष्ट हो जाती हैं ।

ढाई द्वीप के प्रमाण ४५ लाख योजन की लंबाइ-चोड़ाईवाली और ठीक ढाई द्वीपके ऊपर रही हुई सिद्धशिला का कोई भी भाग ऐसा नहीं है, जहाँ अनंत सिद्ध न हो ।

जिज्ञासा : ढाई द्वीप में पन्द्रह कर्मभूमि में से ही सिद्ध हो सकते हैं, तो इसके अतिरिक्त दूसरे भाग में अथवा लवण आदि समुद्र के ऊपर के भाग में जो सिद्धशिला का भाग है, उस भाग में अनंत सिद्ध कैसे हो सकते हैं ?

तृप्ति : वैसे तो १५ कर्मभूमि में से ही जीव सिद्धगति में जा सकता है, यह राजमार्ग अथवा सामान्य विधान है । परन्तु कभी कोई देव किसी जीव का अपहरण करके अथवा अपने अपकार या उपकार का बदला लेने के लिए किसी साधक जीव को अन्य भूमि में रखे, या लवण समुद्र की भूमि पर ले जाए, तब यह जीव वहाँ रहकर, विशुद्ध अध्यवसाय में लीन होते हुए, शुक्लध्यान की प्राप्ति करके, आयुष्य पूर्ण करके, वहाँ से सीधे ऊँचे चढ़कर उसी आकाश प्रदेश की श्रेणी से अस्पृश्य गति से मोक्ष में जाता है, तब उस भूमि के ऊपर ही जो सिद्धशिला का भाग होता है, उस पर वह

स्थिर हो जाता है । अनंतकाल की दृष्टि से सोचें, तो ऐसा अनंतबार होने की संभावना है । इस प्रकार कर्मभूमि के सिवाय के स्थान पर भी अनंत सिद्ध हो सकते हैं ।

सिद्ध जीवों की संख्या :

एक समय में अधिक से अधिक १०८ जीव सिद्धावस्था को प्राप्त कर सकते हैं तथा ज्यादा से ज्यादा ६ महीने के भीतर एक जीव अवश्य सिद्धावस्था को प्राप्त करता है अर्थात् दो सिद्ध जीवों के बीच का विरहकाल अधिक से अधिक ६ मास का होता है । अभी तक अनंत जीवों ने सिद्ध गति प्राप्त की है एवं भविष्य में भी अनंत जीव सिद्धगति प्राप्त करेंगे । ऐसा होने के बावजूद जब भी अरिहंत भगवंत को पूछा जाए कि कितने जीव सिद्ध हुए हैं ? तो एक ही जवाब मिलता है एक निगोद के अनन्तवें भाग जितने जीव ही सिद्ध हुए हैं ।

'सिद्ध' शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ :

१. "सि" = सितं अर्थात् बांधे हुए "द्ध" = ध्मातं; जिन्होंने बहुत दीर्घ काल से बंधे हुए आठ प्रकार के कर्मरूपी ईंधन को अति उग्र शुक्लध्यान रूपी अग्नि से जलाकर नाश कर दिया हो, वे सिद्ध हैं[25] ।

२. "षिध्" = निष्ठा, जो सर्वथा कृतकृत्य हो चुके हैं, जिनका कोई भी कार्य अधूरा नहीं है, वे सिद्ध कहलाते हैं ।

३. "सिद्ध" अर्थात् प्रख्यातं - प्रसिद्ध; जिनके गुणसमूह को भव्यजीव अच्छी तरह पहचानते हैं, उनको सिद्ध कहते हैं ।

'षिध्' धातु गति, शास्त्र, मंगल आदि अर्थ में उपयोग किया जाता है, इसलिए इससे बने सिद्ध शब्द के निम्नलिखित अर्थ भी होते हैं ।

---

25. ध्मातं सितं येन पुराणकर्म यो वा गतो निर्वृतिसौधमूर्ध्नि
ख्यातोऽनुशास्ता परिनिष्ठितार्थो यः सोऽस्तु सिद्धः कृतमङ्गलो ।।
- श्री अभयदेवसूरिरचिता भगवतीसूत्र वृत्ति

४. "सिद्ध" = गति, संसार में पुनः न आना पड़े,

इस तरह जो मोक्ष नगरी में गए हैं, मोक्षगति प्राप्त की है, वे सिद्ध हैं ।

५. "सिद्ध" = शास्त्र-शासक; जो अपनी आत्मा का संपूर्ण शासक हो। शासक शास्त्र होता है, इसलिए सिद्ध ही शास्त्र हैं ।

६. "सिद्ध" = मंगल, जो मंगल स्वरूप हैं, वे सिद्ध हैं ।

७. "सिद्ध" = नित्य; जिनकी स्थिति का अंत नहीं होता, वे सिद्ध हैं ।

सिद्ध पहले या अरिहंत :

जिज्ञासा : अरिहंत भगवंतों का भी अंतिम लक्ष्य सिद्ध अवस्था है, तो जो मुख्य हों, उन्हें प्रथम नमस्कार करना चाहिए - ऐसे न्याय के अनुसार सिद्ध को पहले नमस्कार करना चाहिए, क्योंकि सिद्ध सर्वथा कर्म से मुक्त होने से कृतकृत्य हैं । तो फिर पहले अरिहंत भगवंत को नमस्कार क्यों किया गया है?

तृप्ति : जगत के हर एक प्राणी के ऊपर अरिहंत भगवंतों का अलौकिक उपकार है । वे तीर्थ का प्रवर्तन करके मोक्ष का मार्ग बताने स्वरूप महान उपकार करते हैं । इसके अलावा, सिद्ध की आत्माएँ भी अरिहंतों के उपदेश से ही चारित्र को स्वीकार कर, कर्मरहित होकर सिद्धगति को प्राप्त करती हैं तथा अरिहंतों के उपदेश द्वारा ही सिद्ध भगवंत पहचाने जाते हैं । इसलिए प्रथम अरिहंत भगवंतों को नमस्कार करके उसके बाद सिद्ध भगवतों को नमस्कार करना योग्य है ।

व्यवहारनय की अपेक्षा से पहले अरिहंत का स्थान आता है, बाद में सिद्ध का एवं निश्चयनय की अपेक्षा से पहले सिद्ध, बाद में अरिहंत हैं । साधना करने के लिए व्यवहार का स्वीकार कर निश्चय तक पहुँचना है, इसलिए यहाँ प्रथम अरिहंत पद को स्थान दिया है ।

जिज्ञासा : सिद्ध भगवंत, अरिहंत के उपदेश से जाने जाते हैं, इसलिए प्रथम अरिहंत को नमस्कार करने को कहा गया है, तो वर्तमान काल में

आचार्य के उपदेश द्वारा अरिहंत पहचाने जाते हैं, तो क्या आचार्य को पहले नमस्कार करना चाहिए ?

तृप्ति : आचार्य में उपदेश देने का सामर्थ्य अरिहंत के उपदेश से ही आता है । आचार्य स्वतंत्र रूप से अर्थ नहीं जानते, इसलिए परमार्थ से तो अरिहंत ही सर्व अर्थों को जाननेवाले हैं । तथा **आचार्य वगैरह तो अरिहंत की पर्षदारूप हैं,** इसलिए आचार्य को नमस्कार करके, अरिहंत भगवंत को नमस्कार करना ठीक नहीं है । कोई भी मनुष्य पर्षदा को प्रणाम करने के बाद राजा को प्रणाम नहीं करता, इसलिए प्रथम अरिहंत भगवंत को ही नमस्कार करना योग्य है ।

सिद्ध का ध्यान किस वर्ण से और क्यों ? :

सिद्ध भगवंत का ध्यान लाल वर्ण से होता है, क्योंकि -

१. मंत्र शास्त्र में रक्तवर्ण को वशीकरण का हेतु माना गया है । सिद्धात्मा योगी पुरुषों को आकर्षित कर रहे हैं, मुक्तिवधु को भी आकर्षित कर रहे हैं, इसलिए उनका वर्ण रक्त मानकर उनकी उसी प्रकार आराधना करनी चाहिए।

२. गरम किया हुआ और मैल रहित शुद्ध, सुवर्ण जैसे लालवर्ण का हो जाता है, वैसे ही सिद्ध भगवंत भी तप द्वारा आत्मा को तपाकर सर्व कर्मक्षय करके निर्मल और विशुद्ध बनते हैं, इसलिए उनका ध्यान रक्तवर्ण से करना चाहिए ।

३. तंदुरुस्त, रोग रहित, मनुष्य जैसे लाल बूंद जैसा होता है, वैसे ही सिद्ध भगवान कर्मरोग से सर्वथा रहित होने के कारण आरोग्य के प्रतीकरूप होते हैं, इसलिए उनका ध्यान रक्तवर्ण से करना चाहिए ।

'नमो सिद्धाणं' बोलते समय करने योग्य भावना :

यह पद बोलते हुए अनंत सिद्ध भगवंतों को स्मृति पट पर लाकर नमस्कार करते हुए सोचना चाहिए,

"हे परमात्मा ! मूल स्वरूप से तो मैं भी आप जैसा ही हूँ ।
साधना करके आपने अपना स्वरूप प्रकट किया है और मैंने

सतत उसको कर्म से आच्छादित किया है । इसीलिए अनंत ज्ञान, अनंत सुख आदि गुणों की समृद्धि का मैं अनुभव नहीं कर सकता । आप की परम सुखमय अवस्था को लक्ष्य बनाकर मैं साधना करने का प्रयत्न करता हूँ । परन्तु मुझे उसमें सफलता नहीं मिलती । प्रभु ! कृपा करके मैं सफल होऊँ, ऐसा सत्त्व मुझ में प्रकट कीजीए ।"

नमो आयरियाणं[26] - 'आचार्य भगवंतों को नमस्कार हो'

अरिहंत प्रभु की अनुपस्थिति में शासन का भार आचार्य भगवंत वहन करते हैं । शासन के सब कार्य उनकी सलाह के अनुसार होते हैं । श्री जैन शासन रूपी गगनमंडल में से तीर्थंकरदेवरूपी सूर्य और सामान्य केवलीरूपी चन्द्र अस्त होने के पश्चात् तीन लोक में स्थित पदार्थों को प्रकाशित करने के लिए आचार्य भगवंत दीपक समान हैं। वे जैन शासनरूपी राजभवन में राजा के स्थान पर हैं । सर्वशास्त्र के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव तथा उत्सर्ग-अपवाद के वे ज्ञाता हैं । उनका मुख्य गुण शुद्ध मार्ग की प्ररूपणा करने का है ।

इसीलिए महामहोपाध्यायजी आचार्य भगवंत का वर्णन करते हुए कहते हैं-

'शुद्ध[27] प्ररूपक गुण थकी जे जिनवर सम भाख्या रे'

आचार्य भगवंत जब उपदेश देते हैं, तब सतत उनके सामने जिनागम होता है । जिनवचन के विरुद्ध एक भी शब्द बोलने से कितने भवभ्रमण बढ़ जाते हैं, उसका ख्याल होने से वे भगवान के वचनानुसार ही बोलते हैं।

आचार्य भगवंत विशेष प्रकार से पाँच आचारों का पालन स्वयं करते हैं एवं दूसरों से भी करवाते हैं । श्री भद्रबाहुस्वामीने[28] बताया है कि आचार्य

26. यह तीसरा पद तीसरे अध्ययन रूप है, उसमें 'नमो' - 'आयरियाणं' ये दो पद तथा सात अक्षर है ।

27. पद्मविजयजी कृत नवपद पूजा ।

28. पंचविहं आयारं, आयरमाणा तहा पभासंता । आयारं दंसंता, आयरिया तेण वुच्चन्ति ।।९९४।।
- आवश्यक निर्युक्ति

पंचविध आचार को चरितार्थ करनेवाले तथा प्ररूपणा करनेवाले हैं, तथा साधु प्रमुख को विशिष्ट आचार दर्शानेवाले होने से, उन्हें आचार्य कहते हैं ।

शासन के नायक होने से आचार्य भगवंत को बहुत मान-सन्मान-सत्कार मिलता है, किन्तु वे उसमें आसक्त नहीं होते । शासन प्रभावना के लिए होनेवाले उत्सव महोत्सव में उनकी उपस्थिति होने पर भी उन्हें उसकी आकांक्षा नहीं होती । वे सतत कर्मनिर्जरा की अपेक्षावाले होने से शासन के कार्यों के बीच भी अंतर से अप्रतिबद्ध (अलिप्त) रहते हैं । संक्षिप्त में, आचार्य पद के तमाम उत्तरदायित्व निभाते हुए भी सिद्धत्व के लक्ष्य को सामने रखकर, सब कार्यों द्वारा स्व और पर का आत्महित करनेवाले होते हैं ।

आचार्य के छत्तीस गुण :

पंचिंदिय सूत्र में आचार्य के मुख्य छत्तीस गुणों का वर्णन किया गया हैं। आचार्य पाँच इन्द्रियों के विकार को निग्रह करनेवाले, ब्रह्मचर्य की नौ गुप्ति को धारण करनेवाले, चार कषायों से मुक्त, पाँच महाव्रतों के धारक, पाँच आचारों का पालन करनेवाले, पाँच समिति एवं तीन गुप्ति युक्त ३६ गुणों से सुशोभित होते हैं । शास्त्र में तो ऐसे ३६ गुणों का ३६ प्रकार से वर्णन किया गया है ।

आचार्य के दो प्रकार :

आचार्य भगवंत भी मुख्यतया दो प्रकार के होते हैं - द्रव्याचार्य एवं भावाचार्य । शास्त्रों में आचार्य के जो सामान्य गुण बताए हैं, वे भी जिनमें न हों, वे द्रव्याचार्य हैं एवं शास्त्र में जिन गुणों का वर्णन किया गया है, उन गुणों से युक्त हों, वे भावाचार्य कहलाते हैं । इस सूत्र द्वारा ऐसे भावाचार्यों को ही नमस्कार करना है, द्रव्याचार्यों को नहीं; क्योंकि भावाचार्य को किया गया नमस्कार ही कर्मनिर्जरा का एवं गुणप्राप्ति का कारण बनता है । द्रव्याचार्य को नमस्कार करने से आत्मा को कोई विशेष फायदा नहीं होता।

आगम आधारित भावाचार्य का स्वरूप :

शास्त्रकारों ने अनेक तरीके से भावाचार्य का वर्णन किया है । महानिशीथ सूत्र के पाँचवें अध्ययन में भावाचार्य को तीर्थंकरादि के तुल्य कहा गया है । गच्छ के अधिपति आचार्य कैसे गुणों से युक्त होते हैं, वह महानिशीथ आगम के निम्नलिखित वचनों से जाना जा सकता है ।

"हे भगवंत[29] ! कैसे गुणों से युक्त गुरु को गच्छ सौंपना चाहिए ?"

"हे गौतम ! जो उत्तम व्रतवाले, सुशील, दृढ़व्रतवाले, दृढ़ चारित्रवाले, अनिंदित अंगवाले, परिग्रह रहित, राग रहित, द्वेष रहित, मोह-मिथ्यात्व रूप मल के कलंक से रहित, उपशांत, संसार के स्वरूप को भलीभाँति जाननेवाले, महावैराग्य के मार्ग में अतिशय लीन, स्त्री-कथा, भक्त-कथा, स्तेन-कथा, राज-कथा एवं देश कथा के शत्रु, अत्यंत अनुकंपाशील, परलोक के अनर्थों से भयभीत, कुशील के दुश्मन, शास्त्र के भावों के जानकार, शास्त्र के रहस्यों के ज्ञाता, रात-दिन प्रतिसमय अहिंसादि लक्षणवाले, क्षमादि दस प्रकार के श्रमणधर्म में स्थित, रात-दिन हर समय बारह प्रकार के तपधर्म में उद्यमी, सतत पाँच समिति में अच्छी तरह से उपयोग रखनेवाले, सतत तीन गुप्तियों से सुगुप्त, स्व-शक्ति से (शक्ति छिपाए बिना) अठारह हजार शीलांगों के आराधक, स्व शक्ति से सतरह प्रकार के संयम के एकांत से अविराधक, उत्सर्गरुचि, तत्त्वरूचि, शत्रु-मित्र में समताभाववाले, सात भय स्थानों से अत्यंत मुक्त, आठ मदस्थानों से मुक्त, नव ब्रह्मचर्यगुप्ति की विराधना से भयभीत, बहुश्रुत, आर्यकुल में जन्म प्राप्त किए हुए, दीनता, कृपणता एवं प्रमाद से रहित, साध्वी वर्ग का संसर्ग न करनेवाले, सतत धर्मोपदेश देनेवाले, सतत ओघसामाचारी प्ररूपक, साधु मर्यादा में स्थित, सामाचारी भंगभीरु, आलोचना के योग्य जीवों को प्रायश्चित्त देने में समर्थ, वंदन, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, व्याख्यान, आलोचना, उद्देश्य एवं समुद्देश्य इन सात मांडली की विराधना के जानकार, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-भवांतर के

29. महानिशीथ का यह पाठ गुरुतत्त्व विनिश्चय उ. १. गा-३० की टीका में साक्षी रूप में उद्धृत हैं।

अंतर को जाननेवाले, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के आलंबन से अत्यंत मुक्त, बाल-वृद्ध-ग्लान-नवदीक्षित-साधर्मिक एवं साध्वी - इन सब को मोक्षमार्ग की आराधना में प्रवर्तन करने में कुशल, ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप आदि गुणों के प्रभावक, दृढ सम्यक्त्ववाले, सतत (परिश्रमादि करते हुए भी) खेद न करनेवाले, धैर्य रखने में समर्थ, गंभीर, अतिशय सौम्य कांतिवाले, तपरूप तेज से सूर्य की तरह दूसरों से पराजित न होनेवाले, खुद का शरीर क्षीण होने पर भी षट्काय के समारंभ का त्याग करनेवाले, दान-शील-तप-भावरूप चतुर्विध धर्म के अंतराय से डरनेवाले, सर्व प्रकार की आशातना के भीरू, ऋद्धि-रस-शाता इन तीन गारव एवं आर्त्त-रौद्र इन दो ध्यान से अत्यंत मुक्त, प्रतिकूल संयोग उपस्थित होते हुए भी - अन्य की प्रेरणा होते हुए भी - अन्य के कहने से भी पाप न करनेवाले, बहुत निद्रा न लेनेवाले, बहु भोजन न करनेवाले, सर्व आवश्यक में - स्वाध्याय में - ध्यान में - प्रतिमा में एवं अभिग्रह से नहीं उबनेवाले, घोर परिषह-उपसर्गों में खेद या भयभीत न होनेवाले, योग्य का संग्रह करने के स्वभाववाले, अयोग्य का त्याग करने की विधि के जानकार, मजबूत शरीरवाले, स्व-पर शास्त्र के मर्म के जानकार, क्रोध-मान-माया-लोभ-ममता-रति-हास्य-क्रीडा-काम-अहितवाद इन सबसे अत्यंत मुक्त, संसारवास एवं विषयों की अभिलाषावाले जीवों को धर्मकथा में रुचि उत्पन्न करवानेवाले एवं भव्य जीवों को प्रतिबोध करनेवाले हो, ऐसे व्यक्ति को गच्छ सौंपना योग्य हैं । इन उपर्युक्त गुणों से युक्त साधु ही गणी है, गणधर है, तीर्थ है, तीर्थंकर है, अरिहंत है, केवली है, जिन है, तीर्थ प्रभावक है, वंद्य है, पूज्य है, नमस्करणीय है, दर्शनीय है, परम पवित्र है, परम कल्याण है, परम मंगल है, सिद्धि है, मुक्ति है, शिव है, मोक्ष है, रक्षक है, सन्मार्ग है, गति है, संकल्प है, सिद्ध, मुक्त, एवं पारंगत है । गौतम ! इन्हें गण निक्षेप की अनुज्ञा देनी चाहिए । अन्यथा आज्ञा भंग होता है ।

उपर्युक्त विशिष्ट गुणसंपन्न व्यक्ति को ध्यान में रखकर, उनके गुणों के प्रति बहुमान भाव प्रगट करके, उनके गुणों की प्राप्ति के लिए उनको किया हुआ

नमस्कार भाव नमस्कार रूप बनता है । इसलिए, "नमो आयरियाणं" पद बोलते हुए भूतकाल में हो चुके, वर्तमान में विचरते हुए एवं भविष्य में होनेवाले गुणसंपन्न आचार्य भगवंतों को ध्यान में लेकर, उनमें रहे हुए गुणों की प्राप्ति एवं स्वदोषनाश के लिए प्रणिधानपूर्वक भावाचार्य को नमस्कार करना है ।

आचार्य शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ :

आचार्य शब्द के अर्थ भी शास्त्र में भिन्न भिन्न प्रकार से बताए गए हैं -

१. **आ** = मर्यादापूर्वक **चर्यते** = सेवा की जाती है । जैनशासन के अर्थ के उपदेशक होने के कारण तत्त्व के अभिलाषी जिनकी विनयपूर्वक सेवा करते हैं, वे आचार्य हैं ।

२. **आ** = मर्यादा से, **चार** = विहार । जो मासकल्प आदि मर्यादा से विहार रूप आचार के पालन में चतुर हैं, तथा जो अन्य को भी उस आचार पालन का उपदेश देते हैं, वे आचार्य कहलाते हैं ।

ऐसे गुणसंपन्न आचार्य भगवंत श्री अरिहंत देव द्वारा मोक्ष की प्राप्ति के लिए बताए गए आचारों का यथार्थरूप से पालन करते हैं और करवाते हैं, इसलिए आचार्य भगवंत नमस्करणीय हैं ।

आचार्य का ध्यान किस वर्ण से और क्यों :

आचार्य का ध्यान पित्त वर्ण से करना चाहिए क्योंकि-

१. जैनशासन के दीपक समान हैं । आचार्य दीपक की लौ (शिखा) पित्तवर्णी होती हैं । इसलिए पित्त (पीले) वर्ण से इस पद की आराधना होती हैं।

२. आचार्य जैनशासन में राजा तुल्य है । जैसे राजा सुवर्ण अलंकारों से विभूषित होकर पित्तवर्ण जैसे दीखते हैं, वैसे ही आचार्य छत्तीस गुण रूप अलंकार से विभूषित होने के कारण उनका ध्यान पित्तवर्ण से किया जाता है।

३. जैसे दुश्मनों पर विजय प्राप्त करनेवाले को हल्दी का उबटन लगाया जाता है, वैसे ही आचार्य भगवंत भी परवादी को जीतकर विजय प्राप्त करते हैं, इसलिए उनका ध्यान पित्तवर्ण से किया जाता है ।

४. परवादी रूपी हाथियों के झुंड को भगाने के लिए आचार्य केशरी सिंह के समान हैं, सिंह की केशरा पीली होती है । इसलिए भी आचार्य का ध्यान पित्तवर्ण से किया जाता है ।

५. मंत्रशास्त्र में पित्तवर्ण को स्थंभन के लिए श्रेष्ठ माना है । आचार्य परवादियों का स्थंभन करनेवाले होते हैं । इसलिए उनका ध्यान पित्तवर्ण से किया जाता है ।

'नमो आयरियाणं' पद बोलते समय करने योग्य भावना :

यह पद बोलते हुए साधक जैनशासन की उज्ज्वल परंपरा में अतीत में हो चुके तथा वर्तमान शासन की धुरा को वहन करनेवाले सर्व आचार्य भगवंतों को स्मरण में लाकर प्रार्थना करें,

"हे भावाचार्य भगवंतों ! आप अपनी शक्ति द्वारा कितनों को सन्मार्ग पर लाते हैं । आप स्वयं तो ज्ञानादि गुणों के कारणभूत आचारों का सुन्दर पालन करते हैं एवं अनेकों को करवाते भी हैं, आप का भक्त होकर भी मैं सन्मार्ग को समझ नहीं पाया और ऐसे आचारों का पालन भी नहीं कर पाया । हे भगवंत ! आप को नमस्कार करके प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझ में ऐसा बल प्रगट करें कि, मैं सन्मार्ग में स्थिर होकर अपनी आत्मा का कल्याण करूँ ।"

नमो उवज्झायाणं[30] - उपाध्याय भगवंतों को नमस्कार हो ।

उपाध्याय भगवंत ४५ आगम के ज्ञाता होते हैं । वे जिनोक्त द्वादशांगी का अध्ययन करते हैं तथा सूत्र, अर्थ, उभय का विस्तार करने में लीन रहते हैं । गुरु परंपरा से प्राप्त जिनवचनों का अध्यापन करवाने के लिए वे सदैव प्रयत्नशील होते हैं, वे सूत्र प्रदान द्वारा समुदाय में ज्ञान गंगोत्री बहाकर सबको नवपल्लवित रखते हैं ।

30. यह चौथा पद चौथा अध्ययन रूप है उसमें 'नमो', 'उव', 'ज्झायणं' ये तीन पद तथा सात अक्षर हैं ।

उपाध्याय भगवंतों में मुख्य दो गुण होते हैं - विनय और सूत्र प्रदान करना है । उनमें उच्चतम कोटि का विनय होता है और अपने विनय द्वारा वे शिष्यवर्ग को विनय सिखाते हैं । तथा आचार्य भगवंत के पास से उनको जो ज्ञानादि की प्राप्ति हुई हो उनको वे गच्छ में प्रदान करने द्वारा सुंदर विनयन भी करते हैं ।

श्री भद्रबाहुस्वामी ने बताया है कि, जिन बारह अंगवाले स्वाध्याय की अर्थ से जिनेश्वर प्ररूपणा करते हैं एवं सूत्र से जिनको बुधों द्वारा = गणधरों द्वारा कहा गया है, उस स्वाध्याय का शिष्यों को उपदेश देनेवाले उपाध्याय[31] कहलाते है ।

महानिशीथ सूत्र में बताया है कि, जिन्होंने आस्रव के द्वारों को बंद किया है, मन, वचन एवं काया के तीनों योगों में जो उपयोगवाले हैं, मात्रा, बिंदु, पद एवं अक्षरों से विशुद्ध द्वादशांगीरूप श्रुतज्ञान का विधिपूर्वक अध्ययन एवं अध्यापन करने के द्वारा जो अपने और दूसरों के मोक्ष का उपाय ध्यान में रखते हैं, वे उपाध्याय कहलाते हैं ।

उपाध्याय भगवंत आचार्य पद के अत्यंत समीप होते हैं । परवादी को जीतने में वे माहिर होते हैं । आचार्य भगवंत समस्त संघ के कार्यों में व्यस्त रहते हैं, इसलिए समग्र गच्छ के संचालन का कार्य उपाध्याय भगवंत संभालते हैं । सारणा-वायणा-चोयणा-पडिचोयणा द्वारा वे सर्व साधुओं को सन्मार्ग में प्रवर्तमान करने का कार्य करते हैं । आचार्य भगवंत जैनशासन के राजा समान हैं और उपाध्याय भगवंत अमात्य-मंत्री-युवराज समान हैं ।

उपाध्याय भगवंत संसार के भावों से अलिप्त होते हैं और गच्छवर्ती शिष्यों को भी सूत्र प्रदानादि द्वारा संसार के भावों से अलिप्त रखने का प्रयत्न करते हैं । उनका भी मुख्य ध्येय तो सिद्ध अवस्था ही है । इसलिए सिद्ध अवस्था की प्राप्ति के लिए जरूरी निराकांक्षता, निर्विकल्पता, परम समता आदि गुणों के लिए वे सतत प्रयत्नशील रहते हैं ।

---

31. बारसंगो जिणक्खाओ, सज्झाओ कहिओ बुहेहिं । तं उवइसन्ति जम्हा, उवज्झाया तेण वुच्चन्ति ।।९९७।। (आ.नि.)

संक्षेप में, श्री अरिहंत भगवंतों द्वारा प्ररूपित एवं गणधर भगवंतों द्वारा गूंथित श्रुतज्ञान का यथार्थ अध्ययन करके, उपाध्याय भगवंत अन्य साधु-मुमुक्षुओं को योग्य शिक्षण देते हैं । इसलिए वे नमस्करणीय हैं ।

विनय एवं सूत्र-प्रदान आदि विशेष गुणयुक्त उपाध्याय भगवंतों को ध्यान में लाकर, उनके विविध गुणों को प्राप्त करने के संकल्प के साथ उनको नमस्कार किया जाए, तो अपने मान-अज्ञान आदि दोषों का नाश होता है एवं ज्ञान, नम्रता आदि गुणों का विकास होता है ।

उपाध्याय के २५ गुण :

ऐसे उपाध्याय भगवंतों के २५ गुण होते हैं । ११ अंग एवं १२ उपांग के जानकार, चरण-सित्तरी अर्थात् उत्तम चारित्र को हमेशा पालनेवाले तथा करणसित्तरी अर्थात् प्रसंग के अनुसार क्रिया करनेवाले, इस तरह २५ गुण होते हैं । शास्त्र में इन २५ गुणों का भी २५ प्रकार से वर्णन है ।

'उपाध्याय' शब्द के भिन्न भिन्न अर्थ :

१. **"उपाध्याय"** शब्द में तीन शब्द हैं : **उप+अधि+इ** इसमें **'उप'** अर्थात् समीप 'अधि' अर्थात् आधिक्य एवं 'इ' धातु के तीन अर्थ होते हैं : अध्ययन करना, जानना एवं स्मरण करना, उसमें जब 'इ' धातु का अर्थ **'अध्ययन करना'** करें तब, जिसके पास जाकर शास्त्र अध्ययन कर सकते हैं, उनको उपाध्याय कहते हैं । जब 'इ' का अर्थ **'जानना'** करें तब, जिनके पास जाकर आत्मा के नज़दीक हो सकें या आत्मा को जान सकें, उनको उपाध्याय कहते हैं । इसके अलावा जब 'इ' अर्थात् **'स्मरण करना'** ऐसा अर्थ करते हैं तब, जिनके पास जाकर शास्त्र का स्मरण कर सकें, वे **'उपाध्याय'** कहलाते हैं ।

२. **उप** = उपयोगपूर्वक, **आ** = समन्तात् और **ध्याय** = ध्यायन्ति अर्थात् जो उपयोगपूर्वक ध्यान करते हैं, वह उपाध्याय कहलाते हैं ।

३. **'उप समीपे अधिवसनात् श्रुतस्यायो लाभो भवति येभ्यस्ते उपाध्यायाः'**

उप = समीप में **अधि** = **अधिवसनात्** = निवास करने के कारण, **आय** = लाभ अर्थात् जिनके समीप निवास करने से श्रुत का लाभ होता है, उनको उपाध्याय कहते हैं ।

४. **उप** = उपहत = नाश करना, **आधि** = मन की पीडा, **आय** = लाभ अर्थात् जिनके द्वारा मन की पीड़ा के लाभ का या दुर्ध्यान के लाभ का नाश होता है, उन्हें उपाध्याय कहते हैं ।

५. **उप** = नाश करना, **अधि** = कुबुद्धि, **आय** = लाभ अर्थात् जिनके द्वारा कुबुद्धि के लाभ का नाश किया जाता है, उन्हें उपाध्याय कहते हैं ।

६. **उ** = उपयोगपूर्वक **व** = पाप का वर्जन करना, **ज्झा** = ध्यान करना **य** = कर्मों को दूर करना अर्थात् उपयोगपूर्वक पाप को छोड़कर ध्यानारूढ़ होकर जो कर्मों को दूर करते हैं, उन्हें उपाध्याय कहते हैं ।

७. **उपाधि** अर्थात् सुंदर विशेषण, **आय** = लाभ - जिनके पास (पढ़ने से) सुंदर विशेषणों का लाभ होता है, उन्हें उपाध्याय कहते हैं ।

उपाध्याय भगवंत का ध्यान किस वर्ण से और क्यों :

उपाध्याय भगवंतों का नीलवर्ण से ध्यान किया जाता है, क्योंकि,

१. नीलमणि की प्रभा जैसी शांत और मनोरम होती है, वैसे ही उपाध्याय भगवंत की कांति प्रशांत और मनोरम होती है ।

२. जैसे पानी के सिंचन से हराभरा हुआ बगीचा अनेक लोगों के चित्त को आकर्षित करता है और मन को शांति देता है, वैसे ज्ञानरूपी जल से शिष्यों का सिंचन करते हुए उपाध्याय भगवंत समुदाय को हराभरा रखकर अनेकों के चित्त को आकर्षित करते हैं और अनेक आत्माओं को शांति और समाधि प्रदान करते हैं ।

३. मंत्रशास्त्र में अशिव उपद्रव को दूर करने के लिए नीलवर्ण को श्रेष्ठ बताया गया है । उपाध्याय भगवंत ज्ञानमार्ग में आनेवाले उपद्रव को दूर करते हैं, इसलिए नीलवर्ण से उनका ध्यान किया जाता है ।

'नमो उवज्झायाणं' बोलते समय करने योग्य भावना :

यह पद बोलते हुए उपाध्याय भगवंतों के गुणों को याद करके उनको वंदन करते हुए साधक सोचता है कि,

"धन्य हैं उपाध्याय भगवंत ! वे ज्ञान के भंडार हैं, फिर भी उनमें कभी भी मान का अंश भी नहीं होता । गच्छ के मूलाधार हैं, फिर भी सत्ता जताने की कोई इच्छा नहीं होती । आचार्य भगवंत के प्रति उनका विनय, गच्छ के प्रति उनका वात्सल्य एवं ज्ञानप्रदान करने का उनका बड़ा योगदान देखते हुए मस्तक अहोभाव से झुक जाता है । हे भगवंत ! इस भव में औदार्य, औचित्य वगैरह आप जैसी गुणसंपत्ति प्राप्त करने का तो मेरा सामर्थ्य नहीं है तथा सौभाग्य भी नहीं है। इसीलिए आपसे एक प्रार्थना करता हूँ, भगवंत ! मेरे मान को तोड़ने में एवं विनय गुण प्रकट करने में आप मेरी सहायता करें ।"

नमो लोए सव्व-साहूणं[32] - लोक में स्थित सभी साधु भगवंतों को नमस्कार हो ।

'लोए' पद का अर्थ 'लोक में' ऐसा होता है **'लोक्यतेऽसौ इति लोकः'**- जो दिखता है, जो जाना जाता है वह लोक । जीव समूह जिसमें रहें अथवा धर्मास्तिकाय आदि पाँच अस्तिकाय जहाँ होते हैं, उसे लोक कहते हैं । इस प्रकार अर्थ करने से चौदह राजलोक में जितने क्षेत्र हैं, उन्हे लोक कहते हैं । परन्तु साधु भगवंत १४ राजलोक में नहीं रहते । वे तो मात्र $२^{१}/_{२}$ द्वीप में ही रहते हैं । इसलिए, यहाँ लोक शब्द से मात्र मनुष्यलोक ग्रहण करना है। लब्धिसंपन्न साधु भगवंत मनुष्यलोक के बाहर आ-जा सकते हैं; परन्तु वहाँ रहते नहीं हैं, इसलिए साधु मनुष्यलोक में रहते हैं; वैसा कहा जाता है ।

---

32. यह पाँचवां पद पाँचवें अध्ययनरूप है । उसमें 'नमो', 'लोए', 'सव्व' एवं 'साहूणं' ये चार पद एवं ९ अक्षर हैं ।

'सर्व साधु' शब्द से सामायिकादि विशेषण से युक्त प्रमत्त, अप्रमत्त, जिनकल्पिक, प्रतिमा कल्पिक, यथाच्छंद कल्पिक, परिहारविशुद्धिकल्पिक, स्थविर कल्पिक, स्थित कल्पिक, कल्पातीत, प्रत्येकबुद्ध, स्वयंबुद्ध, बुद्ध-बोधित, भरत वगैरह क्षेत्र के एवं सुषमा, दुषमा वगैरह काल के सर्व प्रकार के साधुओं को समझना है ।

साधु का स्वरूप :

जो अनंतज्ञानादि स्वरूप शुद्ध आत्मतत्त्व को प्रकट करने की साधना करते हैं, वे साधु कहलाते हैं । जो पाँच महाव्रतों को धारण करते हैं, तीन गुप्तियों से सुरक्षित हैं एवं उत्तर गुणों का पालन करते हैं, वे साधु परमेष्ठि हैं ।

साधु भगवंत ४२ दोषों से रहित शुद्ध आहार की गवेषणा करते हैं । वे पाँचों इन्द्रियों के २३ विषयों[33] एवं उनके २५२ विकारों के वश नहीं होते । षट्काय जीवों का रक्षण वे अपने प्राण से भी अधिक करते हैं एवं दूसरों से भी करवाते हैं । सत्रह भेद से विशिष्ट ऐसे संयम की आराधना करते हैं । सर्व जीवों पर निरंतर दयाभाव रखते हैं । ब्रह्मचर्य की ९ प्रकार की गुप्ति का पालन करते हैं तथा बारह प्रकार के तप में पुरुषार्थ करते हैं । सदैव आत्मकल्याण का ही लक्ष्य रखते हैं तथा जनरंजन एवं लोकपूजन की कामना से सर्वथा विरक्त रहते हैं ।

साधु भगवंतों का भी मुख्य लक्ष्य सिद्ध अवस्था ही है । सिद्ध अवस्था संसार के तमाम भावों से अलग है । इसलिए मुनि भी संसार के तमाम भावों से मन को अलिप्त रखने के लिए हमेशा मेहनत करते हैं । सिद्ध अवस्था में चेतना संपूर्ण निराकुल होती है । इसी कारण से मुनि किसी भी संयोग में मन आकुल-व्याकुल न बने, इसके लिए सतत जागृत रहते हैं । ज्यादातर मुनि गुप्ति में ही रहते हैं । जरूरत पड़ने पर, समिति का आश्रय लेकर कार्य करते हैं । अनावश्यक लोगों का आवागमन वे पसंद नहीं

33. इन्द्रियों के २३ विषय और उनके विकारों की विचारणा पंचिदिय सूत्र में दी गई है ।

करते है । उत्सव - महोत्सव की भी आकांक्षा नहीं रखते । अपनी कर्मनिर्जरा के लिए यदि कोई गुणवान भक्ति करे, महोत्सव आदि करे, तो उसका निषेध भी नहीं करते । मुनि भगवंत मुख्य मार्ग से कर्मनिर्जरा का कारण बने, सदैव वैसी ही क्रिया करते हैं ।

दस प्रकार के यतिधर्म का पालन करते हुए, १८००० शीलांग[34] को वहन करते हुए, इच्छा - मिच्छादि दस प्रकार की समाचारी का पालन करते हुए ये मुनि भगवंत उत्तम चित्तवृत्ति को धारण करते हैं । ऐसे उत्तम चित्तवृत्ति के धारक मुनि को हृदयस्थ करके उनके प्रति अत्यंत बहुमान भाव प्रगट करके, भाव से उनको नमस्कार करने से **अपने हृदय में विद्यमान संसार के भाव धीरे-धीरे नाश होते हैं और आत्मा संयमभाव के अभिमुख होती है ।**

साधु भगवंत के २७ गुण :

शास्त्र में सामान्य से साधु भगवंतों के २७ गुण कहे हैं । पांच महाव्रतों को धारण करनेवालें[5], रात्रि भोजन विरमण व्रत को पालनेवालें[6], छः काय

34. अट्ठारह हजार शीलांग :

गाथा - **"जे नो करंति मणसा, निज्जियआहारसन्नसोइंदी**
पुढवीकाय समारंभे, खंतिजुआ ते मुणी वंदे ।"

समझ : पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, अजीवकाय इन १० काय को ।

क्षमा, मार्दव, ऋजुता, मुक्ति, तप, संयम, सत्य, शौच, आकिंचन, ब्रह्मचर्य इन १० यतिधर्म से गुणाकार करने पर १०० होते हैं ।

इसके बाद उसको स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, श्रोतेन्द्रिय इन पाँचों से गुणाकार करने पर ५०० होते हैं ।

इसको आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा, परिग्रह संज्ञा इन ४ से गुणाकार करने पर २००० होते हैं । इन्हें मन, वचन, काय से गुणाकार करने पर ६००० होते हैं ।

उनको करना-कराना-अनुमोदना - इन तीन करण के साथ गुणाकार करने पर १८००० होते हैं।

(१० काय x १० यतिधर्म x ५ इन्द्रिय x ४ संज्ञा x ३ योग x ३ करण = १८०००)

के जीवों की रक्षा करनेवाले[१२], पाँच इन्द्रियों पर संयम रखनेवाले[१७], तीन गुप्तियों का पालन करनेवाले[२०], लोभ का निग्रह करनेवाले[२१], क्षमा के धारक[२२], निर्मल चित्तवाले[२३], वस्त्रादि की शुद्ध पडिलेहणा करनेवाले[२४], संयम योग में उद्युत[२५], परिषहों को सहन करनेवाले[२६] तथा उपसर्गों को सहन करनेवाले[२७].

साधु शब्द के भिन्न भिन्न अर्थ :

लोच, विहारादि अत्यंत कष्टकारक क्रियाएँ करते हुए, घोर तप आदि अनुष्ठानों द्वारा अनेक व्रत, नियम, विविध प्रकार के अभिग्रह से युक्त होकर, जो संयम का पालन करते हैं तथा सम्यक् प्रकार से परिषह - उपसर्गादि कष्टों को सहन करते हुए जो मोक्ष की साधना करते हैं, वे साधु[35] कहलाते हैं ।

श्री भद्रबाहुस्वामी ने कहा है कि, जिस कारण से साधु निर्वाण साधक योगों की साधना करते हैं और सर्व प्राणियों के ऊपर समवृत्ति (को) धारण करते हैं, इस कारण से वे भावसाधु[36] कहलाते हैं ।

ज्ञानादि शक्ति के द्वारा जो मोक्षमार्ग की साधना करते हैं, सर्व जीवों के ऊपर जो समान बुद्धि धारण करते हैं और संयम पालन करनेवाली आत्माओं की जो सहायता करते हैं, वे साधु हैं ।

'सव्व' शब्द का प्रयोजन :

यहाँ एक बात उल्लेखनीय है कि - अरिहंताणं, सिद्धाणं, आयरियाणं उवज्झायाणं और साहूणं-इन पाँचों पदों में बहुवचन का उपयोग किया गया है । फिर भी चार पदों में 'सव्व' शब्द नहीं है, जब कि पाँचवें पद में 'सव्व' शब्द का उपयोग किया गया है, इसके भी कई विशिष्ट कारण हैं ।

---

35. स्व-परहितं मोक्षानुष्ठानं वा साधयतीति साधुः ।

36. निव्वाण - साहुए जोगे, जम्हा साहन्ति साहुणो ।
समो य सव्वभुएसु, तम्हा ते भावसाहुणो । ।।१००२।।

एक तो सामान्य केवली भगवंतों का ग्रहण अन्य किसी पद में नहीं होता है । उनका समावेश इस पद में करने के लिए 'सव्व' शब्द का प्रयोग है । केवली भगवंत - अरिंहत के समान अतिशय और ऋद्धिवाले नहीं होते, इसलिए वे अरिहंत नहीं होते । उनके आठ कर्मों का नाश नहीं होने के कारण सिद्ध पद में भी उनका समावेश नहीं होता । वे आचार्य भगवंत की तरह शासन की समग्र धुरा वहन करने का कार्य नहीं करते । इसलिए आचार्यपद में भी उनका समावेश नहीं होता ।

- केवलज्ञान के बाद वे उपाध्याय भगवंत की तरह किसी को पठन-पाठन करवाने का कार्य भी नहीं करते, इसलिए उपाध्याय पद में भी उनका समावेश नहीं होता ।

इसी कारण से सामान्य केवली भगवंतों को साधु पद में ग्रहण करके, उनको भी नमस्कार करने के लिए **'सव्व'** शब्द का प्रयोग किया गया है ।

इसके अलावा 'सव्व' शब्द का अर्थ 'सर्वज्ञ संबंधी' करके; जो सर्वज्ञ भगवंत द्वारा बताए हुए मार्ग पर चल रहे हैं, राग-द्वेषादि कषाय के नाश के लिए जो उद्यम कर रहे हैं, ऐसे साधुओं का ही इस पद में समावेश किया गया है, अन्य का नहीं । इससे यह निश्चित होता है कि यहाँ मात्र वेशधारी को वंदन नहीं किया जाता; बल्कि जो साधु के गुणों से युक्त हैं, उन सभी को वंदन करने के लिए **'सव्व'** पद रखा गया है ।

सभी गुणवान पुरूष किसी भी भेदभाव के बिना नमस्कार करने लायक हैं, यह बताने के लिए भी यहाँ सर्व शब्द का प्रयोग किया गया है । इसी न्याय से 'सर्व' शब्द का अन्वय अरिहंत वगैरह पदों में भी समझना चाहिए। इस तरह लोए शब्द का अन्वय भी पाँचों पदों के साथ करके, उसके द्वारा संपूर्ण क्षेत्र में रहे हुए त्रिकालवर्ती अरिहंतादि पाँचों परमेष्ठियों को नमस्कार करना है ।

सव्व साहूणं के भिन्न-भिन्न अर्थ :

'सव्व-साहूणं' शब्द के विविध अर्थ इस प्रकार से समझाए जा सकते हैं -

१. सव्व = श्रव्य, **साहू** = अच्छी तरह से; याने जो अपने जीवन में जिनवचन को अच्छी तरह सुनते हैं उन्हें सव्व-साहू कहा जाता हैं ।

२. सव्व = स्रव्य = अनुकूल **साहू** = निपुण अर्थात् मोक्ष के अनुकूल कार्य करने में जो कुशल हो, निपुण हो, वह साधु है ।

३. सव्व = सर्व **साहू** = साधे अर्थात् सर्व शुभ योगों की जो साधना करता है, वह साधु है।

ऐसे साधु भगवंतों श्री अरिहंत देवों द्वारा प्ररूपित चारित्र धर्म का स्वीकार कर निर्वाण के लिए सदा प्रयत्नशील रहते हैं । इसलिए वे नमस्करणीय हैं।

साधु का किस वर्ण से ध्यान करना और क्यों ?

साधु भगवंतों का ध्यान अषाढी मेघ जैसे श्याम वर्ण से करना चाहिए, क्योंकि -

१. आचार्य पद रूपी सुवर्ण की परीक्षा साधुधर्म रूपी कसौटी के पत्थर से होती है । वह कसौटी का पत्थर श्याम होता है, इसलिए साधु का ध्यान श्यामवर्ण से होता है ।

२. जैसे शत्रु के साथ युद्ध करने के लिए जानेवाले सैनिक श्याम वर्ण के लोहे का कवच पहनते हैं, वैसे कर्मशत्रु के साथ युद्ध करने के लिए जानेवाले साधक-साधु, जैनशासन में सैनिक जैसे हैं, इसलिए उनका ध्यान श्याम वर्ण से किया जाता है ।

३. जो अत्यन्त परिश्रम करता है, वह श्याम बन जाता है । साधु भी मोक्ष की साधना के लिए तीव्र परिश्रम करते हैं, इसलिए श्याम हैं।

४. आत्मसाधक साधु बाह्य शारीरिक मलिनता के प्रति घृणा या अरूचि नहीं रखते और उसे दूर करने का प्रयास भी नहीं करते । मलरूपी परिषहों को इस तरह सहने के कारण साधु श्याम लगते हैं, इसलिए उनका ध्यान श्याम वर्ण से किया जाता है ।

'नमो लोए सव्व साहूणं' बोलते समय करने योग्य भावना :

यह पद बोलते हुए लोक में रहे हुए सर्व साधु भगवंतों को ध्यान में लाकर साधक सोचता है -

"मुनि भगवंत मोक्षमार्ग की कितनी सुंदर साधना कर रहे हैं तथा मोक्षमार्ग में वे कितने सहायक बनते हैं । मोक्षमार्ग की आराधना करने की वृत्ति या अन्य की सहायता करने की उदारवृत्ति मेरे में नहीं है, तो भी उनको किए हुए इस नमस्कार द्वारा मेरी स्वार्थवृत्ति दूर हो एवं मोक्षमार्ग पर चलने का सत्त्व प्रगट हो, ऐसी प्रार्थना करता हूँ ।"

पंच परमेष्ठी की पूज्यता :

इन पाँच पदों द्वारा जिनको नमस्कार किया गया है, उन अरिहंतादि में निम्नोक्त पाँच गुणों के कारण पूज्यता है ।

१. संसार रूप गहन वन में भ्रमण करते-करते पीड़ित जीवों को **श्री अरिहंत भगवंत** सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यग्चारित्र स्वरूप परमपद का मार्ग बतातें हैं, इसलिए वे **मार्गदर्शक** हैं । मार्ग की देशना द्वारा सर्व जीवों पर उपकार करने के कारण अरिहंत भगवंत पूज्य हैं ।

२. **सिद्ध परमात्मा अविनाशी** अनंत चतुष्टय को धारण करते हैं, ध्रुव के तारे की तरह भव्य आत्माओं के अत्यन्त उपकारक होने के कारण सिद्ध भगवंत पूज्य हैं।

३. **आचार्य भगवंत** भी भव्य जीवों को ज्ञानादि **आचार** के उपदेशक होने के कारण उपकारी हैं, इसलिए वे पूजनीय हैं ।

४. **उपाध्याय भगवंत** अपने शिष्यों को जिनोक्त शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन करवाने में सदा तत्पर रहते हैं और शिष्यों को **विनय** गुण सिखाते हैं, इस प्रकार उपाध्याय भगवंत भव्य जीवों के अत्यन्त उपकारी हैं, इसलिए वे नमस्करणीय हैं ।

५. **साधु भगवंत** मोक्षमार्ग में सहायक होने के कारण भव्य आत्माओं के परम उपकारक हैं, इसलिए वे पूजनीय हैं ।

प्रथम पाँच पद संबंधी जिज्ञासा :

जिज्ञासा : प्रथम पाँचों पदों में प्रत्येक पद के साथ 'नमो' पद रखा है । इसके बदले यदि एक ही पद में नमो पद का कथन किया होता, तो बाकी के चारों पदों में 'नमो' अध्याहार से (by inference) ग्रहण किया जा सकता था, तो फिर प्रत्येक पद में 'नमो' पद रखने का क्या प्रयोजन है ?

तृप्ति : श्री नमस्कार महामंत्र तीन प्रकार से गिना जा सकता है । पूर्वानुपूर्वी, अनानुपूर्वी और पश्चानुपूर्वी । इसमें पूर्वानुपूर्वी से गिनने से प्रथम पद के 'नमो' पद का प्रयोग शेष चारों पद में अध्याहार से आ सकता है । लेकिन पश्चानुपूर्वी और अनानुपूर्वी से गिनती करने पर 'नमो' पद का अन्य पाँचों पद में प्रयोग करना जरूरी बनता है । इसलिए प्रत्येक पद में 'नमो' रखा गया है ।

जिज्ञासा : पाँच को नमस्कार करना क्यों जरूरी है ? यदि संक्षेप सें करना हो, तो सिद्ध और साधु को करना चाहिए, क्योंकि साधुपद में अरिहंत, आचार्य और उपाध्याय तीनों का समावेश हो ही जाता है; क्योंकि अरिहंतादि में भी साधुता होती ही है और अगर विस्तार से नमस्कार करना हो, तो ऋषभादि तीर्थंकर भगवान के व्यक्तिगत नामोच्चारणपूर्वक करना चाहिए ?

तृप्ति : जिस तरह मनुष्य को नमस्कार करने से राजा इत्यादि को नमस्कार करने का फल प्राप्त नहीं होता, उसी तरह मात्र साधु को नमस्कार करने से अरिहंतादि को नमस्कार करने का फल प्राप्त नहीं होता । इसलिए अरिहंत, आचार्य, उपाध्याय का साधु में समावेश होने पर भी विशेष लाभ के हेतु से अलग-अलग नमस्कार किया जाता है और अगर व्यक्तिगत नमस्कार करें, तो व्यक्ति अनंत होने से प्रत्येक का नाम ग्रहण करके नमस्कार करना असंभव है ।

जिज्ञासा : श्री नवकार मंत्र के इन पाँचों पदों में अन्वय के अनुरूप 'अरिहंताणं नमो' इत्यादि पाठ न रखकर 'नमो अरिहंताणं' पाठ क्यों रखा?

तृप्ति : "नमो" शब्द विनय को प्रकट करता है । धर्मरूपी वृक्ष का मूल विनय है । वंदन अथवा नमस्कार द्वारा यह विनय प्रकट होता है, इसलिए यहाँ **"धर्म प्रति मूलभूता वन्दना"** यह दर्शाने के लिए 'अरिहंताणं' के पूर्व 'नमो' का प्रयोग किया गया है ।

इससे अतिरिक्त, आराधना और आराध्य, इन दोनों में आराधना का महत्त्व अधिक है, क्योंकि आराध्य तो सभी को समान ही प्राप्त होते हैं, परन्तु जिसकी जैसी आराधना होती है, उसे वैसे ही फल की प्राप्ति होती है। इसलिए वंदन अथवा नमस्कार रूप आराधना का महत्त्व प्रदर्शित करने के लिए 'नमो' शब्द पहले रखा गया है ।

चूलिका :

प्रथम पाँच पद के बाद जो शेष चार पद हैं वे चूलिका हैं, चूला = शिखर अर्थात् शिखर की तरह जो शोभता है, उसे चूला कहते हैं ।

मूल सूत्र में जो न बताया हो, वह वर्णन जिसमें बताया गया है, वह चूलिका है । प्रथम पाँच पदों में मात्र पंच परमेष्ठी को नमस्कार किया गया है और चूलिका में नमस्कार का फल बताया गया है ।

जिज्ञासा : यदि नौ पद के अंतिम चार पदों में नमस्कार के फल का वर्णन है, तो फल के वर्णन को भी क्या मूलमंत्र माना जा सकता है ?

तृप्ति : श्री नमस्कार मंत्र के अंतिम चार पद, श्री नमस्कार मंत्र की चूलिका है । चूलिका को मूलमंत्र से भिन्न मानना योग्य नहीं है । फल का वर्णन भी श्री नमस्कार का वर्णन ही है । जैसे शिखर के बिना मंदिर अधूरा रहता है, वैसे ही चूलिका के बिना नवकार के पाँच पद भी अधूरे रहते हैं ।

तथा जिस प्रवृत्ति के फल का ज्ञान न हो, उसमें प्रायः विद्वान प्रवृत्ति नहीं करते । इसी कारण चूलिका के बिना श्री नमस्कार मंत्र अपूर्ण और विद्वानों

की प्रवृत्ति के लिए अयोग्य रहता है । इसलिए चूलिका सहित समग्र श्री नमस्कार का महामंत्र के तौर पर प्रतिपादन किया गया है ।

एसो पंच नमुक्कारो सव्व-पाव-प्पणासणो[37] - इन पंच परमेष्ठियों को किया हुआ नमस्कार सर्व पापों का नाश करता है ।

इन पाँच को किया गया नमस्कार अर्थात् अपनी बुद्धि में अभी जो *उपस्थित है, वैसे उत्तम गुणसंपन्न अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु* - इन पाँचों को किया गया नमस्कार सर्व पापों का नाश करता है ।

इन शब्दों को बोलते ही मार्गदर्शक-अरिहंत परमात्मा, निराकुल - स्थिर सुख के भोक्ता-सिद्ध भगवान, महान आचारसंपन्न आचार्य भगवंत, विनय युक्त और सूत्र-प्रदान करते हुए उपाध्याय भगवंत और मोक्षमार्ग की साधना करनेवाले मुनि भगवंत अपनी नजर के सामने आते हैं । जिसके कारण उनके प्रति अत्यन्त बहुमान भाव पैदा होता है । गुणवान के प्रति उत्पन्न हुआ बहुमान भाव गुणप्राप्ति के लिए आवश्यक वीर्य को बढ़ाता है । **गुण के प्रति हुई वीर्यवृद्धि मोक्षमार्ग में प्रतिकूल मोहनीय आदि कर्मों के अनुबंधों का नाश करती है और संसार को मर्यादित करती है,** इसीलिए कहा गया है कि, इन पाँचों को किया गया नमस्कार सर्व पापों का नाश करता है ।

जिज्ञासा : यदि पाँचों को किया हुआ नमस्कार सर्व पापों का नाश करता है, तो एक बार नमस्कार करने से हमारे सब पाप नाश हो जाने चाहिए और हम भी कर्म-रहित बन जाने चाहिए । तो फिर बार-बार क्यों नमस्कार करना पड़ता है ? और बार-बार नमस्कार करने पर भी हमारे सब पाप नाश क्यों नहीं होते ?

तृप्ति : पंच परमेष्ठी को सामर्थ्ययोग से नमस्कार किया जाए, तो जरूर तत्काल सर्व पाप नाश हो जाते हैं । जब तक इस सामर्थ्ययोग की प्राप्ति

37.इन दोनों अध्ययन में तीन - तीन पद और आठ - आठ अक्षर हैं ।

नहीं होती, तब तक उसे प्राप्त करने के लिए इच्छायोग अथवा शास्त्रयोग से पुनः पुनः नमस्कार करना जरूरी है ।

जिज्ञासा : यहाँ 'एसो नमुक्कारो' कहने से भी पाँचों पद को नमस्कार का बोध हो जाता, तो फिर 'पंच' शब्द का प्रयोग क्यों किया गया है ?

तृप्ति : 'एसो' शब्द यह 'एतद्' सर्वनाम का रूप है, इसका अर्थ **'यह'** होता है । **यह** शब्द का प्रयोग निकट के व्यक्ति या वस्तु के लिए किया जाता है । यदि वस्तु या व्यक्ति दूर हो, तो उसके लिए 'वह' शब्द का प्रयोग होता है । इस पद के नजदीक 'नमो लोए सव्व साहूणं' पद है । इसलिए यदि हम 'पंच' शब्द का उपयोग न करें, तो 'एसो नमुक्कारो' पद से मात्र साधुओं का नमस्कार ही ग्रहण होता है, जब कि यहाँ तो पाँचों परमेष्ठियों के नमस्कार के फल की बात करनी है, इसलिए यहाँ पंच शब्द का प्रयोग किया गया है ।

जिज्ञासा : 'सव्व पावप्पणासणो' में सर्व पद क्यों रखा ? क्योंकि पावप्पणासणों से सब पापों का नाश होता है, वैसा समझ सकते हैं ।

तृप्ति : 'पावप्पणासणो' शब्द की दो प्रकार से व्युत्पत्ति होती है । **'पापानि प्रणाशयति'** - बहुत पापों का नाश करता है । **पाप प्रणाशयति** - एक पाप का अत्यन्त नाश करता है । इस प्रकार दोनों प्रकार से अर्थ होने से, सामान्य मनुष्य इससे सर्व पापों का नाश होता है, ऐसा नहीं समझ सकता, इसलिए सर्वजन की समझ के लिए 'सव्व' पद का प्रयोग किया गया है ।

जिज्ञासा : 'सव्व पावप्पणासणो' के स्थान पर 'सव्वकम्मप्पणासणो' उपयोग किया होता; तो सर्व कर्म में पाप कर्म का समावेश हो ही जाता ?

तृप्ति : ऐसा लगता है कि 'सव्वकम्म' शब्द का प्रयोग किया होता तो सब कर्मों का नाश हो, ऐसा अर्थ हो सकता है और सर्व कर्म में पापकर्म भी आ सकते हैं । फिर भी आप्त पुरुषों ने 'पाव' शब्द का उपयोग किया उसका कारण यह है कि नवकार मंत्र सब के हित के लिए है । बाल जीवों

को सर्व कर्म अशुभ नहीं लगतें, मात्र दुःख देनेवाले पाप कर्म ही अशुभ लगते हैं, यह नवकार मंत्र पाप का नाश करता है, ऐसा जानकर बालजीवों की भी इस मंत्र में सहज प्रवृत्ति की शक्यता बनती है ।

अथवा

'पाशयति इति पाप' - आत्मा को जो बाँधे, वह पाप है । इस व्युत्पत्ति के अनुसार मोहनीय कर्म को पाप कहा जा सकता है, क्योंकि वह आत्मा को बाँधकर रखता है । पापरूप इस मोहनीय कर्म का सर्वप्रकार से नाश होता है, ऐसा भी अर्थ हो सकता है ।

जिज्ञासा : यहाँ 'प्पणासणो' शब्द के बजाय 'नासणो' शब्द ही रखा होता तो ?

तृप्ति : 'प्पणासणो' पद से प्रकृष्ट प्रकार से नाश होता है, ऐसा ग्रहण करना है, मात्र नाश करनेवाला है, ऐसा नहीं कहा । यदि सिर्फ नाश करनेवाला है, ऐसा कहा होता तो नाश हुए पापों का उनके योग्य निमित्त कारण मिलते ही पुनः उत्पन्न होने की संभावना रहती, लेकिन यहाँ तो पापों का ऐसा नाश करना है कि नाश होने के बाद वे पाप जीवन में फिर से कभी भी उत्पन्न न हो सकें अर्थात् पाप को निर्मूल करना है; इसलिए ही सिर्फ नाश शब्द का प्रयोग न करके, प्रनाश शब्द का प्रयोग किया है ।

मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं[38] - सर्व मंगलों में प्रथम मंगल है ।

जिसके द्वारा हित हो, उसे मंगल कहते हैं या जो 'मंग' अर्थात् धर्म को लाता है, उसे मंगल कहते हैं ।

जगत् के जीव कोई भी शुभ कार्य करने से पहले उनमें कोई विघ्न न आए, इसलिए अनेक प्रकार की मंगलकामना करते हैं । उन सब मंगलों में

---

38. आठवाँ और नौवां पद १७ अक्षर के है वो अध्ययन स्वरूप हैं ।

पंचपरमेष्ठी को नमस्कार करने स्वरूप मंगल उत्तम मंगल है क्योंकि इन पंचपरमेष्ठी को किया हुआ नमस्कार चित्त में उत्तम कोटि के भावों को उत्पन्न करता है । ये उत्तम भाव पाप के उदय को रोककर पुण्योदय को प्रकट करते हैं । कभी कर्म प्रबल हो तो परिस्थिति न बदले, तो भी भाव से किया हुआ नमस्कार का स्मरण शांति[39] देता है । जब कोई व्यक्ति नमस्कार का स्मरण करता है, तब उसका चित्त वीतरागता से भावित होता है एवं उसके कारण कषाय शांत होते हैं । इन कषायों का उपशम भाव ही वास्तव में समता का सुख है । इसीलिए नमस्कार मंत्र का जो स्मरण करता है, उसके पुण्योदय के अभाव में कभी बाह्य परिस्थिति बदले या न बदले, परन्तु कषाय की अल्पता होने के कारण नवकार के प्रभाव से उसकी मनःस्थिति तो अवश्य शुभ (स्वस्थ) ही रहती है ।

मंगल के प्रकार :

मंगल दो प्रकार के हैं, लौकिक मंगल (द्रव्य मंगल) और लोकोत्तर मंगल (भाव मंगल) । दही, दुर्वा, श्रीफल, केसर, चंदन, कुमकुम आदि पदार्थ द्रव्य मंगल रूप लौकिक मंगल हैं । जब कि आत्मा की निर्मल परिणति को प्राप्त करवानेवाले पंच परमेष्ठी को किया हुआ नमस्कार या सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यग् चारित्र आदि गुणों को विकसित करनेवाला कोई भी शुभ अनुष्ठान भाव मंगल रूप लोकोत्तर मंगल है ।

भाव मंगल की उपकारकता :

भाव मंगल एकान्तिक एवं आत्यंतिक (उत्तमोत्तम) सुख देनेवाला है, जब कि द्रव्यमंगल उत्तमोत्तम सुख तो नहीं दे सकता, परन्तु सामान्य सुख भी दे ऐसा नियम नहीं है ।

भाव से नमस्कार महामंत्र का ध्यान करके जो प्रवृत्ति करते हैं, वे

39. गुणाधिकस्य शरणत्वात्, गुणाधिकत्वेनैव ततो रक्षोपपतेः, रक्षा चेह तत् स्वभावतया एवाभिध्यानतः क्लिष्टकर्मविगमेन शान्तिरिति । - योगशतक, गा. ५०

आत्माएँ श्रीपालराजा, श्रीमती, सुदर्शन शेठ और अमरकुमार आदि की तरह विघ्नों को दूर करके अनुपम सुख की प्राप्ति करते हैं । द्रव्य-मंगल रूप बाह्य शुभ प्रवृत्तियाँ विघ्नों का नाश करके उत्तमोत्तम सुख दें ही, ऐसा जरुरी नहीं है । जैसे कि अच्छे मुहूर्त में लग्न करने पर कन्या अखंड सौभाग्यवती रहे, ऐसा जरूरी नहीं है । शुभ शकुन देखकर परीक्षा देनेवाला विद्यार्थी (उतीर्ण) पास ही हो, ऐसा भी निश्चित नहीं है, वाजिंत्रादि शुभ निमित्त को प्राप्त करके प्रयाण करनेवाला मुसाफिर अपने इष्ट स्थान पर पहुँचे ही, ऐसा भी निश्चित नहीं है । कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि 'द्रव्य मंगल से कभी अच्छा नहीं होता' परन्तु हमेशा अच्छा ही हो, ऐसा भी निश्चित नहीं है।

इसके विपरीत जिसने भाव मंगल स्वरूप नवकार मंत्र का आश्रय किया हो, वैसे महापुरुष निकाचित कर्म के कारण बाह्य दृष्टि से इष्ट फल को प्राप्त न भी कर सकें, परन्तु आंतरदृष्टि से वे समाधि सुखवाले ही होते हैं। जैसे गहन जंगल में अनेक मुसीबतों के बीच में नवकार के ध्यान में मग्न महासती दमयंती गुफा में भी अपना समय आनंद से व्यतीत करती थी । सगर्भा अवस्था में जंगल में अकेले महासती सीता और अंजना भी पंच-परमेष्ठी का स्मरण करते हुए सुखपूर्वक समय बिताती थी । आज भी नवकार की आस्थावाले अनेक भव्यआत्माएँ नवकार के स्मरण मात्र से विघ्नों को नाश करके इच्छित फल को प्राप्त करते हैं, ऐसे अनेक उदाहरण देखने और सुनने को मिलते हैं ।

इसका अर्थ यह नहीं है कि, शुभ शकुन, शुभ निमित्त या शुभ मुर्हूत अनुपयोगी है, परन्तु शुभ शकुन आदि भी भाव मंगल से प्राप्त हुए पुण्य से ही मिलते हैं और फलीभूत होते हैं । यदि पुण्य न हो तो शुभ शकुन आदि कार्य नहीं कर सकते, जबकि भाव नमस्कार तो सफलता के लिए आवश्यक पुण्य को पैदा करके तत्काल या कालक्रम से उत्तमोत्तम सुख देता ही है ।

इन पाँच परमेष्ठियों को नमस्कार करने से कर्मों का क्षय, मंगल का आगमन, इहलोक में आरोग्य, प्रसन्नता इत्यादि की प्राप्ति तथा परलोक में उत्तम कुल, उत्तम जातिवाली सद्गति और क्रमशः मोक्ष की प्राप्तिरूप फल प्राप्त होता है ।

मंगल शब्द के भिन्न भिन्न अर्थ :

मंगल शब्द के अलग-अलग प्रकार से अर्थ हो सकते हैं ।

१. **'मंगं लाति इति मंगलम्'** अर्थात् मंगं = शुभ को, कल्याण को **लाति** = लाता है, वह मंगल है ।

अहवा मंगो धम्मो, तं लाइ तयं समादत्ते - अथवा मंग को अर्थात् धर्म को लाता है, वह मंगल कहलाता है ।

२. **'मां पापात् गालयति इति मंगलम्'** - अर्थात् जो मुझे पाप से मुक्त करता हैं, वह मंगल है । अर्थात् मेरे पापों का जो नाश करता है, वह मंगल है अथवा जिससे संसार का नाश होता है और धर्म की उन्नत्ति हो, वह मंगल है।

३. **'मङ्गति हितार्थं सर्पतीति मङ्गलम्'** - जो सर्व प्राणियों के हित के लिए प्रवर्तन करे, वह मंगल है ।

४. **'मङ्गति दुरदृष्टमनेनास्माद् वेति मङ्गलम्'** - जिसके द्वारा दुर्भाग्य दूर जाए, उसे मंगल कहते हैं ।

जिज्ञासा : 'मंगलाणं च सव्वेसिं' यह पद रखे बिना सिर्फ 'पढमं हवइ मंगलं' पद रखा होता तो भी चलता या तो फिर इस पद की क्या आवश्यकता है ?

तृप्ति : 'मंगलाणं च सव्वेसिं' इस पद का कथन किए बिना भी अगर **'पढमं हवइ मंगलं'** पद का कथन किया जाए तो अर्थापत्ति[40] से **'सर्व मंगल में प्रथम मंगल है ।'** ऐसे अर्थ की प्रतीति हो जाती है । फिर भी आठवाँ पद रखा इसका

40. अर्थ से प्राप्त वस्तु को अर्थापत्ति कहा जाता है । जैसे 'देवदत्त पुष्ट है, वह दिन को खाता नहीं है ।' ऐसे वाक्य के अर्थ से यह प्राप्त है की, वह रात्रिभोजन करता हैं ।

कारण यह है कि, अर्थापत्ति के प्रमाण द्वारा अर्थ की प्रतीति विद्वानों को हो सकती है, परन्तु सामान्य जन को नहीं । इसलिए वे भी आसानी से समझ सकें, इस कारण **'मंगलाणं च सव्वेसिं'** पद रखा गया है ।

अगर आठवें पद का कथन किए बिना ही पढमं हवइ मंगल' का कथन किया जाए तो व्याकरण ग्रंथों के अनुसार प्रथम शब्द क्रिया विशेषण बन जाता है और उस 'प्रथम' का अर्थ 'पूर्वकाल' में ऐसा होता है । इससे यह नमस्कार पूर्वकाल में मंगलरूप है, परन्तु उत्तरकाल में अर्थात् की अभी मंगलरूप नहीं है, ऐसे अनिष्ट अर्थ की संभावना होने के कारण यह पंच नमस्कार सर्वकाल में मंगलरूप है, ऐसा प्रतीत करवाने के लिए ही आठवाँ पद रखा गया है ।

जिज्ञासा : 'पढमं हवइ मंगलं' पद में प्रथम शब्द का प्रयोग किया, तो उसके बदले में उत्तम या प्रधान, श्रेष्ठ आदि कोई शब्द का प्रयोग किया होता तो ?

तृप्ति : 'प्रथम' शब्द **'पृथु विस्तारे'** धातु से बनाया गया है । **'पृथु'** धातु का अर्थ विस्तार होता है अर्थात् यह पाँच नमस्कार स्वरूप मंगल, प्रतिदिन वृद्धि पाकर विस्तीर्ण होता है । इसमें कभी ह्रास (हानि) नहीं होता । यदि प्रथम शब्द के बदले उत्तमादि शब्द का उपयोग किया होता तो ऐसा अर्थ नहीं होता । मात्र ये पंच नमस्कार उत्तम मंगल है ऐसा ही अर्थ होता ।

जिज्ञासा : नौवें पद में **'हवइ'** क्रियापद के प्रयोग बिना भी अध्याहार से हवइ क्रियापद के अर्थ को जान सकते थे, फिर भी **'हवइ'** पद का उपयोग क्यों किया ?

तृप्ति : क्योंकि **हवइ = भवति** के अनुसार **'हवइ'** का अर्थ होने रूप जो क्रिया है, वह निरन्तर विद्यमान रहे ऐसा होता है । इस तरह 'यह पंच नमस्कार रूप मंगल वृद्धि पानेवाला उत्कृष्ट मंगल है तथा वह निरंतर विद्यमान रहता है ।' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है । यदि 'हवइ' क्रियापद का प्रयोग न किया होता, तो ऐसा अर्थ प्राप्त नहीं हो सकता था ।

इसी तरह अंतिम पद में **'मंगलं'** शब्द के प्रयोग के बिना भी अध्याहार से **'मंगलं'** शब्द का अर्थ जान सकते थे, फिर भी अंतिम मंगल अर्थवाचक शब्द की तरह **'मंगलं'** शब्द का साक्षात् प्रयोग किया गया है । वैसे तो **'मंगलं'** पद की तो प्रतीति हो ही जाती, फिर भी जगत् के कल्याणकारी प्रतिपाद्य विषय के प्रतिपादन में आदि, मध्य और अंत में मंगल करना, आप्तपुरुषों को संमत है और ऐसा करने से पढने, पढाने और चिंतन करनेवाले का सदैव मंगल होता है । इसलिए अंतिम मंगल दर्शाने के लिए इस पद का उपयोग किया गया है ।

आदि, मध्य और अंत में तीन मंगल करने के कारण इस प्रकार हैं -

१. प्रारंभ किये हुए ग्रन्थ के अध्ययन आदि कार्य में शिष्य पारंगत हो सके, इसके लिए आदि में मंगलाचरण करना चाहिए ।

२. प्रारंभ किये हुए कार्य में विघ्न न आए, उसके लिए मध्य में मंगल करना चाहिए ।

३. ग्रन्थ के अध्ययन द्वारा विद्या की प्राप्ति = सिद्धि हो, इसलिए अंत में मंगल करना चाहिए ।

इस प्रकार मंगल पद द्वारा अंतिम मंगल करके सूत्रकारश्री ने इस सूत्र की समाप्ति की है । जो भावपूर्वक उसके अर्थ को पढ़कर, इस सूत्र का स्मरण करेंगे, वे तत्काल आत्म कल्याण को प्राप्त कर पाएँगे ।

श्री पंचिदिय सूत्र

सूत्र परिचय :

इस सूत्र का उपयोग गुरु की स्थापना करने के लिए होता है । इसलिए, इस सूत्र का दूसरा नाम **"गुरुस्थापना सूत्र"** है ।

गुणों की प्राप्ति करवानेवाला कोई भी धर्मानुष्ठान, गुणवान गुरु के समक्ष करने से प्रमाद को स्थान नहीं मिलता, भूलों से अपना बचाव होता है और आनंद, उल्लास एवं वीर्य की भी वृद्धि होती है । इसलिए, संभव हो तो सभी धर्मक्रियाएँ गुरुभगवंत की उपस्थिति में ही करनी चाहिए । जब सद्गुरु भगवंत की उपस्थिति न हो, तब इस सूत्र द्वारा गुरु के छत्तीस गुणों को उपस्थित करके, मुख्यतया पुस्तक में अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र के किसी भी उपकरण में गुणवान गुरुभगवंत की स्थापना करनी चाहिए । इस तरह स्थापना करके, ऐसा भाव उत्पन्न करना चाहिए कि, गुरु भगवंत साक्षात् मेरे सामने ही है अतः मुझे अब प्रत्येक अनुष्ठान उनकी आज्ञा लेकर ही करने है ।' इस तरह विनयपूर्वक आज्ञा प्राप्त करके अनुष्ठान करने से वह सफल होता है।

इस सूत्र में गुरु के छत्तीस गुणों का वर्णन है । वैसे तो ये छत्तीस गुण आचार्य, उपाध्याय, एवं साधु इन तीनों में होते हैं । फिर भी पुण्यप्रतिभा, ज्ञान की प्रकर्षता, लब्धि संपन्नता, प्रभावकता, परोपकारिता, कुशलता आदि अनेक गुणों के कारण गुरु ने जिनको आचार्य पद पर स्थापित किया

हो, वैसे भावाचार्य को ही मुख्यरूप से इस सूत्र द्वारा गुरु के तौर पर उपस्थित करना है।

तीर्थंकर की अनुपस्थिति में शुद्ध प्ररूपणा करने की क्षमता को लेकर, इस सूत्र में बताए हुए छत्तीस गुणसंपन्न भावाचार्य तीर्थंकर तुल्य माने जाते हैं । इसके अलावा शास्त्र में आचार्यों के गुणों का वर्णन छत्तीस छत्तीसी से भी किया है अर्थात् छत्तीस प्रकार के छत्तीस गुण बताए गए हैं । फिर भी यहाँ पर आचार्य, उपाध्याय एवं साधु तीनों में सामान्यतया लक्षित होनेवाले गुणों का ही वर्णन किया है ।

ऐसे गुरु भगवंतों का मन संसार के भावों से अत्यंत विरक्त होता है । जगत् के तमाम जीवों को वे **'आत्मवत् सर्वभूतेषु'** सूत्र के आधार पर अपने जैसा मानते हैं । पाँच समिति और तीन गुप्तिओं का साम्राज्य जो मोक्ष का अनन्य कारण है, उसको ये महात्मा विशेष रूप से स्वीकार करते हैं । आत्म-स्वरूप को पुष्ट करने के लिए ही वे इन्द्रियों का संवर आदि करते हैं । काषायिक भावों का संस्पर्श न हो, इसकी वे सदा सावधानी रखते हैं । ब्रह्मचर्य के पक्के हिमायती होते हैं । ऐसे भावाचार्य को इस सूत्र द्वारा हृदयस्थ करना चाहिए और उनको परतंत्र रहकर, उनकी अनुज्ञापूर्वक उनके जैसे गुणों की प्राप्ति के लिए ही सामायिक आदि क्रिया के पूर्व इस सूत्र द्वारा उनकी स्थापना करनी चाहिए ।

मूलसूत्र :

पंचिंदिय-संवरणो, तह नवविह-बंभचेर-गुत्ति-धरो ।
चउविह-कसाय-मुक्को, इअ अट्ठारस-गुणेहिं संजुत्तो ।।१।।
पंच-महव्वय-जुत्तो, पंचविहायार पालण-समत्थो ।
पंच-समिओ ति-गुत्तो, छत्तीस-गुणो गुरु मज्झ ।।२।।

पद-८ संपदा अक्षर-८०

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

पंचिंदिय-संवरणो, तह नवविह-बंभचेर-गुत्ति-धरो ।

पञ्चेन्द्रिय-संवरणः, तथा नवविध-ब्रह्मचर्य-गुप्ति-धरः

पाँच इन्द्रियों के विकार को रोकनेवाले

तथा नौ प्रकार की ब्रह्मचर्य की गुप्ति को धारण करनेवाले

चउविह-कसाय-मुक्को, इअ अट्ठारस-गुणेहिं संजुत्तो ।।१।।

चतुर्विध-कषाय-मुक्तः, इति अष्टादशगुणैः संयुक्तः ।।१।।

चार प्रकार के कषाय से मुक्त, इन अठारह गुणों से संयुक्त १.

पंच-महव्वय-जुत्तो, पंचविहायार पालण-समत्थो ।

पञ्च-महाव्रत-युक्तः, पञ्चविधाचार-पालन-समर्थः,

पाँच महाव्रतों से युक्त, पाँच प्रकार के आचारों का पालन करने में समर्थ

पंच-समिओ ति-गुत्तो, छत्तीस-गुणो गुरु मझ्झ ।।२।।

पञ्च-समितः त्रिगुप्तः, षट्त्रिंशद्गुणो गुरुर्मम ।।२।।

पाँच समितिवाले, तीन गुप्तिवाले, छत्तीस गुणों से युक्त मेरे गुरु हैं ।

विशेषार्थ :

पंचिंदिय - संवरणो - पाँच इन्द्रियों के विकार को रोकनेवाले ।

इन्द्रियाँ पाँच होती हैं । उन पाँच इन्द्रियों के कुल २३ विषय[1] होते हैं, एवं

1. **पाँच इन्द्रिय के २३ विषय :**

स्पर्शनेन्द्रिय का विषय स्पर्श है और उसके भारी-हलका, ठंडा-गरम, कोमल-कर्कश, स्निग्ध और रूक्ष; इस तरह ८ आठ प्रकार हैं ।

रसनेन्द्रिय का विषय रस है और उसके खारा, खट्टा, तीखा, कडवा और मीठा, ऐसे ५ (पाँच) प्रकार हैं ।

घ्राणेन्द्रिय का विषय गंध है और उसके सुगंध और दुर्गंध २ (दो) प्रकार हैं ।

चक्षुरिन्द्रिय का विषय रूप है और उसके लाल, हरा, पीला, काला और सफेद ऐसे ५ (पाँच) प्रकार हैं ।

श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द है और उसके सचित्त, अचित्त और मिश्र ३ (तीन) प्रकार हैं ।

इस प्रकार पाँच इन्द्रियों के २३ विषय है । स्पर्शनेन्द्रिय - ८, रसनेन्द्रिय - ५, घ्राणेन्द्रिय - २, चक्षुरिन्द्रिय - ५, श्रोत्रेन्द्रिय - ३ = (८+५+२+५+३) = २३

इन २३ विषयों के २५२ प्रकार के विकार[2] होते हैं । इन्द्रियों के द्वारा इन २३ विषयों को जानना ज्ञान है । जानकर इनमें राग-द्वेष करना, यह अच्छा है और यह बुरा है ऐसा मानना, उनमें से किसी को पसंद करना, किसी को नापंसद करना, इत्यादि इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान का विकार है । ऐसे विकार से जीव कर्मबंध एवं कुसंस्कारों को प्राप्त कर दुर्गति का भाजन बनता है । इसलिए मुनि पाँचों इन्द्रियों के विकार को रोकते हैं । इस तरह **पाँच इन्द्रियों सबंधी विकार को रोकना ही पाँच इन्द्रियों का संवर है** एवं मनोज्ञ विषयों में राग तथा अमनोज्ञ विषयों में द्वेष का परिणाम आस्रवभाव है । अतः संवर भाव वाले गुरु भगवंत पाँच इन्द्रियों के विषयों में प्रायः प्रवृत्ति ही नहीं करते और यदि अनिवार्य तौर से उनमें प्रवर्तन करने का जब प्रसंग भी आए, तब शास्त्रोक्त तत्त्वचिंतन द्वारा मन को शुद्ध आत्मभाव से भावित करके, उन-उन विषयों के अच्छे-बुरे असर से मन को मुक्त रखने का प्रयास करते हैं ।

संवर के प्रकार :

संवर भाव दो प्रकार का होता हैं - (१) द्रव्य संवर
(२) भाव संवर

---

2. **पाँच इन्द्रिय के २३ विषयों के २५२ विकार :**
स्पर्शनेन्द्रिय ९६, रसनेन्द्रिय ६०, घ्राणेन्द्रिय २४,
चक्षुरिन्द्रिय ६०, श्रोतेन्द्रिय १२
(९६+६०+२४+६०+१२) = २५२
स्पर्शनेन्द्रिय के विषय ८X१२ [३(सचित्त, अचित्त और मिश्र) x २ (इष्ट, अनिष्ट) x २ (राग, द्वेष)=१२] = ९६
रसनेन्द्रिय के विषय ५X१२ [३(सचित्त, अचित्त और मिश्र) x २ (इष्ट, अनिष्ट) x २ (राग, द्वेष)=१२] = ६०
घ्राणेन्द्रिय के विषय २X१२ [३(सचित्त, अचित्त और मिश्र) x २ (इष्ट, अनिष्ट) x २ (राग, द्वेष)=१२] = २४
चक्षुरिन्द्रिय के विषय ५X१२ [३(सचित्त, अचित्त और मिश्र) x २ (इष्ट, अनिष्ट) x २ (राग, द्वेष)=१२] = ६०
श्रोतेन्द्रिय के विषय ३X४ [२(इष्ट, अनिष्ट) x २ (राग, द्वेष) = ४] = १२

इन्द्रियों को अपने विषयों मे, प्रवृत्ति करने से रोकना **'द्रव्य संवर'** है, एवं प्राप्त-अप्राप्त विषयों में राग-द्वेष न करना **'भाव संवर'** है ।

तप, त्याग, नियमादि करके, मनोज्ञ विषयों का त्याग करने से या अमनोज्ञ विषयों का सहर्ष स्वीकार करने से **'द्रव्य संवर'** निष्पन्न होता है, एवं ऐसी शुभ क्रियाएँ करते करते चिंतन, भावना, ध्यान द्वारा मन को रागादि से मुक्त रखने से **'भाव संवर'** निष्पन्न होता है ।

यदि साधक इन्द्रियों के विषयों के बाह्य त्याग मात्र में साधना की विश्रांति मानता हो और उसी कारण बाह्य तौर से तप-संयमादि अनुष्ठान में यत्न भी करता हो, परंतु अंतर से अव्यक्त रूप से पुद्गल में अच्छे-बुरे भावों की असरवाला रहता हो, तो उसके बाह्य त्याग को द्रव्य संवर कहते हैं अर्थात् स्थूल व्यवहार से ही वह संवर है ।

इसके विपरीत अगर साधक स्वाध्याय, भावना आदि द्वारा, संसार के कारणभूत इन्द्रियजन्य भावों से दूर रहने का सतत प्रयास करता हो और अच्छे बुरे-पदार्थों में सहज उठते हुए रागादि भावों को रोककर विषयों के संपर्क के समय भी सिर्फ उन-उन विषयों को जानने हेतु अपने उपयोग को जोड़ता हो, तो **जितने अंश में उसके ज्ञान में से रागादि विकृति दूर होती हो एवं जितने अंश में उसका ज्ञातृत्व भावरूप शुद्ध स्वभाव प्रकट होता हो, उतने अंश में उसकी क्रिया भावसंवर बनती है ।**

यह भावसंवर चरमावर्त काल में ही प्राप्त होता है । उसमें भी जब साधक संसार से विरक्त होकर, संसार के निस्तार के लिए संयम जीवन स्वीकार कर, समिति-गुप्ति के पालन में प्रवृत्त होता है, तब ही उसे यह "भाव संवर" प्राप्त होता है, जब कि द्रव्य संवर तो अचरमावर्त काल में भी जीव को अनंतबार प्राप्त होता है ।

भावसंवर की प्राप्ति का उपाय :

दीक्षा ग्रहण करके सर्व सांसारिक संबंध आदि का त्याग करने से मुनि का

द्रव्य-संवर तो हो ही जाता है। पर इस द्रव्य त्याग के साथ अनादिकालीन विषयों की आसक्ति तोड़कर भावसंवर करने के लिए वे संकल्प करते हैं कि, "अब रागादि भावों के अधीन होकर इन्द्रियों का प्रवर्तन नहीं करूँगा और भगवान के वचनरूप श्रुतज्ञान के अनुसार ही इन्द्रियों का प्रवर्तन करूँगा । अब तक अज्ञान एवं अविरति के कारण इन्द्रियों के कोई भी विषय प्राप्त होने पर उनमें रागादि भाव हो ही जाते थे, क्योंकि इन्द्रियों के मनभावक विषयों में राग और विपरीत विषयों में द्वेष करने की मेरी अनादिकाल से वृत्ति रही है । अब मुझे इस वृत्ति को बदलना है । अतः विषयों से दूर रहकर मुझे मन को भावित करना है कि,

"ये पुद्गल मुझे सुख भी नहीं देते और दुःख भी नहीं देते । इनका स्वभाव भिन्न है एवं मेरा स्वभाव भिन्न है । पुद्गलों में कुछ अच्छा भी नहीं हैं । कुछ बुरा भी नहीं है । सिर्फ मेरी कल्पना से ही मुझे कुछ पदार्थ अच्छे लगते हैं, तो कुछ बुरे लगते हैं । मोहाधीन कल्पना ही मुझे सुखी और दुःखी करती है । मेरा स्वभाव तो मात्र इन पुद्गलों के धर्म का ज्ञान करने का है, लेकिन उनमें रागादि करने या रागादि से उनका भोग करने का नहीं है ।"

ऐसी भावनाओं द्वारा मुनि खुद को पौद्गलिक भावों से परे रखने की मेहनत करते हैं । साधना क्षेत्र में सतत प्रगतिशील मुनि भगवंत मात्र इन्द्रियों के विषयों में ही नहीं, परंतु कहीं भी कर्तृत्व, ममत्व या राग-द्वेष के परिणाम भी स्पर्श न करें उसके लिए अत्यंत जागृत रहते हैं । इस जागृति के कारण ही मुनि पाँच इन्द्रियों के संवरभाववाले कहलाते हैं ।

इस प्रकार भगवान के वचन के सहारे प्रयत्न करते-करते जब इन्द्रियों के विषयों को देखने, जानने या उपभोग करने की उत्सुकता, आकुलता, eagerness, anxiousness, keenness शांत हो जाती है, तब जीव का मूल ज्ञातृत्वभावरूप (ज्ञाता-द्रष्टा भाव) स्वभाव प्रकट होता है और वही भाव-संवर है ।

इस पद का उच्चारण करते हुए साधक सोचता है -

"प्रवाह से विपरीत चलनेवाले मेरे गुरुभगवंत धन्य हैं । जिन विषयों को भोगने का मैं निरंतर प्रयत्न करता रहता हूँ, उन विषयों से वे दूर रहते हैं । काया से कभी उनको विषयों में प्रवृत्ति करनी भी पड़े तब भी वे उनमें अनासक्त रहने का प्रयत्न करते हैं । ऐसे गुरुभगवंतो के प्रति हृदय में बहुमान जागृत होगा, तो ही मैं इस संवर भाव तक पहुँच पाऊँगा ।"

तह नवविह-बंभचेर-गुत्ति-धरो : तथा नौ प्रकार की ब्रह्मचर्य की गुप्ति को धारण करनेवाले मेरे गुरु हैं ।

ब्रह्मचर्य आत्मा का धर्म है । उसकी सुरक्षा के लिए शास्त्र में नौ नियम बताए हैं । जिसे ब्रह्मचर्य की गुप्ति या बाड कहा जाता है । आत्मिक सुख को चाहनेवाले मुनि भगवंत इन नौ बाड का पूर्णतया पालन करते हैं ।

ब्रह्मचर्य का स्वरूप :

ब्रहचर्य शब्द का सामान्य अर्थ है कि विजातीय भोगादि से निवृत होना और विशेष अर्थ यह है कि **पाँच इन्द्रियों के विषयों से निवृत्त होकर आत्मभाव में रमण करना ।** ब्रह्मचर्य का वर्णन शास्त्रों में अनेक दृष्टिकोण से किया है ।

निश्चयनय से और व्यवहारनय से ब्रह्मचर्य का स्वरूप इस प्रकार है ।

१. निश्चयनय से ब्रह्मचर्य :

ब्रह्मणि चर्यते इति ब्रह्मचर्यः अर्थात् ब्रह्मणि = आत्मा में; चर्यते = चरना; इस व्युत्पत्ति से आत्मा के गुणों में रमण करना, निश्चय से ब्रह्मचर्य है । विभाव में से आत्मा के स्वभाव में आना, ब्रह्मचर्य कहलाता है और इस तरह देखा जाए तो आत्महित करनेवाली कोई भी क्रिया ब्रह्मचर्य रूप ही है ।

२. व्यवहारनय से ब्रह्मचर्य :

ब्रह्मचर्य याने मैथुन का त्याग करना; अर्थात् देव, मनुष्य या तिर्यंच संबंधी विषयभोगों का उपभोग न करना, ब्रह्मचर्य है ।

नौ प्रकार की ब्रह्मचर्य की बाड़ के पालनपूर्वक भोगादि की क्रिया से निवृत होना द्रव्य से ब्रह्मचर्य का पालन है तथा भोगादि के भावों में आगे बढ़ रही आत्मा को इस बाड़ के पालन द्वारा, उस मार्ग से रोककर वेद के उदय को शांत करके आत्मभाव में स्थिर करने का यत्न करना वह भाव से ब्रह्मचर्यव्रत है।

अब्रह्म महाप्रमाद का कारण है एवं यह विशेष प्रकार से राग-द्वेष को उत्पन्न करता हैं । अब्रह्म के सेवन से वीर्य का नाश होता है तथा वीर्य के नाश से सत्त्व का नाश होता है और सत्व के नाश से विशिष्ट प्रकार के धर्म की साधना नहीं हो सकती । कहते हैं कि **'न हि धर्माऽधिकारोऽस्ति हीनसत्वस्य देहिनः'** सत्त्वविहीन आत्मा को धर्म का अधिकार ही नहीं हैं एवं धर्म का प्रारंभ किए बिना कर्मनिर्जरा नहीं होती तथा विशिष्ट कर्म निर्जरा के बिना आत्मा की शुद्धि नहीं होती, इसलिए विशुद्ध कोटि के धर्म पालन के लिए, आत्मा की शुद्धि के लिए ब्रह्मचर्य का पालन अनिवार्य है ।

पाँच महाव्रतों में यह चौथा व्रत है और अति महत्त्वपूर्ण है । इसकी रक्षा करना अत्यंत मुश्किल है । अनादिकाल से जीव जब निगोद स्वरूप एकेन्द्रिय के भव में था, तब से उसके साथ स्पर्शेनेन्द्रिय तो थी ही । आगे भी जब जीव, विकलेन्द्रिय में या पंचेन्द्रिय के भव में आया, तब वहाँ भी उसे यह इन्द्रिय तो मिली ही थी । इस तरह अनादिकाल से स्पर्श का अभ्यास अति गाढ़ होने से स्पर्शनेन्द्रिय के विचारों से मुक्त होना अति दुष्कर है । इस दुष्कर कार्य को सिद्ध करने के लिए ही ज्ञानी पुरुषों ने ब्रह्मचर्य व्रत के पालन के लिए निम्नोक्त नौ बाड़ का विधान किया है ।

१. विविक्त वसति सेवा - स्त्री, पशु, नपुंसक के वास से रहित वसति में रहना।

२. स्त्री कथा परिहार - स्त्री के साथ या उसके संबंधी बातें नहीं करना ।

३. निषद्या अनुप्रवेश - स्त्री के आसन, शयन पर दो घड़ी तक नहीं बैठना ।

४. इन्द्रिय अप्रयोग - स्त्री के रूप, अंगोपांग नहीं देखना ।

५. कुड्यंतर दांपत्य वर्जन - दीवार की दूसरी ओर स्त्री-पुरुष का युगल हो तो, वहाँ न रहना ।

६. पूर्वक्रीडित अस्मृति - पूर्व की हुई क्रीड़ा का स्मरण नहीं करना ।

७. प्रणीत अभोजन - मादक आहार का त्याग करना ।

८. अति मात्रा अभोजन - प्रमाण से अधिक आहार नही करना ।

९. विभूषा परिवर्जन - शरीर को सुशोभित नहीं करना ।

यह नौ बाड़ ब्रह्मचर्य के पालन में सहायक बनती हैं ।अगर इन बाड़ों का पालन न हो, तो निमित्त मिलने पर मन विकृत हो जाने की शक्यता बढ़ जाती है, इसलिए निर्मल ब्रह्मचर्य के पालन की इच्छा रखनेवाले साधु अवश्य इसका पालन करते हैं।

ब्रह्मचर्य विषयक जिज्ञासा :

जिज्ञासा : वेद के उदय से जीव की अब्रह्म में प्रवृत्ति होती है तथा इस वेद का उदय तो मुनि को भी नौवें गुणस्थानक तक होता है, तो मुनि ब्रह्मचर्य का पालन किस तरह करते हैं ? ऐसे वेद के उदय को कैसे रोकना चाहिए ?

तृप्ति : सबकी तरह मुनि को (गुरु भगवंत को) भी वेद का उदय नौ गुणस्थानक तक होता है । यह बात सत्य है; परन्तु जिसको वेद का उदय हो वह भोग में प्रवृत्ति करेगा ही, ऐसा नियम नहीं है । वेद के उदयकाल में विवेक विहीन असंयमी व्यक्ति भोग प्रवृत्ति करता है, परंतु विवेकी तो कर्म का उदय होने पर भी ऐसी तुच्छ प्रवृत्ति से बचने का प्रयास करता है । उसमें वह कुछ मात्रा में सफल भी होता है । इसीलिए परम विवेकी मुनि भगवंत वेद के उदयकाल में भी अखंड ब्रह्मचर्य का पालन कर सकते हैं ।

वेद के उदय को निष्फल बनाकर निर्मल ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए शास्त्रोक्त रीति से तत्त्वचिंतन करते हुए मुनि सोचते हैं कि, "मेरा स्वभाव तो ज्ञानादि गुणों को भुगतने का है । आत्मा में आनंद मानने का है । यह भोग की प्रवृत्ति तो अति कुत्सित प्रवृत्ति है, देखने से भी घृणा उत्पन्न करती है । यह प्रवृत्ति विवेकी पुरुष को लज्जा उत्पन्न कराए, ऐसी है । कायर पुरुष कदाचित् इसमें प्रवृत्ति करे, परंतु सात्त्विक पुरुष ऐसे क्षणिक सुख देकर महादुःख के खड्डे में गिरानेवाले निंदनीय भोगादि भावों में कभी आसक्त नहीं होते । वे तो आत्मा को अनंत आनंद देनेवाले ब्रह्मचर्यादि भावों में ही प्रवृत्त होते हैं ।" इस प्रकार सूक्ष्म बुद्धि से बार-बार चिंतन करने से उदयमान वेद-मोहनीय कर्म कार्य तो नहीं करते, परन्तु धीरे धीरे मंद-मंदतर होते जाते हैं और एक दिन सर्व कर्मों के विनाश से पूर्ण ब्रह्मचर्य का भाव प्रगट होता है । इस भाव में ही मुनि में ब्रह्मचर्य की गुप्ति कही है ।

जिज्ञासा : पाँच इन्द्रियों के विकार के संवर में ब्रह्मचर्य की गुप्ति आ जाती है, तो फिर उसे अलग क्यों कहा ?

तृप्ति : पाँच इन्द्रियों के संवर में स्पर्शनेन्द्रिय का संवर हो ही जाता है, तो भी कुछ प्रकार के स्पर्शनेन्द्रिय के विषय अति कुत्सित, अति खराब एवं अति निंदनीय हैं । अनादिकाल से मैथुन से प्रेरित जीव अति निंदनीय स्पर्शादि के विषयों में मूढ़ की तरह प्रवर्तन करता है । इससे पराङ्मुख होना पंडित पुरुषों के लिए भी दुष्कर होता है, इसलिए इस विषय की प्रधानता के लिए नवविध ब्रह्मचर्य की गुप्ति को अलग ग्रहण किया है ।

जिज्ञासा : स्पर्शनेन्द्रिय के विषय से अटकना तथा मैथुन से अटकना इन दोनों में क्या अंतर है ?

तृप्ति : स्पर्शनेन्द्रिय के विषय से अटकना अर्थात् शीत-उष्ण-मृदु-कठोर आदि भावों में रति-अरति आदि न होने देना, जब कि मैथुन से अटकना अर्थात् स्त्री आदि के प्रति यह स्त्री है, मेरे लिये भोग्य है, इसके भोग से मुझे

सुख की प्राप्ति होगी । ऐसे भाव न आने देना, स्त्री का भोग मृदु स्पर्श के साथ संबंधित होने के बावजूद भी यह भाव अपेक्षा से अलग भी है ।

जिज्ञासा : पाँच महाव्रतों में चतुर्थ व्रत में इसका समावेश हो ही जाता है तो फिर ब्रह्मचर्य की गुप्ति को अलग क्यों कहा ?

तृप्ति : पाँच महाव्रतों में इसका समावेश हो जाता है, तो भी पाँचों व्रतों में अपेक्षा से इस व्रत का पालन अति कठिन है । इसके अतिरिक्त, जीव का स्वभाव अवेदी है तथा ऐसे अवेदी भाव को प्राप्त किए हुए ये भावाचार्य हैं, वैसी उपस्थिति इस पद को बोलते हुए हो सकती है । ऐसे उत्तम गुण-संपन्न आचार्य की साक्षी में किए हुए अनुष्ठान से स्वयं में भी वैसे भावों की प्राप्ति संभवित होती है, ऐसे भाव प्राप्त करने हेतु यह पद अलग रखा गया लगता है ।

चउविह-कषाय-मुक्को : गुरु भगवंत क्रोध-मान-माया एवं लोभ स्वरूप चार प्रकार के कषायों से मुक्त हैं ।

कषाय का अर्थ कहते हुए शास्त्रों में बताया है कि **कष** = संसार एवं **आय** = लाभ । जिससे संसार का लाभ हो, संसार की प्राप्ति हो, ऐसे प्रकार के जीवों के भाव कषाय कहलाते हैं । जिससे आत्मा को क्लेश हो, पीड़ा हो, वैसे परिणाम का नाम कषाय[3] है ।

कषाय, अनेक प्रकार के सुख एवं दुःख देनेवाले कर्मों को आकर्षित करते हैं, इसलिए उन्हें कषाय[4] कहते हैं । प्रशस्त कोटि के कषाय पुण्यबंध करवाकर सुख प्रदान करते हैं और अप्रशस्त कषाय पाप-बंध करवाकर दुःख प्राप्त करवाते हैं । कषाय आत्मा के शुद्ध स्वरूप को कलुषित करते हैं, मलिन करते हैं, इसलिए भी उन्हें कषाय कहा जाता है ।

संसार के समग्र दुःखों का मूल ये कषाय हैं । कषाय के कारण जीव कर्म बांधकर चारों गति में भटकता है । वर्तमान में भी कई मानसिक दुःख एवं कई शारीरिक तकलीफें कषाय से ही उत्पन्न होती हैं ।

---

3. क्लिष्यते अनेन इति कषायः ।

4. सुह-दुक्खबहुसहिमं, कम्म-खेत्तंकसंति जं जहा । कलुसंति जं च जीवं, तेण कसाइ त्ति वुच्चंति ।।

मुनि सदा तत्त्वचिंतनादि द्वारा इन कषायों से मुक्त रहने का प्रयत्न करते हैं । प्रयत्न एवं सावधानी के बावजूद भी जब पूर्वकृत कर्म के उदय से कषाय हो जाएँ, तो मुनि क्षमा, नम्रता आदि द्वारा उन कषायों के उदय को निष्फल करने का प्रयत्न करते हैं ।

कषायों के भेद तथा प्रभेद :

मोहनीय कर्म के अनेक प्रकार हैं । ज्ञानियों ने मोहनीय कर्म को मुख्यतया चार विभागों में बाँटा है - १-क्रोध, २-मान, ३-माया, ४-लोभ.

क्रोध : किसी के अपराध को सहन न करने का भाव, क्रोध है । जो वस्तु हमें अनिष्ट लगती हो, जिसकी प्रवृत्ति या प्रकृति हमें अच्छी न लगती हो, उस वस्तु या व्यक्ति के प्रति आवेश, गुस्सा, अरुचि, घृणा, ईर्ष्या या असहिष्णुता का भाव, वैर वृत्ति, अमित्रता का परिणाम ये सब क्रोध स्वरूप भाव हैं ।

क्रोध प्रीति का नाश करता है । उससे स्व-पर को पीड़ा होती है । क्रोधी के आसपास उद्वेगपूर्ण वातावरण बना रहता है, जिससे सब का मन भारी रहता है। क्रोध में अगर होश गवाँ बैठे, तो जन्मजन्म के वैर की गाँठ बंध जाती है । जिससे अनेक भव तक दुर्गति की परंपरा का सर्जन होता है ।

क्रोध से उत्पन्न होनेवाले इन दुष्परिणामों को जानकर मुनि क्रोध कषाय से दूर रहने का अथक प्रयास करते हैं । इसलिए वे सोचते हैं -

- सभी जीव मेरे संबंधी हैं, मेरे मित्र हैं । मैं क्यों उन पर क्रोध करूँ ।
- मेरा तिरस्कार करनेवाले, मुझे अपमानित करनेवाले वास्तव में कर्मनिर्जरा जैसे दुष्कर कार्य में मुझे सहायक बन रहे हैं ।
- मुझे तिरस्कृत करनेवाले मेरे गुरु तुल्य हैं, क्योंकि उनके वर्तन से ही मुझे संसार की असारता का बोध हुआ है । उन पर क्रोध करना उचित नहीं है ।

- जो स्वयं पाप बांधकर मुझे पीडा देना चाहते हैं, वे स्वयं ही अपने कर्मों से पराजित हुए हैं, तो उन पर गुस्सा करने से क्या लाभ है ?
- तीन लोक के नाथ प्रभु वीर सर्व शक्तिसंपन्न होनें पर भी अपकारी के प्रति क्षमा धारण करते थे, तो मैं क्यों गुस्सा करूँ ? मुझे भी क्षमा ही रखनी चाहिए ।
- अगर क्रोध करनेवाला असत्य बोल रहा है, तो उसके उन्मत्त प्रलाप से मुझे क्या लेना देना एवं अगर वह सत्य कह रहा है, तो भी मुझे गुस्सा करने की क्या जरूरत ?'[5]

मान : "मैं कुछ हूँ" ऐसा भाव मान का परिणाम है । इस कारण किसी के द्वारा किया गया अपमान सहन न होना, हर एक व्यक्ति से मान की अपेक्षा रखना, मान मिलने पर आनंदित होना, हमसे कोई आगे बढ़ जाए तो दुःखी होना, पीछे हो जाए तो आनंदित होना । ये सभी भाव मान के ही प्रकार हैं ।

मान भी आत्मा को पीड़ा देता है । वह विनय, नम्रता आदि गुणों के साथ श्रुत एवं शील का भी नाश करता है। मानी व्यक्ति किसी के साथ वास्तविक मैत्री नहीं कर पाता । वह सर्वत्र निन्दा या हँसी का पात्र बनता है। उसके कारण अन्य तीन कषाय भी पुष्ट होते हैं । मैं कुछ हूँ... अच्छा हूँ ऐसी मान्यता के कारण अपने दोषों का ख्याल नहीं आता । दूसरों के प्रति ईर्ष्या या असूया का भाव भी मान की ही पैदाइश है। यह सब जानकर मुनि मान को तिलांजलि देने के लिए चिंतन करते हैं कि,

- पूर्व पुरुषों की अपेक्षा मुझमें कुछ भी नहीं है । अतः मुझे कभी भी अपने खानदान, रूप, बल, श्रुत, तप इत्यादि का गर्व नहीं करना चाहिए ।

---

5. योगशास्त्र प्रकाश-८ में ये और ऐसी अनेक भावनाएँ दिखाई हैं । उनका वहाँ से अभ्यास कर उन पर चिंतन-मनन करना भी आवश्यक है ।

- मुझे जो कुछ मिला है, वह कर्मकृत है । देव-गुरु की कृपा का फल है । इसमें मेरा कुछ भी नहीं है।
- महापुरुष अपनी नम्रता और विनय के सहारे ही बहुत विद्या प्राप्त कर उच्च कक्षा तक पहुँचे हैं, इसलिए मुझे भी विनय एवं नम्रता के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए ।
- 'मैं कुछ हूँ' ऐसा सोचने से मुझे अपने दोष दिखाई नहीं देते । ऐसी मिथ्या सोच का त्याग करने के बाद ही मैं एकाग्रता से आत्म निरीक्षण कर पाऊँगा तथा अपने से गुणवान को महान मानकर उद्धताइ एवं अक्कडता को अपने वर्तन में से निकाल पाऊँगा ।'

माया : जो जैसा नहीं है, वैसा दिखाने की इच्छा माया है । इससे कपट, दगा, छल-वंचना आदि भाव होते हैं । दिल में अलग और बाहर अलग बताने की इच्छा माया के कारण ही होती है । माया के कारण ही जीवन में अनेक प्रकार की वक्रताएँ आती हैं ।

माया भी आत्मा को पीड़ा देती है । वह असत्य, अशील एवं मिथ्याज्ञान की जननी है । मुनि इस माया का नाश करने कभी कुटिलवृत्ति नहीं रखते । उनकी वाणी या वर्तन में किसी को ठगने का या किसी से छल-कपट करने का कभी कोई भाव नहीं होता । अपनी किसी बात को छिपाने का भी वे प्रयास नहीं करते । 'मैं अगर गुरु भगवंत को मेरी मनोवृत्तियों का बयान करूँगा, तो वे मेरे लिए हलका अभिप्राय रखेंगे.... मैं उनकी दृष्टि में गिर जाऊँगा' ऐसा भय वे कभी भी नहीं रखते, इसलिए वे वास्तविक अर्थ में शरण का स्वीकार कर पाते हैं ।

माया से मुक्त रहने के लिए वे चिंतन करते हैं कि,

- मैं माया करूँगा, तो भी ज्ञानी तो मेरी वास्तविकता को जानते ही हैं ।
- क्षणिक मान-पान को पाने के लिए अगर माया करूँगा, तो मैं अक्षय सुख से बहुत दूर चला जाऊँगा ।

- माया करूँगा, तो उसे सच मनाने की चिंता में मैं कोई भी अनुष्ठान एकाग्रता से नहीं कर पाऊँगा ।
- अगर मैं निर्दंभ वृत्ति - निष्कपट सरल चित्त को निष्पन्न करूँगा, तो मुझे यहीं पर चित्त की स्वस्थता कृत मोक्ष के सुख का अनुभव होगा ।

लोभ : पदार्थ को पाने की इच्छा, जीवन जरूरी वस्तुएँ प्राप्त होने पर भी अधिक अधिक पाने की इच्छा, असंतोष, सुंदर पदार्थ के उपभोग की इच्छा ऐसे भाव लोभ कषाय के कारण होते हैं ।

'इच्छा मात्र दुःख है । अनिच्छा ही मोक्ष है - सुख है ।' ऐसी समझवाले मुनि इच्छा के दुःख से मुक्त होने के लिए चिंतन करते हैं कि,

- लोभ सर्व दोषों की खान है । सर्व आपत्तिओं का कारण है । सर्व गुणों का विनाशक है एवं सर्वार्थ का बाधक है ।
- लोभ रूपी इच्छाएँ मन में संताप उत्पन्न करती हैं ।
- प्रिय सुखों को भोगने की इच्छा मेरे मन को दुःखी करती हैं ।
- इच्छा के अधीन बनकर मैं जिन जिन वस्तुओं या व्यक्तिओं का संग्रह करता हूँ, वे वास्तव में मुझे सुख तो नहीं देते, परंतु मेरे दुःख एवं क्लेश में वृद्धि ही करते हैं।
- संयम के उपकरण भी मुझे सिर्फ संयम साधक होने के कारण ही रखने हैं, पर उन पर ममत्व नहीं करना है ।
- लोभ से मुक्त होने के लिए मुझे पर-पुद्गल की आसक्ति को तोड़कर आत्मिक आनंद का चिंतन करना चाहिए ।
- प्राप्त-अप्राप्त विषयों में मूर्च्छा-ममत्व-गृद्धि-गौरव या लगाव रखने से मेरी आत्मा को कर्मबंध होता है ।
- पुद्गल की प्रीति ने बड़े बड़े मुनिवरों को भी दीन बनाया है। उनको भिखारी की तरह गृहस्थों के पास याचना करने के लिए मज़बूर किया है ।

- मुझे किसी भी चीज़ में 'यह अच्छी है... मेरी है... मुझे मिल जाए तो अच्छा' ऐसा विचार नहीं करना है।
- वस्त्र, पात्र, वसति, शिष्य आदि किसी भी चीज पर मुझे ममत्व नहीं रखना है ।

ये चार कषाय आत्मा के कर्मकृत भाव हैं, कर्म के प्रभाव से जीव में ऐसे परिणाम उत्पन्न होते हैं, अविवेकी जीव इन कषायों के वश होकर बहुत कर्म बांधते हैं, जबकि विवेकी इन कषायों के उदय को निष्फल बनाते हैं । जिन्होंने क्षमा, नम्रता, सरलता और संतोष से इन चारों कषायों को वश में कर लिया है, वैसे आचार्य भगवंत चार कषायों से मुक्त हैं ।

कषाय के प्रकार :

ये कषाय दो प्रकार के हैं - प्रशस्त कषाय एवं अप्रशस्त कषाय । इसमें धर्म की रक्षा के लिए, गुण की वृद्धि के लिए एवं दोषों के नाश के लिए किए गए कषाय को, प्रशस्त कषाय कहते हैं । जैसे कि, संसार, संसार की सामग्री एवं सांसारिक राग को तोड़ने के लिए धर्म, धर्म की सामग्री एवं देव-गुरु के प्रति राग रखना, वह प्रशस्त राग है; क्योंकि यह राग अप्रशस्त ऐसे संसार के राग को तोड़ता है एवं क्षमादि गुणों की वृद्धि करता है । इसी तरीके से धर्म स्थानों या देव-गुरु के प्रति आक्रमण करनेवाले व्यक्ति के प्रति हुआ द्वेष, प्रशस्त द्वेष है । "मेरे गुण प्राप्ति के कारणभूत इन स्थानों का नाश नहीं होना चाहिए", ऐसा भाव होने से यह द्वेष प्रशस्त है । यह प्रशस्त द्वेष-अप्रशस्त राग एवं द्वेष का नाश करता है। जब तक परम समता की भूमिका प्राप्त न हो, तब तक प्रशस्त कषाय भी जरूरी है, क्योंकि प्रारंभिक भूमिका में कषाय ही कषाय का नाश करते हैं ।

क्रोधादि चार कषाय तीव्र, तीव्रतर, मंद तथा मंदतर आदि अपेक्षा से असंख्य प्रकार के हैं । इन असंख्य भेदों को संक्षेप में चार विभागों में बांटा है ।

१. अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया एवं लोभ.

२. अप्रत्याख्यानीय क्रोध, मान, माया एवं लोभ.

३. प्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया एवं लोभ.

४. संज्वलन क्रोध, मान, माया एवं लोभ.

अनंतानुबंधी आदि चार प्रकार के कषायों का स्वरूप :

१. अनंतानुबंधी कषाय : अनंत संसार के साथ जोडे, ऐसे कषाय को अनंतानुबंधी कषाय कहते हैं । अनंतानुबंधी कषाय का उदय जीव में मिथ्यात्व मोहनीय के उदय को चालू रखता है, जिसके कारण विपर्यास पैदा होता है । विपर्यास अर्थात् वस्तु को उसके वास्तविक स्वरूप से विपरीत मानना । जैसे नन्हें बालक को विपर्यास के कारण जहरीला और मारनेवाला साँप भी, मारनेवाला नहीं लगता; उसी प्रकार इन कषाय के उदयवाले जीवों को विपर्यास के कारण पाँच इन्द्रियों के विषयों में राग जनित पाप प्रवृत्ति मुझे महादुःख देनेवाली है, ऐसा लगता ही नहीं ।

इन कषायों के सहचारी ऐसे मिथ्यात्व मोहनीय का मुख्य कार्य तत्त्व के प्रति अश्रद्धा तथा कर्तव्य-अकर्तव्य, हेय-उपादेय का अविवेकरूप विपर्यास उत्पन्न करवाना है । वास्तव में जगत् में कोई तत्त्वभूत तथा सारभूत पदार्थ हो, तो वह मोक्ष है, क्योंकि परम सुख मोक्ष से ही मिल सकता है । मोक्ष ही परम आनंद स्वरूप है एवं ऐसे मोक्ष का कारण धर्म है, इसलिए धर्म ही सुख देनेवाला है । परन्तु अनंतानुबंधी कषाय के उदयवाले भोगासक्त जीवों को धर्म ही परम सुख का कारण नहीं लगता । हाँ, जैसे धन कमाने के लिए व्यापारी व्यापार की क्रिया करता है, व्यापार सम्बन्धी अनेक कष्ट सहन करता है, उसी तरह इन कषायों के उदयवाले जीव भी संसार के सुख, देवलोक, वगैरह के लिए थोड़ा बहुत धर्म कर लेते हैं, परन्तु इस धर्म से ही मोक्ष का सुख मिलेगा, आत्मा का आनंद मिलेगा, वैसी तीव्र श्रद्धा, विपर्यास के कारण, इस कषाय के उदय काल में नहीं होती ।

इसीलिए ही इन कषायों के उदयवाले जीव कभी सम्यग्दर्शन नाम के आत्मिक गुण को प्राप्त नहीं कर सकते, जब तक इन कषायों का उदय तीव्र कोटि का होता है, तब तक तो जीव को नाशवंत एवं नकली ऐसे भोगों में ही सुख की अनुभूति होती है । उसके कारण भोग में प्रवृत्ति हो या न हो तो भी 'भोग ही अच्छे हैं, वे ही सुखकारक हैं', ऐसे संस्कार आत्मा पर पड़ते ही रहते हैं । इन संस्कारों के कारण जब जब भोग की प्राप्ति होती है, तब तब जीव फिर से उसमें आसक्तिपूर्वक प्रवृत्त होता है, पाप बांधता है एवं पुराने संस्कारों को दृढ़ करता है । इस तरह विपर्यास के कारण अनंतकाल तक ये कषाय संसार की परंपरा का सर्जन करते रहते हैं । इसीलिए उन्हें अनंत-अनुबंधी कहते हैं।

'तथाभव्यत्व'[6] के परिपाक एवं जीव के अमुक प्रकार के पुरुषार्थ से ये कषाय जब मंद पड़ते हैं, तब जीव कुछ अंशों में आत्मा के अभिमुख होने का प्रयत्न करता है, सच्चे सुख को खोजता है, भोग में दुःख है, ऐसा आंशिक अनुभव करता है एवं गुण में सुख है ऐसा सामान्य से भी उसे ज्ञान होता है और तब यह जीव मित्रादि योगदृष्टियों[7] में प्रवेश करता है । तब भी मंद हुए ये कषाय तत्त्व की पूर्ण श्रद्धा तो नहीं ही होने देते ।

गुरु भगवंत इन कषायों से पूर्ण मुक्त होते हैं । तत्त्व के प्रति उनकी श्रद्धा मेरु पर्वत जैसी अडिग होती है । इसलिए वे तत्त्वमार्ग पर चलते हैं और अनेक लोगों को सुखकारक तथा कल्याणकारक तत्त्वमार्ग को बताने का पुरुषार्थ करते हैं ।

---

6. तथाभव्यत्व - उन - उन द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को पाकर मोक्ष में जाने की योग्यता । यह योग्यता मोक्षरूप काल को जब-जब नजदीक लाए, तब-तब तथाभव्यत्व का परिपाक हुआ कहलाता है ।

7. मित्रादि दृष्टियों की विशेष जानकारी प.पू. हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज के 'श्रीयोगदृष्टि समुच्चय' नामक ग्रंथ में उपलब्ध है, उसे समझने के लिए इस ग्रंथ का गुरुगम से अभ्यास करना आवश्यक है ।

२. अप्रत्याख्यानीय कषाय : जिस कषाय के उदय से जीव अल्प भी नियम नहीं ले सकता, वह अप्रत्याख्यानीय कषाय कहलाता है ।

तत्त्वमार्ग के प्रति श्रद्धा होने के बावजूद भी, धर्म में सुख है ऐसी बुद्धि होने पर भी इन कषायों के उदयवाले जीवों में पुद्गलों की ऐसी आसक्ति होती है कि, वे पुद्गलों के प्रति राग का त्याग कर, व्रत-नियमों का स्वीकार नहीं कर सकते ।

अप्रत्याख्यानीय कषाय के उदयवाले जीव बाह्य तप-त्याग-व्रत-नियम की प्रवृत्ति करें, तो भी उस काल में भी वे त्याग की हुई वस्तुओं के राग या आकर्षण को नहीं छोड़ सकते ।

अनंतानुबंधी के उदय का जब नाश होता है, तब साधक सूक्ष्म पदार्थों का विवेकपूर्वक पर्यालोचन कर सकता है, इस कारण उसे भोगमार्ग दुःखदायक एवं योगमार्ग सुखदायक लगता है । फलतः उसे योगमार्ग में प्रवृत्ति करने की प्रबल इच्छा होती है, फिर भी अप्रत्याख्यानीय-कषाय के उदय के कारण जीव में ऐसा सत्त्व प्रगट नहीं होता कि जिससे वह भावपूर्वक व्रत-नियमों का स्वीकार कर सके ।

पहले कषाय के क्षयोपशमवाले एवं अप्रत्याख्यानीय कषाय के उदयवाले जीवों के लिए महापुरुषों ने कहा है कि, उनका शरीर संसार में होता है परंतु मन मोक्ष में ही होता है। ऐसी स्थिति होने पर भी अप्रत्याख्यानीय कषाय उसे मोक्षमार्ग के अनन्य कारणभूत ऐसे संयममार्ग में थोड़ी भी प्रवृत्ति नहीं करने देता । इस कषाय के उदयवाले जीव सदाचारी भी हो सकते हैं एवं सप्तव्यसनी भी हो सकते हैं, अल्प आरंभवाले भी हो सकते हैं एवं महाआरंभ, परिग्रह से युक्त भी हो सकते हैं, कभी योगी जैसे भी दिखते हैं और कभी महाभोगी भी हो सकते हैं । संक्षेप में, त्यागी हो या न हो, परन्तु त्याग का परिणाम तो इस कषाय के काल में संभवित हो ही नहीं सकता ।

३. प्रत्याख्यानीय कषाय : प्रत्याख्यान अर्थात् सर्व पापों से निवृत्ति । सर्व पापों की निवृत्ति सर्वविरति धर्म से ही होती है । जो कषाय ऐसे प्रत्याख्यान

स्वरूप सर्वविरति धर्म को रोके, उसे प्रत्याख्यानीय कषाय कहते हैं । इसीलिए प्रत्याख्यानीय कषाय के उदयवाले जीव सर्वविरति धर्म का स्वीकार नहीं कर सकते, परन्तु सर्वविरति के प्रति उनमें तीव्र अभिलाषा तो होती ही है और उसी कारण वे प्रयत्नपूर्वक भी सर्वविरति की शिक्षा समान देशविरति धर्म के व्रत-नियमों को जरूर पालते हैं ।

सर्वथा हिंसादि पाप की निवृत्ति का भाव तभी उत्पन्न होता है, जब जगत् के सभी द्रव्यों एवं सभी जीवों के प्रति समवृत्ति हो । इस समवृत्ति का भाव भी तब तक ही टिकता है कि जब तक मन-वचन-काया से करने-करवाने एवं अनुमोदन रूप अहिंसादि का पालन हो, परन्तु प्रत्याख्यानीय कषाय के उदयवाले ऐसे भावपूर्वक संपूर्ण अहिंसादि का पालन नहीं कर सकते ।

गुरु भगवंत इन कषायों के उदय से पूर्ण मुक्त होते हैं, इसीलिए मोक्ष के अमोघ साधनभूत भावचारित्र में मग्न रहते हैं ।

४. संज्वलन कषाय : संयमी आत्मा को भी थोड़ा जलाए, वह संज्वलन कषाय है । भाव से संयम जीवन प्राप्त करने के बाद और त्रिविध-त्रिविध अहिंसादि का पालन करने के बावजूद संज्वलन कषाय का उदय संयम जीवन में अतिचार उत्पन्न करता है । संज्वलन कषाय का प्रशस्त उदय मोक्ष एवं मोक्ष के उपाय के प्रति तीव्र राग (इच्छा) स्वरूप तथा असंयम के प्रति द्वेष के परिणाम स्वरूप है । यह प्रशस्त कोटि के संज्वलन राग-द्वेष संयम की वृद्धि के कारण बनते हैं, जब कि अप्रशस्त संज्वलन कषाय का उदय चंडरुद्राचार्य की तरह अतिचार भी उत्पन्न करवाता है ।

इस कषाय का उदय दसवें गुणस्थानक तक होता है । प्राथमिक कक्षा में अप्रशस्त ऐसे इन कषायों का उदय अतिचार उत्पन्न करवाकर संयम को सातिचार करता है । ऊँची कक्षा में ये कषाय अतिचार पैदा नहीं करते हुए भी प्रशस्त विकल्प करवाते हैं । निर्विकल्प अवस्था की प्राप्ति के बाद भी सूक्ष्म तरीके से इन कषायों का उदय होता है, परन्तु तब ये कषाय विकल्पों को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते।

उपर्युक्त चार प्रकार के क्रोध, मान, माया एवं लोभ स्वरूप कषायों में से गुरु भगवंत तीन प्रकार के क्रोधादि कषायों से सर्वथा मुक्त होते हैं एवं चौथे प्रकार के क्रोधादि कषाय से मुक्त होने का सतत पुरुषार्थ करते हैं, इसलिए उन्हें चार कषायों से मुक्त कहते हैं । ऐसे चार प्रकार के कषायों से मुक्त गुरु भगवंतों के गुणों को हमें इस पद द्वारा स्मृति में लाना है ।

इस पद का उच्चारण करते समय साधक सोचता है कि,

'जिन कषायों के बिना मैं एक क्षण भी नहीं रह पाता, उन्हीं कषायों को मेरे गुरु भगवंत कभी भी उदय में नहीं आने देते । कभी वे उदय में आ भी गए, तो वे संयमादि सद्गुणों का नाश नहीं कर पाते । ऐसे महात्माओं का आलंबन लेकर उन्हें अपना आदर्श बनाकर मैं भी अपने कषायों का नाश करने का यत्न करूँ ।'

इअ अट्ठारस-गुणेहिं संजुत्तो : इस प्रकार अट्ठारह गुणों से युक्त (आचार्य भगवंत) हैं ।

पाँच इन्द्रियों के विकार शांत हुए हों, तो ही ब्रह्मचर्य का पालन सुविशुद्ध हो सकता है एवं जिन्हें विषयों के प्रति वैराग्य हो, उन्हें ही कषाय नहीं सताते । इस तरह क्रम में रखे गए ऐसे अट्ठारह गुणों से युक्त आचार्य भगवंत होते हैं ।

ये अट्ठारह गुण, दोष की निवृत्ति स्वरूप हैं, दोषों की निवृत्ति के साथ-साथ गुणों की प्राप्ति भी आवश्यक है । इसलिए अब गुण में प्रवृत्ति रूप बाकी के १८ गुण दूसरी गाथा में बताए हैं ।

इन्द्रियों का नियमन करनेवाले, ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले एवं कषायों का त्याग करनेवाले, ऐसे १८ गुणों वाले महात्मा लौकिक दृष्टि से भी अच्छे गिने जाते हैं, जबकि दूसरी गाथा में जो अट्ठारह गुण बताए हैं, उन अट्ठारह गुणों से युक्त आत्मा ही लोकोत्तर दृष्टि से भी उत्तम हैं ।

पंच महव्वय-जुत्तो : गुरु भगवंत पाँच महाव्रतों से युक्त हैं । अणुव्रत

की अपेक्षा से जो महान हैं, जिसका क्षेत्र विशाल तथा पालने में भी जो दुष्कर हैं, ऐसे व्रतों को महाव्रत कहते हैं ।

महाव्रत के पाँच प्रकार हैं ।

पाँच महाव्रतों का स्वरूप :

१. सर्वथा प्राणातिपात विरमण व्रत : सूक्ष्म-बादर, त्रस-स्थावरादि सर्व प्रकार के जीवों की मन-वचन एवं काया से हिंसा नहीं करना, न करवाना एवं हिंसा करनेवाले की अनुमोदना नहीं करना, यह इस व्रत का स्वरुप है।

यह प्राणातिपात विरमण व्रत बाह्य (द्रव्य) एवं अभ्यंतर (भाव), निश्चय नय एवं व्यवहार नय के भेद से दो भेदवाला है । बाह्य तरीके से छः काय के जीवों का वध नहीं करना, बाह्य हिंसा से अटकने रूप व्रत है । दैविक सुखों के लिए संयम स्वीकारनेवाले अभव्यादि जीव भी ऐसा व्रत पालते हैं । परन्तु ऐसे द्रव्य से पाले हुए प्राणातिपात-विरमण व्रत से विशेष आध्यात्मिक लाभ नहीं होता । जब कि, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, समता इत्यादि जो जीव के भाव प्राण है उनकी रक्षा करना भाव प्राणातिपात विरमण व्रत है । अतः राग-द्वेष आदि कोई कषाय एवं कषायों के कारण होनेवाले विकल्पों का परिहार करना तथा अन्य आत्मा को भी राग-द्वेष आदि भाव उत्पन्न करनेवाले निमित्त न देना; वह अपने और अन्य के भाव-प्राण की रक्षा रूप अभ्यंतर (भाव) प्राणातिपात विरमण व्रत का पालन हैं ।

इसलिए महामहोपाध्यायजी तो कहते हैं कि,

एकता ज्ञान निश्चय दया, सद्‌गुरु तेहने भाखे,
जेह अविकल्प उपयोगमां निज प्राणने राखे...९

राग-द्वेषादि मोह के विकल्पों से मुक्त शुद्ध ज्ञान गुण के साथ जो एकता है, उसे सद्‌गुरु भगवंत निश्चयनय से दया कहते हैं ।

निर्विकल्प उपयोग में रहकर समता आदि अपने भावप्राणों की रक्षा करना, ही निश्चयनय से दया या अहिंसा है ।

अपने भाव प्राणों की रक्षा करना याने कि अपने चित्त को रागादि विकल्पों से मुक्त रखना, अभ्यंतर प्राणातिपात विरमण व्रत है, क्योंकि, उसमें अंतरंग भावों का प्राधान्य है ।

द्रव्य हिंसा करने की अपेक्षा भाव हिंसा आत्मा के लिए बहुत अनर्थकारी है । भाव हिंसा कषायरूप होने से आत्मा को वर्तमान काल में भी पीड़ा देती है और भविष्य में भी कर्मबंध करवाकर महापीड़ा उत्पन्न करती है । इसलिए मुनि विकल्प करने रूप भाव हिंसा से बहुत सावधान रहते हैं एवं इस हिंसा से बचने के लिए ही वे द्रव्य हिंसा से भी दूर रहते हैं, क्योंकि किसी के द्रव्य प्राणों का विनाश या द्रव्य-प्राण की उपेक्षा कषाय के बिना संभव नहीं है । ऐसे भाव से अहिंसा व्रत का पालन ही मोक्ष का कारण बनता है, इसलिए मुनि सतत उसमें पुरुषार्थ करते हैं ।

इस व्रत के यथायोग्य पालन के लिए मुनि भगवंत शुद्ध आहार-पानी की गवेषणा करते हैं, समिति-गुप्ति का पालन करते हैं, किसी भी जीव को लेश मात्र भी पीड़ा न हो जाए, उसका विशेष ध्यान रखते हैं एवं जगत के तमाम भावों के प्रति उदासीन रहते हैं ।

संसार के किसी भाव में राग-द्वेष न हो जाए, उसकी सावधानी रखते हैं एवं सर्व जीवों में 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' रूप तुल्य वृत्ति धारण करते हैं ।

जिज्ञासा : एकेन्द्रियादि जीव अनाभोग के कारण बाह्य से मन-वचन-काया से हिंसा नहीं करते एवं अभव्य आत्मा समझकर मन-वचन-काया से हिंसा नहीं करते, तो उनमें महाव्रत कहलाता है या नहीं ?

तृप्ति : एकेन्द्रियादि जीव भले षट्काय जीवों की हिंसा नहीं करते, तो भी सर्व जीवों की हिंसा से अटकने का उनका भाव नहीं होता, इसलिए उनमें महाव्रत या अणुव्रत है, ऐसा नहीं कह सकते ।

अभव्य आत्माएँ या संसार रसिक आत्माएँ भौतिक सुख की प्राप्ति के लिए व्रत का पालन करती हैं । इसलिए वे मन-वचन-काया से हिंसादि में प्रवृत्त न हों, तो भी उनमें महाव्रत है, ऐसा नहीं कहा जाता क्योंकि, उनमें

भोगादि को खराब मानकर उनका त्याग करने का भाव नहीं होता । इसके उपरांत वे जिस भौतिक सुख को चाहते वह सुख अन्य को दुःख दिये बिना मिलता नहीं, अतः उनकी वर्तमान कालीन अहिंसा भी हिंसा में ही परिणमित होनेवाली है । इसलिए उनकी अहिंसा अहिंसा नहीं फलतः हिंसा ही है । हाँ, कभी स्थूल व्यवहार से या बाह्य से यह कह सकते हैं कि उनमें महाव्रतों का आचरण है ।

जिज्ञासा : मुनि छः काय के जीवों की रक्षा करने के लिए यतमान रहते हों तो उनकी विहार आदि प्रवृत्तियाँ कैसे संभव है ? क्योंकि विहार आदि प्रवृत्तियाँ करने में वायुकाय आदि जीवों की हिंसा तो होती ही है ।

तृप्ति : विहार या भिक्षाटनादि क्रिया से बाह्य दृष्टि से वायुकायादि की हिंसा होते हुए भी वास्तविकता की दृष्टि से यह हिंसा नहीं है क्योंकि, एक स्थान पर स्थिर रहने से वायुकाय की हिंसा भले न हो, तो भी उन उन स्थानादि विषयक प्रतिबंध (रागादि) होने की संभावना है। इस तरह क्षेत्रादि में प्रतिबंध न हो, इसलिए ही नवकल्पी विहार की भगवद् आज्ञा है । इस रीति से भगवान की आज्ञानुसार सर्वत्र अप्रतिबद्ध रहने की इच्छा से की हुई प्रवृत्ति में कभी बाह्य दृष्टि से हिंसा हो, तो भी वह भाव प्राण की रक्षा का उपाय होने से अनुबंध से तो अहिंसा ही है । ऐसी प्रवृत्ति से महाव्रत को कभी आँच नहीं आती ।

२. सर्वथा मृषावाद विरमण व्रत : सर्व प्रकार की मृषा भाषा का त्याग करना। क्रोध, लोभ वगैरह कषाय एवं हास्य, भय आदि नोकषाय के अधीन होकर असत्य न बोलना, और सत्य भी अप्रिय या अहित करनेवाला हो, तो नहीं बोलना, मृषावाद विरमण व्रत है ।

यह मृषावाद विरमण व्रत भी द्रव्य एवं भाव के भेद से दो प्रकार का है । असत्य न बोलना द्रव्य से मृषावाद विरमण व्रत है एवं भगवान के वचन के स्मरणपूर्वक आत्मभाव को पीड़ा न पहुँचे वैसा ही बोलना, भाव से मृषावाद विरमण व्रत है । इस प्रकार प्रत्येक व्रत द्रव्य से एवं भाव से, निश्चय से एवं व्यवहार से अनेक भेदवाले हैं ।

३. सर्वथा अदत्तादान विरमण व्रत : वस्तु के मालिक की आज्ञा के बिना वस्तु को ग्रहण नहीं करना, ये तीसरा सर्वथा अदत्तादान विरमण व्रत है ।

धनादि के मालिक की अनुमति के बिना उसको ग्रहण नहीं करना चाहिए। जैसे सचित्त फल आदि का मालिक उसका जीव होता है, उसकी आज्ञा के बिना उसको ग्रहण नहीं करना चाहिए। वैसे ही साधक आत्मा के मन-वचन-काया, देव-गुरु को समर्पित होते हैं, इसलिए साधक को देव-गुरु की इच्छा या आज्ञा के बिना अपने मन-वचन-काया का उपयोग नहीं करना चाहिए । इस तरीके से स्वामी अदत्त, जीव अदत्त, तीर्थंकर अदत्त एवं गुरु अदत्त के त्याग स्वरूप यह व्रत है । इस व्रत को पालने के लिए संयमी आत्मा सदा अपने देव-गुरु की इच्छा एवं आज्ञा को ध्यान में रखकर प्रवृत्ति करते हैं ।

४. सर्वथा मैथुन विरमण व्रत : स्त्री-पुरुष के संयोग रूप मैथुन क्रिया का या मन-वचन-काया से सर्व प्रकार के अब्रह्म का त्याग करना, सर्वथा मैथुन विरमण व्रत है । इसलिए मुनि मात्र मैथुन क्रियारूप अब्रह्म का ही त्याग करते हैं, ऐसा नहीं है, परन्तु पाँचों इन्द्रियों के विषयों के उपभोग में सावधान रहते हैं । रागादि उत्पन्न हों, ऐसे विषयों से मुनि दूर रहते हैं । इस व्रत को विशेष प्रकार से पालने के लिए ही मुनि मलिन वस्त्र पहनते हैं, शरीर-संस्कार का त्याग करते हैं एवं उत्तम भाव से श्रेष्ठ कोटि की ब्रह्मचर्य की गुप्ति धारण करते हैं ।

५. सर्वथा परिग्रह विरमण व्रत : नौ प्रकार के बाह्य परिग्रह का एवं चौदह प्रकार के अभ्यंतर परिग्रह[7] का त्याग करना, सर्वथा परिग्रह विरमण व्रत है । दूसरी अपेक्षा से मूर्च्छा (लगाव) ही परिग्रह है एवं मूर्च्छा का त्याग, ही यह व्रत है। बाह्य रीति से किसी भी वस्तु का त्याग करने मात्र से यह व्रत पूर्ण नहीं होता; परन्तु उसके उपरांत संयम के लिए उपयोगी सामग्रियों

---

7. धन[१], धान्य[२], जमीन[३], मकान[४], चांदी[५], सोना[६], अन्य[७], धातुएँ[८], चतुष्पद[९]: ये नौ प्रकार के बाह्य परिग्रह हैं एवं तीन वेद, चार कषाय, हास्यादि ६ और मिथ्यात्व : ये चौदह प्रकार के अभ्यंतर परिग्रह हैं ।

के ऊपर भी मूर्च्छा (लगाव-आसक्ति) का त्याग इस व्रत में निहित है । इसलिए मुनि साधना के लिए उपयोगी अनेक प्रकार की सामग्री रखते हैं, तो भी उस सामग्री पर मूर्च्छा नहीं रखते ।

'आत्मा का शुद्ध स्वरूप' आनंदप्रद है, वही तत्त्व है, वही प्राप्तव्य है, ऐसी संवेदना पूर्वक शुद्ध आत्म स्वरूप को प्राप्त करने की जिसे तीव्र रूचि हो, स्वरूप प्राप्ति का उपाय अपने भाव-प्राण का रक्षण ही है, ऐसा बुद्धि में स्थिर हुआ हो तथा अपने भाव-प्राण के रक्षण के लिए ही जो पर-प्राण के रक्षण में प्रवृत्त हो, उसे ही भाव से महाव्रत की प्राप्ति हो सकती है ।

इस पद का उच्चारण करते हुए साधक सोचता है कि,

"महासत्त्वशाली मेरे गुरु भगवंत मेरू पर्वत ऊठाने तुल्य एवं तलवार की धार पर चलने तुल्य महाव्रतों का आजीवन विशुद्ध पालन करते हैं । जब कि सत्त्वहीन मैं छोटे से नियम को अल्प समय के लिए भी अच्छी तरह से निभा नहीं पाता । इन गुरु भगवंतों का स्मरण करके मैं भी उनके जैसा सत्त्व प्रकट करने का यत्न करूँ ।"

पंच विहायार पालण-समत्थो : (गुरु भगवंत) पाँच प्रकार के आचारों को पालने में समर्थ होते हैं ।

जिसका आचरण किया जाए, वह आचार[8] कहलाता है । आचार अर्थात् आचरण । जिससे ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति तथा वृद्धि हो, वैसे आचरण को आचार कहते हैं । ये आचार पाँच प्रकार के हैं । १. ज्ञानाचार, २. दर्शनाचार, ३. चारित्राचार, ४. तपाचार, ५. वीर्याचार.

ज्ञानगुण की वृद्धि के लिए काल-विनय-बहुमान आदि ८ आचारों का पालन करना, ज्ञानाचार है । दर्शन गुण की वृद्धि के लिए शंका-कांक्षा आदि दोषों को टालकर तत्व को समझने के लिए प्रयत्न करना, दर्शनाचार

8. आचर्यते इति आचार - जो वह आचार आचरण किया जाए ।

है । पाँच समिति एवं तीन गुप्ति का पालन करना, चारित्राचार है । बारह प्रकार के तप में प्रयत्न करना, तपाचार है एवं सभी आचारों में वीर्य का प्रवर्तन करना, वीर्याचार है[9] ।

आचार्य ज्ञानादि गुणसंपन्न होते हैं, तो भी ज्ञानगुण की वृद्धि के लिए, सम्यग्दर्शन की निर्मलता के लिए, भाव चारित्र की उत्तरोत्तर वृद्धि के लिए वे ज्ञानाचार आदि का आचरण करते हैं, चारित्र की विशेष भूमिका प्राप्त करने के लिए तपाचार एवं अप्रमाद भाव को प्राप्त करने के लिए वीर्याचार का पालन करते हैं ।

जिज्ञासा : ज्ञान एवं ज्ञानाचार आदि में क्या भेद है ?

तृप्ति : पदार्थ का बोध होना ज्ञान है एवं सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करने के लिए गुरु के प्रति विनय, ज्ञानी एवं ज्ञान का बहुमान, योग्य काल वगैरह "काले विनये बहुमाणे..." इस गाथा में बताए तरीके से ज्ञान को प्राप्त करने की क्रिया, ज्ञानाचार है । दर्शन अर्थात् श्रद्धा एवं श्रद्धा को प्राप्त करने या दृढ करने के लिए निःशंक होकर, कांक्षारहित होकर "निस्संकिय, निकंक्खिय..." इस गाथा में बताए ८ आचारों का पालन करना, दर्शनाचार है । चारित्र अर्थात् आत्मगुणों में रमणता एवं चारित्र के कारणभूत समिति, गुप्ति आदि का पालन करना, चारित्राचार है । तप अर्थात् इच्छा का रोध एवं इच्छा का रोध करने में कारणभूत १२ प्रकार के तप में प्रयत्न करना, तपाचार है । वीर्य याने सामर्थ्य, बल, पराक्रम, इत्यादि को छिपाए बिना अपनी शक्ति के अनुसार धर्म करना, वीर्याचार है ।

इस पद का उच्चारण करते समय साधक सोचता है कि,

"प्रवृत्ति तो मैं भी करता हूँ एवं मेरे गुरु भगवंत भी करते हैं, पर मैं उससे रागादि की वृद्धि करके कर्मबंध करता हूँ, जब कि वे ज्ञानादि गुणों की वृद्धि करके कर्मनाश करते हैं । मेरी प्रवृत्ति

9. इन पाँचों आचार का विशेष बोध पाने सूत्र संवेदना-३ में से नाणंमि० सूत्र का अभ्यास करना चाहिए ।

स्व-पर दुःख का कारण बनती है, तो उनके आचार स्व-पर सुख का कारण बनते हैं । ऐसे गुरु भगवंतों को हृदयस्थ करके मैं भी अपनी प्रवृत्ति का परिवर्तन करना चाहता हूँ ।"

पंच समिओ ति-गुत्तो : (गुरु भगवंत) पाँच समिति और तीन गुप्ति वाले होते हैं ।

समिति याने सम्यक् प्रवृत्ति करनी एवं गुप्ति याने मन-वचन-काया के योगों को आत्म भाव में रखना । समिति प्रवृत्ति प्रधान है एवं गुप्ति निवृत्ति प्रधान है ।

पाँच समितिओं का स्वरूप :

१. ईर्यासमिति : ईर्या=चर्या, सम्यग् प्रकार से चलने की क्रिया ।

कारण के बिना मुनि को चलने का निषेध है । ऐसा होते हुए भी कारण उपस्थित होने पर जब मुनि को चलने का प्रसंग आए, तब जीवों की रक्षा के लिए सूर्य की किरणों से एवं लोगों के आने-जाने की क्रिया से अचित्त हुई भूमि पर त्रस जीवों की हिंसा से बचने के लिए साढ़े तीन हाथ भूमि को देखकर चलना, ईर्यासमिति है ।

उत्सर्ग मार्ग से याने [10]मुख्यतया मुनि को कायगुप्ति में रहना है, काय-गुप्ति के साधक मुनि सदा ज्ञान-ध्यान में मग्न होते हैं, कारण के बिना वे हाथ-पैर हिलाने की क्रिया भी नहीं करते, फिर भी नीचे बताए हुए [11]चार कारणों से मुनि को चलने की भगवान ने अनुज्ञा दी है ।

१. जिनवंदन : गुण प्राप्ति का प्रयत्न गुणवान के दर्शन-स्मरण से होता है, इसीलिए संपूर्ण शुद्ध एवं पूर्ण गुणयुक्त अपने स्वरूप की प्राप्ति के लिए मुनि जिनमंदिर जाते हैं ।

---

10. कायगुप्ति उत्सर्गनेजी, प्रथम समिति अपवाद - पू. देवचंद्रजी की अष्टप्रवचन की सज्झाय ।
11. मुनि उठे वसहि थकीजी पामी कारण चार,
जिनवंदन ग्रामांतरेजी, के आहार निहार. मुनीश्वर इर्या समिति संभाल -

इससे अतिरिक्त ज्ञानाभ्यास एवं वैयावच्चादि कार्य भी गुण की प्राप्ति एवं वृद्धि के हेतु होने से वैसे कार्यों का समावेश भी उपलक्षण से इसी कारण में हो जाता है । अतः इन कारणों से भी मुनि को गमनागमन की अनुज्ञा है ।

२. विहार : एक स्थान पर रहने से क्षेत्र एवं उस क्षेत्र में रहनेवाले भक्त आदि के प्रति रागादि होने की संभावना रहती है एवं रागादि का बंधन जीव के दुःख का कारण है । इसलिए वायु की तरह अप्रतिबद्ध रहनेवाले मुनि के लिए नवकल्पी विहार करने की भगवान की आज्ञा है । अतः मुनि एक गाँव से दूसरे गाँव विहार करते हैं ।

३. आहार : मुनि को जिस शरीर से साधना करनी है, वह शरीर औदारिक है। औदारिक शरीर आहार के बिना नहीं टिकता । इसके अलावा, शुद्ध आहार संयमजीवन का कारण बनता है, इसलिए शुद्ध आहार एवं उपलक्षण से वस्त्र, पात्र, वसति आदि के लिए मुनि गमन-आगमन करते हैं ।

४. निहार : औदारिक शरीर ही ऐसा है कि आहार ग्रहण करो तो निहार (त्याग) का कार्य करना पड़ता है । मल का त्याग कहीं भी करने से जीवहिंसा या लोक में संयम धर्म के प्रति अप्रीति होने की संभावना रहती है। इसलिए मल के विसर्जन के लिए मुनि योग्य स्थल की खोज के लिए भी गमन करते हैं ।

उपर्युक्त चार कारणों से जब मुनि को गमनागमन करना पड़े, तब वे ईर्यासमिति का पालन करते हुए चलते हैं ।

२. भाषा समिति : बोलने का प्रसंग आने पर मुनि उपयोगपूर्वक हित-मित एवं पथ्य भाषा बोलते हैं, यह भाषा समिति है ।

मोक्षमार्ग के साधक मुनि मुख्यतया तो वचनगुप्ति में ही रहते हैं । तो भी अपनी भूमिका के मुताबिक तीन कारणों से वचन में प्रवृत्ति करते हैं ।

१. गुणवान आत्मा के **गुणों की स्तवना** के लिए : कहा है कि 'उत्तम के गुणगान से अपने में गुणों का प्रादुर्भाव (प्रगटन) होता है' (उत्तम ना गुण

गावंता, गुण आवे निज अंग) गुणवान पुरुषों के गुण की स्तवना गुण प्राप्ति का कारण है । इसलिए उत्तम पुरुषों के गुणों की स्तवना आदि के लिए मुनि वचन प्रयोग करते हैं ।

२. भव्यात्मा को **उपदेश** देने के लिए : धर्म को प्राप्त करने की योग्यतावाली आत्मा का आगमन होने पर गुरु की आज्ञा से शास्त्र के जानकार मुनि उपदेश के कार्य में प्रवृत्त होते हैं ।

३. **शास्त्र अध्ययन** करने के लिए - मोक्षमार्ग की प्राप्ति के लिए, शुभ भावों में स्थिर रहने के लिए एवं आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने के लिए मुनि वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा एवं धर्मकथा स्वरूप स्वाध्याय में सतत प्रयत्न करते हैं ।

उपर्युक्त तीन कारण उपस्थित होने पर मुनि भाषा समिति के पूर्ण उपयोग पूर्वक (मुहपत्ति के उपयोग के साथ) बोलते हैं ।

३. एषणा समिति : ४२ दोषों से रहित शुद्ध आहार की खोज करनी, वह एषणा समिति है । मुनि अनाहारी भाव की तीव्र इच्छावाले होते हैं, फिर भी ६ कारण[12] उपस्थित होने पर वे शुद्ध आहार के लिए यत्न करते हैं ।

१. वेदना - क्षुधा से हुई वेदना सहन न हो तब ।

२. वैयावच्च - आहार किए बिना कमजोरी आने पर योग्य तरीके से वैयावच्च न हो तब ।

३. ईर्यार्थ - नेत्र का तेज मंद होने पर ईर्यासमिति का पालन न हो सके तब।

४. संयमार्थ - शरीर के सामर्थ्य के अभाव में संयम जीवन का पालन बराबर न हो सके तब ।

५. प्राणार्थ - आहार के बिना प्राण जाने की संभावना हो तब ।

---

12. वेयण वेयावच्चे, इरियट्ठाए अ संजमट्ठाए । तह पाणवत्तिआए, छट्ठं पुण धम्मचिंताए ।।
- विंशतिविंशिका १३, गाथा १३

६. धर्म चिंतार्थ - आर्त्तध्यान होने से (असमाधि आदि से) धर्मध्यान में मन स्थिर न रह सके तब, मुनि शुद्ध आहार की गवेषणा करते हैं ।

४. आदान भंडमत्तनिक्खेवणा समिति : संयम साधना में उपयोगी वस्त्रपात्र, उपधि एवं उपकरणों को लेने या रखने का प्रसंग आए, तब उपयोगपूर्वक देखकर, प्रमार्जन करके वस्तु को लेना या रखना, वह चौथी समिति है । चौथी एवं पाँचवी समिति भी निष्परिग्रह स्वरूप आत्म स्वभाव का अपवाद है ।

आत्मा का मूल स्वभाव तो अपरिग्रही है, इसलिए लब्धि एवं शक्ति से युक्त मुनि कुछ भी नहीं रखते, तो भी जिनके पास वैसी लब्धि या शक्ति नहीं होती, वैसे मुनि शीतादि से आर्त्तध्यान न हो, इसलिए वस्त्र रखते हैं, आहारादि नीचे गिरने से हिंसा न हो, इस कारण पात्र रखते हैं एवं स्मृति के अभाव के कारण पुस्तक रखते हैं ।

इन कारणों से रखे गए वस्त्र-पात्र या अन्य उपकरणों का मुनि यत्नपूर्वक उपयोग करते हैं ।

५. पारिष्ठापनिका समिति : संयम मार्ग में अनावश्यक वस्त्र-पात्र-आहार-मल-मूत्र आदि का विधिपूर्वक त्याग करना (परठवना) । जहाँ मल-मूत्रादि का विसर्जन करना हो, वहाँ निर्जीव भूमि को देखकर-'अणुजाणह जस्सुगहो' कहकर बाद में पारिष्ठापन करना और परठवने के बाद 'वोसिरे-वोसिरे' कहना, यह पारिष्ठापनिका समिति है ।

तीन गुप्तियों का स्वरूप : गुप्ति शब्द 'गुप्' धातु में से बना है । गुप् अर्थात् गोपन करना, रक्षा करना, रोकना, निग्रह करना । जिस क्रिया द्वारा अनिष्ट, मन, वचन, काया की प्रवृत्ति रुकती है, वह गुप्ति है अथवा आस्रव के या संसार के भावों से आत्मा का निवर्तन कर उसे अपने भाव में रखने का प्रयत्न गुप्ति है ।

१. मनोगुप्ति : मन को शुभ-अशुभ सब विकल्पों से रोककर समताभाव में रखना अथवा अशुभ विकल्पों से रोककर शुभ विकल्पों में रखना, मनोगुप्ति है ।

२. वचनगुप्ति : सर्व प्रकार से वचन का त्याग करना - हाथ या मुखादि की चेष्टा या ईशारों के त्यागपूर्वक मौन का अवलंबन लेना, वचनगुप्ति है । अथवा पौद्गलिक किसी भी भाव में प्रवृत्ति न करना, वचनगुप्ति है अथवा निरवद्य वचन बोलना, वचनगुप्ति है ।

३. कायगुप्ति : काया के अनावश्यक व्यापारों का त्याग करना एवं उपसर्गादि प्रसंगों में भी काया को चलायमान न करना, कायगुप्ति है अथवा काया को सावद्य मार्ग में से रोककर निरवद्य क्रिया में जोड़ना, कायगुप्ति है ।

इस प्रकार से पाँच समितियाँ, कुशल मार्ग में प्रवृत्तिरूप हैं एवं तीन गुप्तियाँ मुख्यरूप से कुशल-अकुशल सर्व भावों को दूर करके सिर्फ ज्ञान स्वभाव को प्रगट करने के यत्न रूप हैं ।

मुनि समझते हैं कि रागादि के सब भाव आत्मा के लिए उपद्रव स्वरूप हैं । मात्र ज्ञानरूप अपना स्वभाव ही सुखरूप है, इसलिए इस स्वभाव के लिए यत्न करना चाहिए । अतः मुनि रागादि को उत्पन्न करनेवाले तमाम विषयों की ओर से अपने चित्त को हटाकर ज्ञाता भाव को प्रकट करने का प्रयत्न करते हैं । उसके कारण राग-द्वेष-क्रोधादि के भाव धीरे धीरे शांत होते हैं एवं क्षमादि भावों की वृद्धि होती हैं । इस तरह साधक उपयोग स्वरूप अपने स्वभाव के अनुरूप बनता जाता है । ऐसी स्थिति में प्रवर्तमान मन-वचन-काया के योग, भाव गुप्ति स्वरूप हैं ।

विकल्पवाली दशा में मुनि शास्त्र वचन के पूर्ण उपयोगपूर्वक संयममार्ग में दृढ़ यत्न करता है । आत्म भाव में जाने के लिए अनेकविध क्रियाएँ करता है, वे सब समिति स्वरूप हैं । समिति काल में आत्मभाव के अभिमुख मन-वचन-काया का जितना गोपन होता है, उतने अंशों में गुप्ति तो होती ही है।

इस तरह पहले अठारह अप्रशस्त दोषों की निवृत्तिरूप गुण बताने के बाद, प्रशस्त गुण में प्रवृत्तिरूप गुण बताए है। जिन्होंने पहली गाथा के १८ गुण प्राप्त किए हों, वे ही महाव्रतों का पालन कर सकते हैं एवं उनका

पालन करनेवाले ही पाँच प्रकार के आचार का सम्यक् रीति से पालन कर सकते हैं और इसीलिए वे समिति एवं गुप्ति को जीवन में आत्मसात् कर सकते हैं । इस तरह दूसरे विभाग के १८ गुण भी उत्तरोत्तर विशिष्टतम हैं ।

छत्तीस गुणो गुरु मज्झ : ऐसे छत्तीस गुणों वाले मेरे गुरु हैं ।

अज्ञान का नाश करके जो सम्यग् ज्ञान का प्रकाश फैलाते है, भव्य जीवों को जो धर्म का उपदेश देते है, उन्हें गुरु[13] भगवंत कहते है । गुरु भगवंत में उपर्युक्त छत्तिस गुण होते हैं। इन गुणों के कारण वे स्वयं भी सुखी होते हैं एवं अन्य को भी सुख का मार्ग दिखा सकते है । उनके सुख का मूल कारण यह है कि, वे दुःखदायक विषय कषाय के भावो से दूर रहते हैं एवं समता आदि सुखदायक भावों में स्थिर होने का प्रयत्न करते हैं। जिसके कारण बाह्य अनुकूलता या प्रतिकूलता में वे प्रशान्त रह सकते हैं। प्रत्यक्ष रुप से जब वे पूज्य मेरे सामने उपस्थित नहीं होते तब मैं इस सूत्र द्वारा उनकी मानसिक उपस्थिति स्वीकार करके सभी धर्मक्रिया करने की इच्छा रखता हूँ ।

जो लोग अर्थ की विचारणा करते हुए यह सूत्र बोलते है, उनको 'सद्गुरु भगवंत मेरे सामने ही है' - ऐसा एहसास होता है। फलतः क्रिया करते वक्त वीर्य और उल्लास की वृद्धि होती है एवं प्रमाद आदि दोष दूर रहते है। परन्तु जो लोग उपयोग के बिना मात्र शब्दोच्चार करके इस सूत्र से गुरु स्थापना करते हैं उनमें ऐसे भाव उत्पन्न नहीं होते । इसलिए सभी साधको को अर्थ की विचारणा पूर्वक सूत्र का उपयोग करना चाहिए।

---

13. **गिरति अज्ञानम् इति गुरुः** अर्थात् जो अज्ञान को दूर करें, वह गुरु अथवा **गृणाति (उपदिशति) धर्मम् इति गुरुः** जो धर्म का उपदेश देते हैं, वे गुरु कहलाते हैं ।

खमासमण सूत्र

सूत्र परिचय :

यह सूत्र क्षमादि गुण जिनको सिद्ध हैं, ऐसे अरिहंत और सिद्ध भगवंतों को एवं उत्कृष्ट क्षमा के लिए जो प्रयत्न कर रहे हैं, ऐसे क्षमाश्रमण को वंदन करने में उपयोगी होने से इसे **'खमासमण सूत्र'** के नाम से पहचाना जाता है ।

इस सूत्र के द्वारा दो हाथ, दो घूंटने एवं मस्तक स्वरूप पाँच अंगों को झुकाकर नमस्कार होता है, इसलिए उसका दूसरा नाम **'पंचाग प्रणिपात'** सूत्र भी है ।

इस सूत्र का तीसरा नाम **'थोभवंदन'** भी है क्योंकि तीन प्रकार[1] के वंदन में से मुख्यतया थोभवंदन में इस सूत्र का बहुत उपयोग होता है ।

1. सामान्य रूप से गुरुवंदनभाष्य में गुरुवंदन के तीन प्रकार वर्णित हैं ।

   १. **फिट्टा वंदन** - फिट्टा अर्थात् रास्ता । रास्ते पर चलते हुए दो हाथ जोडकर मस्तक झुकाकर 'मत्थएण वंदामि' कहकर जो वंदन किया जाता है, उसे फिट्टा वंदन या फेंटा वंदन कहते हैं । यह जघन्य वंदन है।

   २. **थोभ वंदन** - स्तोभ अर्थात् रुकना; याने रूककर किया गया वंदन. खड़े रहकर, पंचाग प्रणिपात सहित इच्छकार, अब्भुट्ठिओ सूत्र बोलते हुए वंदन करना थोभवंदन है, यह मध्यम वंदन है।

   ३. **द्वादशावर्त वंदन** - बारह आवर्त्तपूर्वक पूर्ण रीति से किया हुआ 'वंदन' उत्कृष्ट वंदन है । यह वंदन पदस्थ मुनि भगवंतों को किया जाता है ।

गुणवान व्यक्ति को पहचानने से उनके प्रति अहोभाव एवं आदरभाव प्रकट होता है । गुणवान के प्रति उत्पन्न हुआ यह आदर ही गुणों की प्राप्ति में विघ्नकारक कर्मों का नाश करता है एवं गुणप्राप्ति का कारण बनता है । इसीलिए क्षमादि गुणों को प्राप्त करने की इच्छावाले साधक को इस सूत्र द्वारा अत्यंत भावपूर्वक दो हाथ जोड़कर मस्तक झुकाकर एवं दोनों घूंटने सिमहाकर-जमीन पर टिकाकर नमस्कार करना चाहिए ।

जैन शासन की मर्यादा है कि, प्रत्येक क्रिया गुरु का विनय करके, उनसे अनुज्ञा लेकर ही की जाती है । यह सूत्र गुणवान गुरु के प्रति विनय प्रदर्शित करने का उत्तम साधन होने से; सामायिक, प्रतिक्रमण, चैत्यवंदन आदि क्रियाओं में इस सूत्र का प्रचुर मात्रा में उपयोग होता है ।

मूलसूत्र :

इच्छामि खमासमणो ! वंदिउं
जावणिज्जाए निसीहिआए,
मत्थएण वंदामि ।

पद- संपदा अक्षर-२८

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

खमासमणो ! वंदिउं इच्छामि
क्षमाश्रमण ! वंदितुम् इच्छामि
हे क्षमाश्रमण ! मैं वंदन करना चाहता हूँ ।

जावणिज्जाए निसीहिआए,
यापनीयया नैषेधिक्या,
यापनीया द्वारा एवं नैषधिकीपूर्वक

मत्थएण वंदामि ।
मस्तकेन वन्दे ।
मस्तक द्वारा मैं वंदन करता हूँ ।

विशेषार्थ :

इच्छामि खमासमणो ! वंदिउं : हे क्षमाश्रमण ! मैं आपको वंदन करना चाहता हूँ ।

सर्वप्रथम वंदन करनेवाला अपनी इच्छा का निवेदन करता है कि, हे क्षमाश्रमण ! किसी के दबाव से नहीं, परन्तु अपनी इच्छा से मैं आपको वंदन करना चाहता हूँ ।

'इच्छामि' कहने द्वारा गुरु को वंदन करने की इच्छा व्यक्त की जाती है। उसके बाद गुरु भी योग्य शिष्य को 'छंदेण' कहकर अनुज्ञा देते हैं । इस शब्द को सुनकर शिष्य हर्ष विभोर होकर वंदन के लिए उत्साहित होकर वंदन करता है ।

जिस श्रमण में क्षमा मुख्य हो वह अथवा क्षमा के लिए जो श्रम करता हो वह; क्षमाश्रमण कहलाता है । क्षमाप्रधान गुणवाले अरिहंतादि परमात्मा एवं क्षमा गुण को प्राप्त करने के लिए संयम की कठोर साधना करनेवाले आचार्य, उपाध्याय और साधु भगवंत जैनशासन में क्षमाश्रमण कहे जाते हैं ।

यहाँ क्षमाश्रमण शब्द द्वारा क्षमा के उपलक्षण से दस यतिधर्म में श्रम करनेवालों का बोध होता है । ये दस यतिधर्म इस प्रकार हैं -

क्षमादि दस यतिधर्मों का वर्णन :

क्षमा : क्षमा याने सहन करने का भाव । यह क्रोध नामक कषाय का विरोधी भाव है । क्रोध दुःख का कारण है, तो क्षमा वास्तविक सुख का कारण है। किसी के अपराध को सहन न करना, **क्रोध** है; तो किसी के अपराध को सहज स्वीकार लेना, **क्षमा** है । किसी व्यक्ति की तरफ से कटु वचन सुनने को मिले, अथवा कोई उपसर्ग आए, तब क्रोध[2] किए बिना मात्र इतना ही सोचना कि भगवान ने कहा है कि क्षमा रखनी चाहिए, क्योंकि क्षमा रखना मेरा धर्म है, ऐसा विचार कर अपने भावों की विशुद्धि के लिए

2. अपराधाक्षमा क्रोधः x x x

भगवान के वचनानुसार ही मन-वचन-काया की प्रवृत्ति करना एवं क्रोध, जुगुप्सा, अरुचि, अमनोज्ञता, आवेश, संताप आदि कषायिक भावों से प्रभावित न होना, 'क्षमा' नाम का यतिधर्म है ।

मार्दव : नम्रता एवं कोमलता का भाव मार्दव है, वह मान एवं कठोरता का विरोधी भाव है । पुण्योदय से मिले हुए जाति आदि का अहंकार करना[3], हम कुछ हैं, ऐसी बडाई में रहना मान है । जबकि देव या मनुष्यों के द्वारा किए हुए सन्मान या पूजा-वंदना के समय 'मैं महान हूँ' ऐसा नहीं सोचना, किसी के भी द्वारा किए हुए अपमान या तिरस्कार में जरा भी विह्वल नहीं होना एवं ऐसा करते हुए भगवान के वचनानुसार मान कषाय को जीतने का सुदृढ़ प्रयत्न करना 'मार्दव' नामक यतिधर्म है ।

आर्जव : सरलता का भाव आर्जव है, वह माया या वक्रता का विरोधी है । किसी को ठगने की वृत्ति माया[4] है, जब कि भगवान के वचनानुसार आत्म भावों को स्फुरित करने के लिए स्वदोषों का विचार करने या स्वदोषों को गुरु के आगे निवेदन करना या किसी अन्य संयोग में भगवान ने कहा है कि माया नहीं करना, चित्त को वक्र न होने देना, ऐसा सोचते हुए माया के परिणामों को थोड़ा भी स्पर्श किए बिना सरलतापूर्वक जीने का यत्न करना 'आर्जव' नाम का यतिधर्म है ।

मुक्ति : किसी भी वस्तु के संग्रह की इच्छा का अभाव मुक्ति है । वस्तु प्राप्त करने की इच्छारूप लोभ[5] कषाय का यह विरोधी भाव है । मुनि जानता है कि इच्छा मात्र दुःखरूप है । अतः इच्छा मात्र से मुक्त होने की भावना मुनि को हमेशा रहती है । अतः वह शास्त्रानुसारी शुभ चिंतन द्वारा जड एवं चेतन पदार्थो की इच्छाओं के त्याग के लिए प्रयत्नशील रहता है । इच्छा के त्याग के लिए किया गया प्रयत्न ही 'मुक्ति' नाम का श्रमणों का धर्म है ।

---

3. मानो जात्याद्यहंकृतिः xxx
4. माया कपटचेष्टितम् xxx
5. xxx लोभः पदार्थतृष्णा च - योगसार

परमात्मा के वचन से मुनि जानता है कि बहिर्वर्ती जगत् के तमाम पदार्थ मेरी आत्मा के लिए अनुपयोगी हैं । अतः वह खाने, पीने, पहनने की या अन्य किसी भी सामग्री या अपने पर भक्ति भाव रखनेवाले व्यक्ति के प्रति कोई लगाव नहीं रखता । केवल स्व और पर के कल्याण मात्र की मनोवृत्ति रखता है । इस तरह भगवान के वचनानुसार स्व-पर के संयम की वृद्धि हेतु, पर पदार्थ की इच्छा के त्यागपूर्वक जीने का यत्न करना, 'निर्लोभता' या 'मुक्ति' नाम का यतिधर्म है ।

तप : इहलोक एवं परलोक की किसी भी प्रकार की अपेक्षा के बिना मात्र कर्मनिर्जरा के लिए आहारादि का त्याग करके उनके प्रति जो राग-द्वेष है उनको दूर करने का प्रयत्न 'तप' नाम का यतिधर्म है। वह बाह्य एवं अभ्यंतर के भेद से बारह[6] प्रकार का है।

संयम : मन एवं इन्द्रिय को वश में रखना, संयम है । इन्द्रिय, कषाय एवं तीन प्रकार के दंड के निग्रह द्वारा प्रेक्षापूर्वक आस्रव के द्वारों को बंध करना 'संयम' नाम का यतिधर्म है ।

सत्य : यथार्थ बोलना सत्य है । गुरु एवं आगम सूत्रों द्वारा जिनकी आज्ञा मिली हो, जो दूसरों को संताप करनेवाला न हो, जिसमें दोष न हो, जो वचन निशंक हो एवं शास्त्रों का जो विषय हो, ऐसे हितकारी, मित एवं पथ्य वचन बोलना, 'सत्य' नाम का यतिधर्म है ।

शौच : मन-वचन-काया की पवित्रता, शौच है। मन से हुए अशुभ विचारों, वचन से हुई स्खलनाएँ एवं काया से हुए अपराधों के कारण पापमल से मलिन बनी आत्मा को आलोचना एवं प्रायश्चित्त से शुद्धि करना, 'शौच' नामक यतिधर्म है ।

आकिंचन : किसी भी प्रकार का परिग्रह रखने की इच्छा का अभाव आकिंचन है । संयम के लिए उपकारी न हो, ऐसी एक भी वस्तु का ग्रहण नहीं करना, 'आकिंचन' नाम का यतिधर्म है ।

6. बारह प्रकार के तप की जानकारी के लिए देखें सूत्र संवेदना-३ में नाणंमि सूत्र गाथा ५-६-७।

ब्रह्मचर्य : अब्रह्म का त्याग ब्रह्मचर्य है । मैथुन संज्ञा पर विजय पाने के लिए विकार युक्त रूप का दर्शन, उसका स्पर्श, भोग कथा का श्रवण तथा संभोग क्रिया का त्याग करना एवं ब्रह्म में (आत्मा में) स्थिर रहने के लिए यत्न करना परिशुद्ध 'ब्रह्मचर्य' नामक यतिधर्म है ।

'हे क्षमाश्रमण' इन शब्दों का प्रयोग करते ही, 'इन यतिधर्मों का पालन करनेवाले, विशिष्ट गुणसंपन्न व्यक्ति को मैं इच्छापूर्वक वंदन करता हूँ,' ऐसा भाव उल्लसित होता है । इससे साधक गुणों के अभिमुख होता है। फलतः वंदन के समय में उसके खुद के कषाय भी शांत हो जाते हैं, इस तरह वंदन करने से क्षमाभाव को रोकनेवाले कर्मों का भी नाश होता है ।

इतना खास ध्यान में रखना चाहिए कि, जिन्हें 'इच्छामि खमासमणो' बोलते हुए मोक्षमार्ग के उपकारी क्षमादि गुणयुक्त उत्तम पुरुष हृदयस्थ होते हों, उनके प्रति हृदय में अत्यंत बहुमान भाव होता हो एवं ऐसे गुण अपने में प्रगट करने की इच्छा हो, उन्हें ही यह पद बोलते हुए क्षमाभाव को रोकनेवाले कर्मों का नाश वगैरह ऊपर कहे हुए लाभ होने की संभावना है, अन्य को नहीं ।

क्षमादि दस धर्म से युक्त उत्तम पुरुषों का स्वरूप जिसने सूक्ष्म बुद्धि से सोचा हो, क्षमादि गुण कितने विशिष्ट हैं, वह जिसके ख्याल में हो एवं उसके कारण जिसके हृदय में क्षमावान के प्रति भक्ति का भाव उल्लसित हुआ हो, वैसी आत्माओं को ही स्वेच्छा से वंदन करने की इच्छा होती है । इसके अलावा जो लोकाचार से या किसी आकांक्षा से अथवा 'वंदन करना चाहिए' यह ठीक है, ऐसी सामान्य बुद्धि से वंदन करता है, उसे इस वंदन क्रिया से विशेष लाभ नहीं हो सकता ।

जावणिज्जाए - शक्ति सहित, यापनीया द्वारा (वंदन करता हूँ)

वंदन की क्रिया किस तरह करनी है यह बतलाते हुए साधक प्रथम यह कहता है कि, 'मुझे यह क्रिया यापनीयापूर्वक याने कि अपनी मन-वचन-

काया की पूर्ण शक्ति का उपयोग करके[7] वंदन करना है । मन से गुरु भगवंत के जितने गुण हैं उनका चिन्तन करते हुए, वचन से शुद्ध शब्दोच्चारणपूर्वक एवं काया से सत्रह संडासा सहित और पाँच अंगों को यथार्थ रीति से झुकाकर मैं वंदन करना चाहता हूँ । वंदन के दौरान मेरी कोइ भी शक्ति कहीं और व्यापृत नहीं होगी । हे भगवंत ! तब मेरी पूर्ण शक्तियों का केन्द्र स्थान आप ही होंगे ।

अथवा

यापनीया की क्रिया याने ले जाने की क्रिया । शास्त्रोक्त विधिवचनों की प्रेरणा से बाह्य भावों में जाते हुए इन्द्रियों और मन को रोककर गुरुवंदन की क्रिया में लगाने की क्रिया ही यापनीया[8] क्रिया है । यापनीया द्वारा वंदन करना अर्थात् उपशमन क्रिया द्वारा वंदन करना ।

यह उपशमन करने की क्रिया दो प्रकार की है ।

१. इन्द्रिय यापनीय : पाँच इन्द्रियों के विकारों का उपशमन करना अर्थात् उनके वश नहीं होना, इन्द्रिय यापनीय है ।

२. नोइन्द्रिय यापनीय : चारों कषायों का उपशमन करना, नोइन्द्रिय यापनीय है ।

इन्द्रियों के विकारों या कषायों का उदय न हो ऐसे उपशांत मन एवं इन्द्रिय द्वारा वंदन करना ही यापनीयपूर्वक वंदन है ।

पू. हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज ने इन शब्दों का अर्थ करते हुए कहा है कि, इन्द्रिय एवं मन की विषयों से तथा विकारों से उपघात रहित अवस्था यापनीय है, शिष्य इस यापनीयपूर्वक वंदन करने की इच्छा जताता है ।

जिज्ञासा : वंदन की क्रिया क्यों यापनीय सहित करनी चाहिए ?

---

7. जावणिज्जाए = शक्तिसमन्विततया - योगशास्त्र ।

8. **यापनीय**या अर्थात् यापनीयापूर्वक, **यापनीय** में **यापन** शब्द **या** धातु का प्रेरक विध्यर्थकृदंत है । संस्कृत भाषा में 'या' धातु जाना इस अर्थ में प्रयोग किया जाता है । अतः यापन का अर्थ होता है, ले जाना । यापनीय क्रिया याने ले जाने की क्रिया ।

तृप्ति : जब तक मन एवं इन्द्रियाँ संसार के काषायिक भावों से युक्त होती हैं, तब तक साधक गुरु के किसी भी गुण के बारे में सोचने के लिए समर्थ नहीं बन सकता । परन्तु मन एवं इन्द्रियों की उत्सुकताएँ जब थोड़ी शांत होती हैं, तभी उपशमभाव युक्त साधक गुरु को पहचान पाता है। गुरु के गुणों का बोध होने से साधक को वे गुण अपने लिए भी हितकारक लगते हैं । ऐसे गुणों को प्राप्त करने के लिए वह आतुर बनता है । मेरे कषाय ही गुणों की प्राप्ति में बाधक हैं, ऐसा भी वह समझता है । इसीलिए वह सोचता है कि, 'गुणवान के प्रति आदरभाव ही मेरी गुणप्राप्ति का कारण बनेगा' । इस विचार से ही वंदन फल-साधक बनता है, इसीलिए गुरुवंदन या देववंदन मन एवं इन्द्रियों को उपशम भाव में लाकर याने कि यापनीय सहित ही करना चाहिए ।

निसीहिआए : नैषेधिकी क्रियापूर्वक (वंदन करता हूँ ।)

नैषेधिकी क्रिया सहित वंदन करना अर्थात् संसार के हिंसादि पापों में तथा वंदन क्रिया के अलावा प्रवर्तते मन-वचन-काया के योगों का निषेध कर, सावद्य प्रवृत्तियों का त्याग कर, मन-वचन-काया को मात्र वंदन क्रिया में ही प्रवृत्त करना...

निसीहियाए बोलकर जब वंदन की क्रिया का प्रारंभ करना होता है, तब मन-वचन-काया अन्यत्र प्रवृत्ति नहीं करते, जिसके कारण आस-पास की प्रवृत्ति, शोर, अन्य का आवागमन वंदन क्रिया में विघ्नभूत नहीं बनते ।

जिस शरीर में इन्द्रियाँ एवं कषायों के विकारों का स्थान न हो अर्थात् निषेध हो वैसे निर्विकारी एवं निष्पाप शरीर द्वारा वंदन करना चाहिए ।

जिज्ञासा : यहाँ यापनीय एवं नैषेधिकी दोनों को लेने की क्या आवश्यकता है ? दोनों में से एक ही लिया होता तो न चलता ?

तृप्ति : वंदन क्रिया में यापनीय एवं नैषेधिकी दोनों की आवश्यकता है, क्योंकि इन्द्रियों के विकार या कषायों के मात्र उपशम से सच्चा नमस्कार

नहीं होता, बल्कि उपशम के साथ पापकारी प्रवृत्तियों का त्याग भी होना जरूरी है । अगर पापकारी प्रवृत्तियों का त्याग न हो तो उपशांत हुए इन विकारों या कषायों के फिर से उदय में आने की संभावना रहती है। इसलिए दोनों क्रियाओं का महत्त्व है । वास्तविक नैषेधिकी क्रिया भी अगर यापनीय हो तो ही होती है । अतः इन दोनों पदों का परमार्थ जिस आत्मा को प्राप्त हुआ होता है, उसकी ही वंदन क्रिया सुयोग्य होती है, अन्य की नहीं ।

मत्थएण वंदामि : मस्तक द्वारा मैं वंदन करता हूँ ।

'मस्तक द्वारा वंदन करता हूँ' याने मस्तक सहित पाँच अंगों को झुकाकर मैं वंदन करता हूँ । मस्तक शरीर का उत्तम अंग है । उसको झुकाकर याने सर्व काया से नम्र बनकर आदर और अहोभाव सूचक मुद्रा से वंदन करता हूँ । यह पद बोलते समय मस्तक बराबर जमीन को स्पर्श करना चाहिए,

यह सूत्र बोलकर पंचांग प्रणिपातपूर्वक गुरु भगवंत को वंदन करते हुए सोचना चाहिए,

"मेरा कैसा सद्भाग्य है कि, क्षमादि गुण संपन्न संतपुरुषों के साथ मेरा समागम हुआ है। अगर भावपूर्वक ऐसे महात्माओं को वंदन करूंगा एवं उनके क्षमादि गुणों के प्रति आदर प्रकट करूंगा तो अवश्य ही भव-भवान्तर में भटकानेवाले इन क्रोधादि कषायों से मुक्त होकर मुझे अनंत सुख के कारणभूत क्षमादि गुणों की प्राप्ति होगी ।"

इच्छकार सूत्र

सूत्र परिचय :

सूत्र के प्रथम शब्द को लेकर यह सूत्र '**इच्छकार सूत्र**' के नाम से जाना जाता है एवं इस सूत्र द्वारा सुगुरु की सुखाकारी पूछी जाती है, इसलिए इस सूत्र का दूसरा नाम '**सुगुरु सुखशाता पृच्छा सूत्र**' भी है ।

सामान्य रीति से, प्रातःकाल में देववंदन करके गुरु के दर्शन करने चाहिए । उस समय या जब भी गुरुवंदन करना हो तब उचित विधि के अनुसार दो खमासमणपूर्वक पंचांग प्रणिपात कर, गुरु के समक्ष हाथ जोड़कर खड़े रहकर सुखशाता पूछने के लिए यह सूत्र बोला जाता है । इस सूत्र द्वारा गुरु के तप-संयम एवं शरीर संबंधी पृच्छा की जाती है, ऐसा पूछने से श्रमण भगवंत की सच्ची परिस्थिति जान सकते हैं एवं अगर उपाय की जरूरत हो तो संयम योग्य उचित उपाय कर सकते हैं । इसके उपरांत रात्रि-प्रतिक्रमण में प्रतिक्रमण करने के पहले यह सूत्र बोला जाता है ।

गुरु को वंदन करने के बारे में कुछ बातों का खास ध्यान रखना चाहिए; जैसे कि गुरु जब अन्य कार्य में व्यस्त न हों, आसन पर बैठे हों, उनका चित्त प्रसन्न हो, उपशांत हो एवं वे उत्तर देने तैयार हो[1], तब वंदन करनेवाले व्यक्ति को विधिपूर्वक खड़े रहकर, अपनी इच्छा का निवेदन

1. पसंते आसणत्थे अ, उवसंते उवट्ठिए । अणुन्नवित्तु मेहावी, किइकम्मं पउंजइ ।।१६।।

करना चाहिए एवं गुरु जब "छंदेण" अर्थात् तुम्हारी जैसी इच्छा हो वैसा करो, ऐसा कहे, उसके पश्चात् ही गुरु को वंदन करना चाहिए ।

संसार में जिस प्रकार जिसके प्रति बहुमान भाव होता है, उसके शरीर आदि की चिंता सहज रहती है, उसी तरह जिस साधक को मोक्ष के प्रति अत्यंत आदर होता है, उसको मोक्षमार्ग के अनन्य कारणभूत संयम एवं संयमियों में भी उतना ही आदर होता है । इसीलिए संयमी के शरीर आदि की चिंता उसे सहज रहती है। साधक समझता है कि अपनी संयम की साधना में उत्तम संयमी प्रबल निमित्तभूत होते हैं। उनके शरीर की सुखकारी, उनके तप-संयम की साधना ही खुद की संयम साधना का प्रबल कारण बनता है । अपने तन, मन, धन के भोग से भी उत्तम संयमियों की रक्षा करना, साधक का परम कर्तव्य है एवं उसमें ही साधक का हित है । इसीलिए श्रावक या साधु को अपने से अधिक गुणसंपन्न गुरु से अनेक रीति से सुखशाता पूछना जरूरी है ।

गुरुवंदन की विधि बहुत विस्तृत है। यहाँ उसे पूर्णतया नहीं बताई है। जिज्ञासु वर्ग उसे गुरुवंदन भाष्य से जान लें ।

मूल सूत्र :

इच्छकार ! सुहराई / सुहदेवसि ?
सुखतप ?
शरीरनिराबाध ?
सुख-संजम-जात्रा निर्वहो छो जी ?
स्वामी ! शाता छे जी ?
भात-पाणीनो लाभ देजो जी

पद- संपदा अक्षर-५२

अन्वय सहित शब्दार्थ :

इच्छकार ! सुहराई / सुहदेवसि ?

हे गुरुजी ! आपकी इच्छा हो तो पूछता हूँ कि

'आपकी रात्रि/दिवस सुख में बीता है ?'

सुखतप ?

आपका तप सुखपूर्वक चल रहा है ?

शरीर-निराबाध ?

आपका शरीर रोग रहित है ?

संजम-जात्रा-सुख-निर्वहो छो जी ?

संयम यात्रा में आप सुखपूर्वक क्रियाशील हैं ?

स्वामी ! शाता छे जी ?

हे स्वामी आपको सुखशाता है ?

भात-पाणीनो लाभ देजो जी

अन्न-पानी का लाभ दीजिएगा ?

(यह सूत्र मिश्र गुजराती भाषा में है, इसलिए इसकी संस्कृत छाया नहीं दी है ।)

विशेषार्थ :

इच्छकार ! : हे गुरुदेव ! आपकी इच्छा हो तो पूछूँ

यहाँ [2]'इच्छकार' शब्द संबोधन में प्रयोग हुआ है इसका अर्थ होता है, "हे गुरु भगवंत !" । शिष्य को गुरु भगवंत के प्रति अत्यन्त आदर एवं बहुमान होता है । अतः वह 'इच्छकार' शब्द द्वारा अत्यंत विनय से पूछता है, 'हे भगवंत ! आपके विषय में कुछ पूछना चाहता हूँ । आपकी इच्छा हो, अनुकूलता हो एवं आपके स्वाध्याय में किसी प्रकार से अवरोध न होता हो, तो मैं आपसे कुछ पूछूँ ?

2. "इच्छकारी" अर्थात् अपनी इच्छा से, यहां लोक रूढि से इच्छकारी के बदले इच्छकार बोला जाता है एवं भगवंत शब्द अध्याहार है ।

सुहराई/सुहदेवसी ? : आप की रात्रि या दिवस सुखपूर्वक व्यतीत हुए हैं ?

संयमी आत्मा का रात-दिन सुखपूर्वक बीता हुआ तभी कहलाता है कि, जब दिनभर में संयम जीवन के अनुकूल स्वाध्याय आदि की प्रवृत्तियाँ सुखपूर्वक हुई हो ।

दिन के समय भगवान की आज्ञानुसार वाचनादि स्वरूप सुंदर स्वाध्याय किया हो, जरूरत पडने पर निर्दोष आहार लाकर संयम साधक देह को रागादि के बिना पोषण दिया हो एवं उसके अतिक्ति पडिलेहण - प्रतिक्रमणादि संयमजीवन की क्रियाएँ भी यथायोग्य रीति से की हो, तो ही साधु का दिन सुखपूर्वक व्यतीत हुआ है, ऐसा कह सकते हैं।

रात्रि के स्वाध्याय-ध्यान-वैयावच्चादि कार्य करने के बाद, जब शरीर का श्रम साधना में बाधक बने तब, अगर साधक ने संथारा पोरिसी का भावपूर्वक पठन करके, शरीर के श्रम को दूर करने के लिए ही निद्रा ली हो, निद्रा के समय भी यतना का परिणाम ज्वलंत रखा हो और इसीलिए करवट बदलते हुए भी प्रमार्जनादि की हो एवं श्रम दूर होने पर तुरंत उठकर फिर से संयम योगों में अप्रमाद भाव से प्रवृत्त हुआ हो, तो रात्रि सुखपूर्वक बीती है ऐसा कहा जा सकता है ।

इस प्रकार गुरु भगवंत को दिवस एवं रात्रि संबंधी सामान्य पृच्छा कर, अब विशेष पृच्छा करने के लिए शिष्य पूछता है कि-

सुखतप : भगवंत ! आपका तप सुखपूर्वक चल रहा है ?

संयम जीवन के लिए बाह्य एवं अभ्यंतर दोनों प्रकार के तप अति महत्व पूर्ण हैं, इसलिए भक्त साधक गुरु भगवंत से पूछता है कि - हे भगवंत ! आपका तप सुखपूर्वक चल रहा है ? सुखपूर्वक अर्थात् **शरीर को सुख मिले ऐसा नहीं, परन्तु महाआनंद स्वरूप मोक्ष के अनुकूल आनंद का परिणाम पैदा करवाने वाला तप चल रहा है ?**

शरीर निराबाध ? : आपका शरीर बाह्य-अभ्यंतर पीड़ा से रहित है ?

संयम मार्ग की साधना करते हुए मुनि शरीर के प्रति निरपेक्ष होते हैं, इसलिए शरीर की कोई भी बाधा या पीड़ा प्रायः मुनि को परेशान नहीं करती। तो भी अपने गुरु भगवंत को किसी भी प्रकार की शरीर की बाधा हो, तो उसे मिटाने की इच्छा भक्त साधक को हमेशा रहती है । इसीलिए वह इस प्रकार पूछता है - भगवंत ! आपका शरीर निराबाध है ?'

बाधाएँ दो प्रकार की होती हैं - १. द्रव्य बाधा एवं २. भाव बाधा ।

द्रव्य बाधा : शरीर में किसी भी प्रकार की व्याधि से हुई पीड़ा द्रव्य पीड़ा है । गुरु भगवंत के शरीर में किसी भी प्रकार की पीड़ा हो तो, वह अपनी निर्जरा तो कर ही पाते हैं; परन्तु भक्त समझता है कि मेरे गुरु भगवंत के शरीर में कोई भी व्याधि होगी, तो वे उपदेश आदि ठीक तरह से नहीं दे सकेंगे। फलतः हम ठीक तरह से धर्म नहीं समझ सकेंगे । यदि हम धर्म नहीं समझे तो हम कर्म की निर्जरा ठीक तरह से नहीं कर पाएँगे । इसलिए धर्मप्राप्ति की इच्छा से तथा संयम के प्रति बहुमान से शिष्य गुरु भगवंत से शरीर संबंधी पृच्छा करता है, जिसे सुनकर गुरु भगवंत भी व्याधि आदि हो, तो उसे कहते हैं ।

उस वक्त वैद्यादि या औषधादि की आवश्यकता हो, तो वह गुरु को लाकर देता है एवं इस तरीके से गुरु को शरीर से निराबाध करने में शिष्य अपने आप को भी धर्म में सतत संलग्न रख सकता है । गुरु शरीर से निराबाध हों तो वे प्रेरणा का पीयूषपान करवा सकते हैं ।

२. भाव बाधा : राग-द्वेष-मोह आदि से चिन्तित या कलुषित रहना भावबाधा है । जब साधु भाव से अर्थात् राग-द्वेष-मोह आदि से पीड़ित हों एवं उसके कारण उनका चित्त धर्म में स्थिर न रहता हो, तब वे अपने माँ-बाप जैसे गंभीर श्रावक से अपनी मानसिक स्थिति की भी बात करते हैं । वह श्रावक भी साधु को योग्य सलाह देकर उनकी विषयों की आसक्ति एवं

कषायों का शमन करके उन्हें धर्म में स्थिर करता हैं, भाव से निराबाध गुरु ही स्वयं एवं अन्यों को तार सकते हैं, ऐसी भक्त की सोच है इसीलिए यहाँ 'निराबाध' शब्द द्वारा द्रव्य एवं भाव से 'गुरुदेव ! आपको कोई पीड़ा तो नहीं है ?' ऐसा पूछा जाता है ।

सुख-संजम-जात्रा निर्वहो छो जी : आपकी संयम यात्रा सुखपूर्वक बीत रही है न ?

गुरु की कठोर साधना देखकर भक्त के हृदय में भक्ति की महक फैलती है । इसीलिए वह आह्लादित हृदय से अलग-अलग तरीके से सुखशाता पूछकर अपनी भक्ति व्यक्त करता है ।

मुनि के लिए संयम यात्रा ही मुख्य है । भक्त को भी गुरु के चारित्र में किसी भी प्रकार की स्खलना न हो, उसकी चिंता रहती है । इसीलिए उसके मुख से ऐसे शब्द निकल जाते हैं । वैसे तो भक्त किसी गुरु के तप-संयम की वृद्धि नहीं करवा सकता, फिर भी तप-संयम के अनुकूल कोई बाह्य आवश्यकता हो, तो वह यथाशक्ति पूर्ण कर सकता है एवं सुविधा द्वारा वह तप-संयम के लिए आवश्यकता अनुसार सहायक बन सकता है । अपनी बाह्य सहायता के कारण गुरु के तप संयम में वृद्धि हुई है, यह बात उनको प्रमोदित करती है, एवं इस तरीके से पृच्छा करने से अपने में भी उन गुणों के लिए सत्त्व खिलता है, जिससे वे गुण प्राप्त होते हैं । इसीलिए ही वह इस रीति से पूछता है ।

स्वामी शाता छे जी ? : हे स्वामी आप शाता में हैं ?

हे स्वामी ! आपका चित्त स्वस्थ है ?

"सुहराई" से लेकर यहाँ तक के समस्त प्रश्न भक्त ही गुरु के प्रति भक्ति, साधुजीवन के प्रति अपार अनुराग एवं गुणसंपन्न साधु भगवंत की अनुपम भक्ति का लाभ लेने की इच्छा बताते हैं । इतने प्रश्न सुनकर गुरु भगवंत जवाब देते हैं-

'देव-गुरु-पसाय' अर्थात् देव-गुरु की परम कृपा से मुझे परम सुख शाता है।

यह उत्तर सुनकर शिष्य को अत्यंत आनन्द होता है कि, मेरे गुरु भगवंत के उपर देव-गुरु की महती कृपा रही है, जिससे उनके दिन-रात सुन्दर तरीके से बीत रहा है अगर रात्रि या दिन इस तरह न बीतते हों तो गुरुभगवंत मौन रहते हैं, जिससे मृषावाद न लगे एवं शिष्य भी अपनी शक्तिअनुसार संयम में आनेवाली प्रतिकूलता और विघ्नों को दूर करने का प्रयत्न कर सके ।

ऐसा जवाब सुनने के बाद भक्त को अनुभव होता है कि, यदि संयमी गुरु भगवंत की मैं आहार-पाणी द्वारा भक्ति करूँगा तो मेरे भी कर्मों की निर्जरा होगी एवं ऐसे संयमी गुरु को आहारादि देने से मेरा जन्म सफल होगा और चारित्र-मोहनीय कर्म का क्षय होकर मुझे चारित्र की प्राप्ति होगी क्योंकि, सुपात्र को दिया हुआ दान महाफलदायी होता है । इसलिए वह उनसे निवेदन करता है कि,

भात-पाणी नो लाभ देजो जी : आहार-पानी का लाभ दीजिएगा।

मेरे यहाँ आहार-पानी वहोरने (ग्रहण करने) के लिए पधारकर लाभ देने की कृपा कीजिए। भात-पानी के ग्रहण द्वारा उपलक्षण से प्रासुक (निर्जीव) और निर्दोष वस्त्र, पात्र, कंबल, औषध, रजोहरण आदि का ग्रहण भी करना है ।

यह सुनकर गुरु 'वर्तमान जोग' कहते हैं अर्थात् जब भात-पानी का अवसर आएगा, तब मेरी अनुकूलता के अनुरूप करूँगा । अर्थात् अभी तो भात-पाणी का समय नहीं है अर्थात् अभी भात-पानी लेने के लिए नहीं जाना है पर भात-पानी लेने का भावीकाल जब वर्तमान बनेगा, उस समय जैसा योग्य लगेगा, वैसा करूँगा ।

अगर भविष्य में होनेवाली बात में अभी से हाँ या नहीं कहें और कोई आपत्ति आए अथवा कोई संजोग बदल जाए और नहीं जाए, तो दिया हुआ वचन मिथ्या होता है और मृषावाद का दोष लगता है। ऐसा न हो इसलिए 'वर्तमान जोग' जैसे शब्दों का प्रयोग होता है।

गुरु भगवंत की बाह्य एवं अंतरंग सुखशान्ति की इच्छा करनेवाला साधक अति उत्साहित होकर गुरुदेव को विविध प्रश्न पूछते हुए सोचता है कि,

"अहो ! मेरे गुरु भगवंत आत्म कल्याण करनेवाले तप, संयम, स्वाध्याय आदि में कितना अच्छा समय व्यतीत करते हैं । इन सब अनुष्ठानों में लीन होकर वे आत्मानंद की अनुभूति करते हैं । जब कि, पुत्र-परिवार में उलझकर भौतिक सुख के लिए व्यर्थ परिश्रम करता हुआ मैं आत्मानंद के लिए कुछ भी नहीं कर पाता । धिक्कार है मुझे एवं धन्य हैं ये महात्मा ! इन महात्माओं की भक्ति करके मैं भी अपने चारित्र मोहनीय कर्म का क्षय कर शीघ्र ही आत्मानंद की अनुभूति करूँ ।"

अब्भुट्ठिओ सूत्र

सूत्र परिचय :

इस सूत्र द्वारा परम उपकारी गुरु संबंधी कोई अविनय, अपराध, आशातना हुई हो तो उसकी क्षमापना की जाती है । दूसरे किसी व्यक्ति संबंधी अपराध हुआ हो तो उसकी क्षमापना दूसरे सूत्रों से भी होती है, लेकिन इस सूत्र द्वारा तो मात्र गुरु के प्रति हुए अपराधों की ही क्षमा मांगी जाती है, इसीलिए इस सूत्र का दूसरा नाम **'गुरु क्षमापना'** सूत्र है ।

तीर्थंकर की अनुपस्थिति में गुरुतत्त्व, देवतत्त्व के जितना ही उपकारक होता है । इसीलिए जगत् का सर्वोत्कृष्ट जीवंत तत्त्व गुरुतत्त्व है । इस काल में गुरुतत्त्व के तुल्य जगत् का कोई भी व्यक्ति नहीं है । एक ओर उपकारी सद्गुरु की एक छोटी सी कृपा भी अमृत के कुंभ समान होती है एवं दूसरी ओर शिष्य की अयोग्यता के कारण या शिष्य के विशेष अपराध के कारण सद्गुरु के मुख से निकले उद्गार या निकलती आहें वधस्तंभ जैसी होती हैं । इसीलिए गुरुतत्त्व से युक्त सुगुरु की स्वप्न में भी आशातना न हो, ऐसी सावधानी रखनी चाहिए ।

दशवैकालिक ग्रन्थ के 'विनय' अध्ययन में तो यहाँ तक कहा गया है कि[1] जो शिष्य अपने गुरु को छोटा मानता है, मंद बुद्धिवाला मानता है और ऐसा

1. दशवैकालिक विनय अध्ययन - १ उद्देशो गा.नं. २, ३, ४

मानकर विनय नहीं करता, वह जैसे 'बाँस का फल बाँस का ही नाश करता है,' उसी प्रकार अपने हाथों ही अपना अहित करता है । सोते हुए सिंह को जगाने से, सांप के मुख में हाथ डालने से या पर्वत के ऊपर से छलांग लगाने से उतना नुकसान नहीं होता, जितना नुकसान गुरु की आशातना करने से होता है । इसलिए रत्नत्रयी की आराधना करने की इच्छावाले साधक को गुरु को हमेशा प्रसन्न रखने का प्रयत्न करना चाहिए । गुरु के प्रति किया हुआ सूक्ष्म भी अपराध बहुत बड़ी आपत्ति में डाल सकता है । इसलिए जाने अनजाने बिना समझे या कषायादि के अधीन होकर गुरु के प्रति किसी भी प्रकार की आशातना हुई हो, तो उन तमाम अपराधों की गुरु से क्षमा मांगनी चाहिए एवं अपनी आत्मा को निर्मल बनाना चाहिए ।

किए हुए अपराधों को विशेष प्रकार से खमाने के लिए उन्हें निम्नलिखित तीन विभागों में बांटकर, उन सब अपराधों के लिए क्षमा याचना करनी चाहिए ।

१. **जंकिंचि से** उवरिभासाए तक के पदों द्वारा आहार-पानी-विनय-वैयावच्च-आलाप-संलाप या बैठना आदि अलग-अलग कार्यों से गुरु को अप्रीति या विशेष अप्रीति हुई हो, तो उसकी क्षमा माँगी जाती है ।

२. **जंकिंचि मज्झ विणय** आदि पदों से अपनी जानकारी में हों ऐसे विनयरहित हुए अपराधों की क्षमा माँगी जाती है ।

३. **तुब्भे जाणह** आदि पदों द्वारा अपनी जानकारी के बाहर के एवं गुरु की जानकारी में आए हों, ऐसे विनयरहित अपराधों की क्षमा मांगी जाती है।

गुरु से अपराधों की क्षमा माँगने पर गुरु प्रसन्न होते हैं एवं प्रसन्न हुए गुरु शिष्य पर कृपा की वर्षा करते हैं । गुरु कृपापात्र शिष्य चारित्र जीवन का भारी बोझ उठाने में समर्थ बनता है एवं शुद्ध चारित्र का पालन कर सकता है । इस तरह क्षमापना द्वारा गुरु का उच्च विनय-विवेक इस सूत्र द्वारा दर्शाया गया है ।

मूल सूत्र :

इच्छाकारेण संदिसह भगवन् !

अब्भुट्ठिओमि अब्भिंतर देवसिअं / राइअं खामेउं ?

इच्छं, खामेमि देवसिअं / राइअं ।

जं किंचि अपत्तियं, परप्पत्तिअं,

भत्ते, पाणे, विणए, वेयावच्चे, आलावे, संलावे, उच्चासणे,

समासणे, अंतरभासाए, उवरिभासाए, ।

जं किंचि मज्झ विणय-परिहीणं, सुहुमं वा बायरं वा,

तुब्भे जाणह, अहं न जाणामि, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।।

पद- संपदा अक्षर-१२६

अन्वय सहित संस्कृत छाया एवं शब्दार्थ :

भगवन् ! इच्छाकारेण संदिसह

भगवन् ! इच्छाकारेण संदिशत

हे भगवन् ! आप मुझे इच्छापूर्वक आज्ञा दीजिए ।

अब्भिंतर देवसिअं / राइअं खामेउं अब्भुट्ठिओमि ?

(अहं) अभ्यन्तर दैवसिकं / रात्रिकं क्षमयितुम् अभ्युत्थितो अस्मि !

मैं दिवस/रात्रि के दौरान (हुए अपराधों की) क्षमा याचना के लिए उपस्थित हुआ हूँ ।

इच्छं, देवसिअं / राइअं खामेमि

इच्छामि, दैवसिकम् / रात्रिकं क्षमयामि ।

(हे गुरूदेव ! मैं वैसी ही आपकी आज्ञा को) चाहता हूँ (एवं अब) दिवस-रात्रि संबंधी अपराधों को खमाता हूँ ।

भत्ते, पाणे, विणए, वेयावच्चे, आलावे, संलावे, उच्चासणे, समासणे, अंतरभासाए, उवरिभासाए,

भक्ते, पाने, विनये, वैयावृत्ये, आलापे, संलापे, उच्चासने, समासने, अन्तर्भाषायाम्, उपरिभाषायाम् ।

आहार-पानी संबंधी, विनय-वैयावच्च संबंधी, सामान्य बोलने में या विशेष बातचीत में, ऊँचे आसन या समान आसान पर बैठने संबंधी, बीच में बोलने या अधिक बोलने संबंधी (मेरा जो अपराध हुआ हो, उस संबंधी पाप मिथ्या हो)

जं किंचि अपत्तियं, परपत्तिअं,

यत् किञ्चित् अप्रीतिकम्, पराप्रीतिकम्,

जो कुछ मैंने आप के प्रति अप्रीतिकर या विशेष अप्रीतिकर किया हो ।

जं किंचि मज्झ विणय-परिहीणं, सुहुमं वा बायरं वा, तुब्भे जाणह, अहं न जाणामि, तस्स मि दुक्कडं मिच्छा ।

यत् किञ्चित् मम विनय-परिहीनं सूक्ष्मं वा बादरं वा यूयं जानीथ, अहं न जाने, तस्य मे दुष्कृतम् मिथ्या ।

मुझसे विनयशून्य (असभ्यतापूर्वक) छोटा या बडा जो कुछ अनुचित आचरण हुआ हो, जिसे आप जानते हैं और मैं नहीं जानता, उन सब अपराधों की मैं क्षमा मांगता हूँ, मेरा वह पाप मिथ्या हो ।

विशेषार्थ :

इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! : हे भगवंत ! आप मुझे इच्छापूर्वक आज्ञा दीजिए ।

'हे भगवंत ! मुझे आज्ञा दीजिए, यह शब्द बोलते हुए शिष्य के हृदय में ऐसा भाव होता है कि भगवंत ! आपकी इच्छा हो, तो मुझे आज्ञा दीजिए । परन्तु मैं मांगता हूँ, इसलिए आपको आज्ञा देनी ही है, ऐसा मेरा आग्रह नहीं है । हृदय में रहा हुआ यह भाव विनय-नम्रता का सूचक है ।

'इच्छाकारेण' शब्द द्वारा इच्छाकार समाचारी[2] का पालन होता है । जैन शासन की ऐसी रीति रही है कि, शिष्य अगर कोई भी कार्य करना चाहे, तो उसे पहले अपनी इच्छा गुरु को निवेदित करनी चाहिए जैसे कि, 'आपकी इच्छा हो, तो मैं यह कार्य करूँ ।' उसके बाद गुरु की आज्ञा मिले, तो शिष्य कार्य करता है ।

अब्भुट्ठिओमि : मैं उपस्थित हुआ हूँ ।

'अब्भुट्ठिओमि' शब्द अभि+उत् पूर्वक स्था धातु से बने संस्कृत शब्द 'अभ्युत्थितः' का प्राकृतरूप है । इस शब्द से ज्ञात होता है कि शिष्य अपराधों की क्षमा मांगने की मात्र इच्छा ही नहीं दर्शाता । परन्तु "मैं आपके समक्ष अप्रमत्त भाव से, बहुमानपूर्वक खड़ा हुआ हूं" - ऐसा कहकर शिष्य क्षमा माँगने की तत्परता दिखाता है । इसीलिए 'तिष्ठ' शब्द का प्रयोग नहीं करते हुए यहाँ 'उत्तिष्ठ' शब्द का प्रयोग किया गया है ।

अपनी इच्छा के निवेदन द्वारा अनुज्ञा माँगकर अब वह किसलिए उपस्थित हुआ है, यह बताने के लिए शिष्य कहता है,

अब्भिंतर देवसिअं / राइअं खामेउं : दिन या रात्रि में हुए अपराधों की क्षमा माँगने के लिए मैं उपस्थित हुआ हूँ ।

आज्ञा का विषय क्या है, वह दर्शाते हुए शिष्य कहता है कि "दिन या रात्रि के बीच मुझसे आपके प्रति कोई भी अपराध हुआ हो, तो उसे खमाने के लिए मैं तत्पर हुआ हूँ ।" 'खमाना' यह प्राकृत शब्द है, जिसका अर्थ 'क्षमा माँगना' ऐसा होता है । ये दो शब्द बोलते ही शिष्य पूरे दिन में कौन

2. सामाचारी अर्थात् कषाय का स्पर्श किए बिना चारित्र की पुष्टि के लिए की गई जीव की प्रवृत्ति । शास्त्रों में साधु संबंधी ओघ, पदविभाग एवं दशविध समाचारी बताई गई है । उसमें १. इच्छाकार सामाचारी, २. मिच्छाकार सामाचारी, ३. तथाकार सामाचारी, ४. आवश्यकी सामाचारी, ५. नैषेधिकी सामाचारी, ६. आपृच्छना सामाचारी, ७. प्रतिपृच्छा सामाचारी, ८. छंदना सामाचारी, ९. निमंत्रणा सामाचारी, १०. उपसंपदा सामाचारी । इन दस को दस-विध चक्रवाल सामाचारी कहते हैं ।

कौन से अपराध हुए हैं, उनको याद करता है एवं उन उन अपराधों की क्षमापना द्वारा अपनी आत्मा को निर्मल बनाने का प्रयत्न करता है ।

इस वाक्य का उच्चारण करते हुए गुरु भगवंत के प्रति अतीव आदर धारण कर नतमस्तक शिष्य को गुरुदेव से बिनती करनी चाहिए,

"हे भगवंत ! आपके प्रति हुआ मेरा हरेक अपराध मेरे आत्म कल्याण में बडा अवरोधक है । ऐसा जानते हुए भी कषायों की पराधीनता के कारण आज भी मुझसे आप पूज्यों की अनेक तरह से आशातना हो गई है । जब तक मैं उन अपराधों की क्षमा नहीं माँगता एवं जब तक आप मुझे माफ नहीं करेंगे, तब तक मैं अंतरंग शल्यों (काँटों) की चुभन से मुक्त होकर साधना नहीं कर पाऊँगा । अतः हे भगवंत ! अगर आप की इच्छा हो और आपकी अनुकूलता हो तो मुझे आज हुए अपराधों की माफी माँगने की अनुज्ञा दीजिए ।"

इस तरह अनुज्ञा माँगनेवाले से गुरु कहते हैं कि,

[**खामेह** : आप खमाओ]

'दिन या रात्रि में हुए अपराधों को खमाने की अपनी इच्छा पूर्ण कर सकते हो ।' गुरु से यह सम्मति सूचक शब्द सुनकर शिष्य के हृदय में अपराधों से दूर होने का जो परिणाम होता है, वह ज्यादा उल्लसित होता है, इसीलिए हर्षपूर्ण होकर शिष्य कहता है,

इच्छं : में इच्छुक हूँ । आपकी आज्ञा मुझे प्रमाण है।

'इच्छं' कहकर शिष्य ऐसा बताता है कि गुरु की आज्ञा को वह स्वीकार करता है अर्थात् "खामेह" शब्द द्वारा गुरु ने जो खमाने के लिए आज्ञा दी थी, उस आज्ञा के अनुसार वह करना चाहता है । अब खमाने की प्रक्रिया को प्रारम्भ करते हुए फिर से कहता है ।

खामेमि देवसिअं / राइअं : दिवस या रात्रि संबंधी हुए मेरे अपराधों को मैं खमाता हूँ ।

"मैं खमाता हूँ" ऐसा कहकर दिवस या रात में आपके प्रति मुझसे जो जो भूल हुई है, उसकी मैं क्षमा माँगता हूँ, ऐसा गुरु से कहा गया है ।

'खामेमि' शब्द "खमाने=क्षमा माँगने" अर्थ में प्रयुक्त "क्षम्" धातु का प्रेरक रूप है । "खमना" अर्थात् सहन करना, वैर वृत्ति का त्याग करना, खामोश रहना, शान्ति रखना, उदारता रखनी; जब कि "खमाना" प्रेरक रूप है अतः उसका अर्थ होता है, सामनेवाले से क्षमा की अपेक्षा रखना या सामनेवाले व्यक्ति से क्षमा माँगना तथा सामनेवाला व्यक्ति भी वैरभाव की वृत्ति का त्याग करे, ऐसी भावना रखना ।

"खमाना" प्रेरक रूप होने से यहाँ 'खामेमि' शब्द द्वारा शिष्य गुरु से क्षमा माँगकर, गुरु अपने अपराधों को क्षमा करें, ऐसा शिष्य चाहता है ।

गुरु से उदारता एवं क्षमा की माँग इसलिए की जाती है कि अपने अप्रीतिकारक व्यवहार से गुरु भगवंत को किसी भी प्रकार का दुःख हुआ हो या क्रोध करने का निमित्त मिला हो, तो उसकी उपशांति हो और हमें विनय तथा औचित्य का ख्याल रहे, जिसके फलस्वरूप हमारी आत्मा की शुद्धि हो । इस तरह उपयोगपूर्वक बोलनेवाला साधक भविष्य में गुरु विषयक अपराध तो नहीं ही करता, परन्तु समर्पित होकर गुरु की आज्ञानुसार जीवन बनाने का प्रयत्न भी करता है ।

इच्छं खामेमि : इतने शब्द बोलते हुए शिष्य गुरु से भावपूर्वक निवेदन करता है कि,

> *"हे गुरु भगवंत ! कृपा करके आप मुझे माफ करें । आप तो दया के निधान हैं, उदारदिल हैं खामोश रहना, सहन करना तो आपका स्वभाव है इसलिए आप कभी आकुल-व्याकुल नहीं होते । पर मुझे मालूम है कि आप को तकलीफ*

हो वैसे बहुत से कार्य मैंने किए हैं । हे दयासागर ! मेरी भूलों को भूलकर आप सदा मुझ पर वात्सल्य रखिएगा ।"

अब सबसे पहले आहार-पानी इत्यादि अलग-अलग कार्यों द्वारा गुरु से जो अप्रीतिकर व्यवहार किया हो, उसकी माफी माँगी जाती है ।

जं किंचि अपत्तियं, परपत्तिअं : जो कोई अप्रीतिकर या विशेष अप्रीतिकर व्यवहार हुआ हो ।

यहाँ अप्रीति या विशेष अप्रीति दो तरीकों से लेनी है; एक तो शिष्य के अयोग्य कार्य से गुरु को जो अप्रीति हुई हो वह एवं दूसरी अपनी अयोग्यता के कारण गुरु के किसी प्रकार के व्यवहार से गुरु के विषय में शिष्य को जो अप्रीति हुई हो । ये दोनों प्रकार की अप्रीतियाँ जब विशेष बनती हैं, तब उसे पर-अप्रीतिकर कहते हैं ।

इसके अतिरिक्त, पर-अप्रीतिकर का दूसरा अर्थ परहेतुक अप्रीति भी होता है । जैसे कि, पर के निमित्त से गुरु को शिष्य के ऊपर अप्रीति हुई हो अथवा पर के निमित्त से शिष्य को गुरु के प्रति अप्रीति हुई हो ।

शिष्य समझता है कि गुरु को थोड़ी भी अप्रीति हो, ऐसा बर्ताव - व्यवहार हमें कभी नहीं करना चाहिए । गुरु की चाहे कितनी भी कठोर आज्ञा हो, तो भी उसका पालन करते समय किंचित् भी द्वेष नहीं करना चाहिए। फिरभी कषाय की अधीनता से, आहार-पानी आदि विषयों में अपने से गुरु को जो लेश मात्र भी अप्रीति हुई हो, तो उन्हें इन शब्दों द्वारा "मिच्छा मि दुक्कडं" दिया जाता है ।

यह वाक्य बोलते हुए गुरुभगवंत के प्रति अप्रीतिकर या विशेष अप्रीतिकर जो कुछ हुआ हो, तो उसको याद करके सोचना चाहिए कि,

"गुरु भगवंत ने जो उपकार किया है, उसके बदले में मैं और क्या कर सकता हूँ - अरे ! सिर्फ गुरु भगवंत को प्रसन्न रख सकूँ तो भी बहुत है। उन पूज्य ने मुझ पर कितने उपकार किए हैं, फिर

भी मैंने अपने स्वार्थ के लिए उनको अप्रसन्न किया है । मुझसे बहुत बडा अपराध हो गया है । दुःखार्द्र हृदय से मैं उस अपराध की माफी माँगता हूँ एवं ऐसी भूल दोबारा न हो ऐसा संकल्प करता हूँ ।"

अब किन विषयों में अप्रीतिकर या विशेष अप्रीतिकर वर्तन हुआ हो, तो उनका 'मिच्छा मि दुक्कडं' दिया जाता है उन विषयों को बतलाते हुए कहते हैं कि,

भत्ते, पाणे, : भात एवं पानी के विषय में ।

गुरु ने निर्दोष आहार आदि लाने को कहा हो, पर उस बात पर ध्यान न देकर निर्दोष लाते हुए भी गुरु के स्वास्थ्य के लिए जो अनुकूल हो वैसा नहीं लाया बल्कि उनके स्वास्थ्य के लिए प्रतिकूल हो, वैसा आहार या पानी लाया हो, इस प्रकार अपनी तरफ से गुरु को कोई अप्रीति हुई हो, तो उस विषय में क्षमा माँगते हैं । इसके अतिरिक्त, गुरु भगवंत ने शिष्य के लिए भी निर्दोष एवं अमुक प्रकार का आहार लाने को कहा हो, तब भी उपेक्षा से या विषयों की अधीनता से गुरु की इच्छा के विरुद्ध आहार लाने से उनको अपने प्रति घृणा या अरुचि हुई हो, तो उसकी क्षमा माँगते हैं । इसके अतिरिक्त गुरु भगवंत ने आहार या पानी संबंधी कोई आदेश दिया हो, जो स्वयं को अच्छा न लगा हो अथवा उनके आदेश के विरुद्ध स्वयं से कुछ भी हुआ हो, तो वे सब गुरु संबंधी भात एवं पानी के विषय में हुए अपराध हैं । इन अपराधों की क्षमा मांगी जाती है ।

साधु की तरह श्रावक से भी गुरु के प्रति आहार आदि संबंधी अप्रीतिकर कार्य होने की संभावना होती है । जैसे कि, गुरु भगवंत को गोचरी आदि के लिए आमंत्रण देने न जाना, निमंत्रण देने के पश्चात् गुरु भगवंत को लेने न जाना, घर पधारे हुए गुरु भगवंत को भावपूर्वक न वहोराना, उनके संयम को या उनके शरीर को प्रतिकूल हो वैसा वहोराना, आत्म कल्याण की भावना न रखते हुए पूर्वकृत राग से, मान से या द्वेषादि

से वहोराना, साधु को बिचारा-दुःखी मानकर देना, ये सब कार्य गुरु के लिए अप्रीति उत्पन्न करनेवाले है। गुरु भगवंत तो क्षमा और सहनशीलता की मूरत होते हैं, उनको तो ऐसे निमित्तों से कुछ हो या न भी हो, पर श्रावक के लिए तो ऐसे सब कार्य गुरु की आशातना रूप ही हैं । अतः यह पद बोलते हुए श्रावक को ऐसे अपराधों की माफी माँगनी ज़रूरी है ।

विणए, वेयावच्चे, : विनय एवं वैयावच्च के विषय में ।

गुरु के गुणों के प्रति अंतरंग बहुमान होने के कारण साधक गुरु भगवंत के आने पर सामने जाए, अंजली जोड़कर प्रणाम करें, आसन प्रदान करें, गुरु खड़े हो तो स्वयं खड़े हो, गुरु के बैठने के बाद बैठे आदि अनेक प्रकार का विनय रखें, परन्तु कषाय की अधीनता से या प्रमादादि दोषों से इस प्रकार का विनय न किया हो एवं किया हो तो भी जैसे तैसे किया हो अथवा बाह्य से पूर्ण विनय करते हुए अंतरंग से उनके प्रति बहुमानभाव की वृद्धि हो, उस तरह न किया हो, तो वे सब क्रियाएँ विनय विहीन कहलाती हैं । विनय के विषय में हुए ऐसे अपराधों की इस पद द्वारा माफी माँगी जाती है।

गुरु के लिए आहार-पानी लाकर देना, शरीर संबंधी शुश्रूषा करना, पैर या सिर की पीड़ा के निवारण के लिए दबाना, चम्पी करना या मर्दन आदि करना वैयावच्च के विविध प्रकार हैं । ऐसी वैयावच्च प्रमादादि से न की हो, या की हो तो उनको अनुकूल हो ऐसे न की हो, अथवा वैयावच्च करते हुए कोई आशंसा रखी हो, कोई प्रतिकूलता उत्पन्न की हो, गुरु भगवंत को कोई शारीरिक तकलीफ है या नहीं उसकी जाँच न की हो, उसकी जानकारी होने के बावजूद योग्य वैद्य आदि की व्यवस्था न की हो, रात में गुरु भगवंत की विश्रामणा करने का अपना कर्तव्य न निभाया हो । गुरु भगवंत ने वैयावच्च संबंधी कोई कार्य कहा हो तो उसको उत्साह से नहीं पर मजबूरी से पूर्ण किया हो इत्यादि सब वैयावच्च संबंधी आशातनाएँ हैं, इन शब्दों को बोलते हुए उन आशातनाओं को ध्यान में रखकर क्षमा माँगी जाती है ।

विनय एवं वैयावच्च तीर्थंकर नामकर्म का बंध करवाने में निमित्तभूत हैं, बीसस्थानक में भी उनका अनुक्रम से दसवां और सोलहवां स्थान है । इसीलिए वास्तव में साधक को अपनी बुद्धि का पूर्ण उपयोग कर इसमें प्रवृत्त होकर विनय एवं वैयावच्च द्वारा गुरु को संतोष देकर उनकी प्रसन्नता में अभिवृद्धि करनी चाहिए । याद रखना चाहिए कि गुरु की प्रसन्नता-प्रमोद अपनी आराधना की नींव है । इसीलिए सुशिष्य विनय वैयावच्च संबंधी अपनी त्रुटियों का विचार कर अपनी कमजोरियों को दूर करने का प्रयत्न करते हुए यदि ये शब्द बोलता है, तो विनयादि में विघ्न करनेवाले कर्मों का नाश जरूर होता हैं एवं विनयादि में वह विशेष यत्न कर सकता है ।

आलावे, संलावे, : गुरु के साथ बोलने और बातचीत करने के विषय में।

गुरु भगवंतों का एक-एक क्षण बहुमूल्य होता है। इसलिए अनावश्यक बातचीत करके उनका मूल्यवान समय नहीं बिगाडना चाहिए । जब भी कोई कार्य, प्रसंग उपस्थित हो और गुरु भगवंत से बातचीत करनी पडे, तब विनयपूर्वक हाथ जोड़कर, अति नम्रता से योग्य स्वर में बात करनी चाहिए । गुरु भगवंत अन्य कार्य में व्यस्त हों, तो जब तक गुरु भगवंत अपने सम्मुख न देखें, तब तक इंतजार कर विनयपूर्वक खड़ा रहना चाहिए। जब गुरु भगवंत सामने देखें, तब अति नम्रता से, और उत्तम भावों से उनके साथ बातचीत करनी चाहिए । इसमें किसी भी प्रकार की कमी रही हो या गुरु भगवंत बुलाए, तब तुरंत ही आसन से उठकर, हाथ जोड़कर जिस प्रकार उत्तर देना चाहिए, उस प्रकार उत्तर न दिया हो, यथायोग्य रीति से बातचीत न की हो, जिसके कारण गुरु भगवंत को जो अपनी तरफ से अप्रीति हुई हो अथवा उनके साथ बातचीत करने से या गुरु के बोलने से खुद को कोई अप्रीति हुई हो, तो इस पद द्वारा उनसे क्षमायाचना करनी चाहिए ।

सामान्य से तो विनीत शिष्य आलाप-संलाप में सावधान रहकर उचित तरीके से ही बोलता है । तो भी कभी व्यग्रता से, अनुपयोग से या सहसा भूल होना संभव है, इन शब्दों द्वारा उनका 'मिच्छा मि दुक्कडं' देने से शिष्य बोलने-चलने में विशेष यत्नवाला बनता है एवं उसका विनय उत्तरोत्तर बढ़ता है।

उच्चासणे, समासणे, : ऊँचे या समान आसन में बैठने से ।

विनयसंपन्न शिष्य हमेशा बाह्य रीति से भी गुरु का बहुमान रखने का प्रयत्न करता है । इसलिए वह गुरु से नीचे और अल्प मूल्यवाले आसन पर ही बैठता है, फिर भी कभी-कभी प्रमाद से, अनजाने में गुरु से ऊँचे या समान आसन ऊपर बैठने रूप जो अपराध हुआ हो, तो इस पद द्वारा शिष्य उसकी क्षमा माँगता है ।

अंतरभासाए, उवरिभासाए, : बीच में बोलने या अधिक बोलने में ।

गुरु किसी के साथ बात करते हों, तो बीच में बोलना **अंतरभाषा** है एवं गुरु जो कहें उस बात को बढ़ाकर सामनेवाले व्यक्ति को कहना **उवरिभाषा** है, ये दोनों करने से गुरु का जो अविनय हुआ हो, उसकी इस पद से क्षमायाचना करनी है ।

गुणवान शिष्य जब गुरु भगवंत किसी के साथ बातचीत करते हों, तो कभी भी बीच में नहीं बोलता एवं गुरु की प्रतिभा को लेश मात्र भी आँच नहीं लगने देता । फिर भी कभी अनजाने में, अनाभोग से, सहसाकार या मानादि कषाय के अधीन होकर, गुरु भगवंत जब बात कर रहे हों, तब बीच में बोला गया हो जिसके कारण गुरु को अप्रीति हुई हो अथवा गुरुदेव व्याख्यान या वाचनादि में कोई विषय समझा रहे हों एवं खुद को उस विषय का ज्ञान अधिक हो तो शिष्य अपने ज्ञान के मान के कारण, 'यह विषय इस प्रकार नहीं, परन्तु इस प्रकार है, अथवा इस विषय में इतना ही नहीं है अभी और विस्तार है', ऐसा कहकर

उसका वर्णन करने बैठ जाए, जिसके कारण गुरु शिष्य से मंद बुद्धिवाले हैं, ऐसी लोक में छबि बनती है। ये सब गुरु के विषय में अविनय है । इन सबकी माफी माँगनी चाहिए ।

सुयोग्य शिष्य गुरु की प्रतिभा को अल्प करने की कभी भी इच्छा नहीं करता, तो भी कभी-कभी अन्य को समझाने की तीव्र उत्सुकता, उचित विचार का अभाव एवं मानादि कषाय की प्रबलता से ऐसा हो कि जिसके कारण गुरु की अल्पता लगे तो, वह अविनय है ।

वाचना, व्याख्यान या बातचीत में गुरु की कोई भूल हुई हो अथवा गुरु का क्षयोपशम उस विषय में अपने से कम हो तो गुणसंपन्न शिष्य गुरु की स्खलना के समय मौन रहता है । जब योग्य समय आए, तब विनयपूर्वक गुरु को सत्य वस्तु जिस तरह से है, उसे उस तरह से समझाए एवं इस तरह प्रयत्न करें कि गुरु भी निश्चितरूप से उचित प्रवृत्ति में यत्नवाले बने । इसके बदले जोर से बोलने से या बाद में भी अयोग्य तरीके से समझाने में अविनय होता है ।

इन पदों का उच्चारण करते हुए सोचना चाहिए कि,

"गुरुवर ! आप मेरे आराध्य हैं । आपकी प्रसन्नता में ही मेरी आत्मा की उन्नति है । यह जानते हुए भी हे भगवंत ! प्रमादवश आहार-पानी विषयक जो उपयोग रखना चाहिए, वह मैं नहीं रख पाया हूँ । आप जैसे पूज्य के साथ मुझे हमेशा नम्रतापूर्ण व्यवहार करना चाहिए था, पर मान के कारण कई बार इस विषय में मैं चूक गया हूँ । शरीर के राग से या स्वाध्यायादि के लोभ से वैयावच्च के समय मैं सावधान नहीं रह पाया । अहंकार और उद्धताइ-उदंडता के कारण आपके साथ बातचीत करते हुए मुझे जिस तरह उत्तर देना चाहिए था, उस तरह मैं नहीं दे पाया । कभी कभी आप से ऊँचे आसन का भी

उपयोग हो गया है । हे कृपालु ! इस तरह मैं कई बार आप की अप्रसन्नता का निमित्त बना हूँ । यह मुझसे गलत हुआ है। ऐसा करके मैंने अपने अहित को आमंत्रण दिया है । आपके प्रति हुए मेरे इन सब अपराधों को याद करके दुःखार्द्र हृदय से मैं आप से माफी माँगता हूँ ।"

इस प्रकार 'भत्ते पाणे' आदि अप्रीति या विशेष अप्रीति के स्थान बताकर शिष्य उन संबंधी अपराधों की क्षमापना करता है ।

अब दूसरे प्रकार का अपराध बताते हैं ।

जं किंचि मज्झ विणय-परिहीणं : मुझसे जो कोई विनय रहित कार्य हुआ हो ।

विविध प्रसंगों में कोई भी अपराध हुआ हो, उनको बताने के लिए **'विणय-परिहिणं'** शब्द का प्रयोग किया गया है । इससे 'विनयरहित व्यवहार द्वारा मुझसे जो कोई भी अपराध हुआ हो, ऐसा अर्थ करना है ।

सुहुमं वा बायरं वा : सूक्ष्म या बादर ।

गुरु के प्रति सूक्ष्म अथवा बादर कोई भी अपराध हुआ हो, तो उसके लिए मैं क्षमा माँगता हूँ । सूक्ष्म अर्थात् छोटा अपराध; यह अपराध अल्प प्रायश्चित्त से शुद्ध हो सकता है एवं बादर अर्थात् बड़ा अपराध; यह अपराध बड़े प्रायश्चित्त से शुद्ध हो सकता है ।

पाप छोटा हो या बड़ा वह बाह्य व्यवहार से निश्चित्त नहीं होता । कई बार बाहर से बहुत छोटा दिखाई देनेवाला पाप भी गीतार्थ भगवंतों की दृष्टि में बहुत बड़ा होता है । जैसे कि सिद्धसेन दिवाकरसूरीश्वरजी महाराज की शास्त्रों का संस्कृत में परिवर्तन करने की भावना यह पाप बाह्य दृष्टि से बड़ा न होते हुए भी गीतार्थ गुरु भगवंत की दृष्टि में बड़ा पाप था इसलिए उन्हें बड़ा प्रायश्चित्त दिया एवं अईमुत्ता मुनि द्वारा की हुई पानी की विराधना

रूप हिंसा का पाप स्पष्ट होते हुए भी उनको प्रायश्चित्त के रूप में भगवान ने मात्र इरियावहिया करने को कहा।

गीतार्थ गुरु भगवंत मात्र बाह्य दृष्टि से पाप सूक्ष्म है या बादर उसका विश्लेषण नहीं करते, उनकी दृष्टि अति गंभीर और सूक्ष्म होती है; उस दृष्टि से अपराधों का विभाग कर हमें उनकी क्षमा माँगनी है ।

दूसरे प्रकार के अपराध की माफी माँगते हुए साधक के दिल में ऐसा भाव होना चाहिए कि,

'हे परमोपकारी गुरुदेव ! आपका विनय मेरे कल्याण का मूल है । फिर भी छोटे-बड़े मुद्दो में कई बार मैं विनय चूक गया हूँ । यह मुझसे बहुत बुरा हुआ है । उसके लिए मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ ।'

अब तीसरे प्रकार के अपराध बताते हैं ।

तुब्भे जाणह, अहं न जाणामि, : आप जानते हैं, मैं नहीं जानता ।

कई अपराध ऐसे होते हैं, जिनका शिष्य को ज्ञान नहीं होता । परन्तु गुरु भगवंत उस अपराध को जानते हैं। इस विषय में चतुर्भंगी इस प्रकार हो सकती है ।

१. आप जानते हैं, मैं नहीं जानता - गुरु भगवंत शास्त्रज्ञाता होते हैं । इसलिए बहुत सी बातों में हमें जो अपराध नहीं लगता, वह उनकी दृष्टि में अपराध होता है ।

२. आप जानते हैं, मैं भी जानता हूँ - बहुत से अपराध ऐसे होते हैं जिनकी शिष्य को जानकारी होते हुए भी, कषाय की प्रबलता, विषयों की आसक्ति, अधीराई, प्रमाद, उतावलापन आदि दोषों के कारण जो अपराध हुए हों और जिन्हें गुरु भगवंत भी जानते ही हों ।

३. मैं जानता हूँ, आप नहीं जानते - बहुत बार संकल्प-विकल्पवाले मन के कारण गुरु के विषय में न करने योग्य विचार किए हों, जो गुरु भगवंत

न जानते हों, परोक्ष में उनके संबंधी कुछ भी निंदनीय बोला गया हो, जो शिष्य के ज्ञान में हो, परन्तु गुरु न जानते हों, काया से भी उनके आसन आदि को पैर लगने रूप क्रिया हुई हो, जो गुरु न जानते हों ।

४. मैं भी नहीं जानता, आप भी नहीं जानते - ऐसा भी अपराध हो सकता है, जिसकी शिष्य को खबर ही न हो एवं गुरु भी छद्मस्थ होने से न जान सके हों, उन सब अपराधों को स्मृति में लाकर, यह पद बोलकर क्षमापना माँगनी है ।

दूसरे तरीके से ऐसा अर्थ भी हो सकता है कि शिष्य अल्प बुद्धिवाला-अगीतार्थ होता है । इसलिए उसे अपनी अनाभोगादि से हुई भूलों का ख्याल नहीं होता । परन्तु गुरु भगवंत ज्ञानी-गीतार्थ होते हैं । इसलिए शिष्य से हुई भूलें उनके ख्याल में रहती हैं । उन भूलों को उनके द्वारा जानकर प्रायश्चित्त लेने के लिए शिष्य ये शब्द बोलता है ।

खुद को जिन अपराधों की जानकारी न हो, वैसे अपराधों की माफी मांगते हुए शिष्य सोचता है कि,

"भगवंत मैं जड हूँ - अल्पमति हूँ, इसलिए अपराध किया हो तो भी मुझे ख्याल में नहीं आता कि मैंने कुछ गलत किया है। पर आप ज्ञानी हैं, आप मेरे अपराध को जानते भी हैं । मेरे अपराध से आप को तो कोई फर्क नहीं पडता पर अगर मैं अपनी इन भूलों को सुधारूँगा नहीं तो ये भूलें अनर्थ की एक शृंखला बन जाएगी । इसलिए ओ गुरुदेव ! आप से बिनती करता हूँ, आप मेरे मुख की ओर मत देखिएगा, मेरे हृदय के भावों को देखकर, मेरी आत्मा की शुद्धि के लिए मेरे दोषों को आप जरूर बताइएगा । उन दोषों से मैं मुक्त हो पाउँ, ऐसी हितशिक्षा देते रहिएगा और उदारदिल आप मुझे माफ कीजिएगा एवं पूर्ववत् मेरा अनुशासन करते रहिएगा । आपके अनुशासन से ही मेरा कल्याण होगा ।"

तस्स मिच्छा मि दुक्कडं : उनका 'मिच्छा मि दुक्कडं' अर्थात् मेरे वे सब पाप मिथ्या हों ।

यहाँ बताए हुए सब प्रकार के अपराध से जो कोई भी दुष्कृत-पाप हुआ हो, वह मिथ्या हो, फल शून्य बने । इस प्रकार पूरे वाक्य का अर्थ है ।

मिच्छा मि दुक्कडं का विशेषार्थ :

बहुत बार **'मिच्छा मि दुक्कडं'** यह शब्द सोचे बिना ऐसे ही बोला जाता है, परन्तु आवश्यक निर्युक्ति के आधार पर उसके प्रत्येक शब्द का वास्तविक अर्थ समझकर यदि उसमें बताए गए भावों के साथ यह शब्द बोला जाए, तो आत्मा में अवश्य ऐसे संस्कार पड़ते हैं कि जिस भूल का **मिच्छा मि दुक्कडं** दिया हो, वह भूल पुनः उसी प्रकार से, उसी तीव्रता से तो न ही हो।

'मि'[3] = मृदुता : मृदु - मार्दव के अर्थ में है अर्थात् काया से नम्र और भाव से लघु बनकर

माफी माँगने के लिए पहली जरूरत है - हृदय की कोमलता । कठोर हृदयवाला व्यक्ति ही दूसरों को दुःख, पीड़ा, तकलीफ दे सकता है या दूसरों के प्राण लेनेवाली क्रिया कर सकता है, इसलिए किसी भी भूल को सुधारनी हो, उस भूल के लिए खेद व्यक्त करना हो तो पहले हृदय को नम्र व मृदु बनाना चाहिए । अक्कड व्यक्ति के दिल में माफी माँगने का भाव प्रगट ही नहीं हो सकता ।

'च्छा' = छादन : जो दोष लगे हों, उन दोषों को ढँककर याने कि उन दोषों का पुनः सेवन न हो, ऐसा संकल्प करना ।

दूसरी जरूरत है, 'यह पाप पुनः नहीं करूँगा', ऐसे संकल्प की। जब

---

3. मि त्ति मिउमद्दवत्ते, छ त्ति य दोसाण छायणे होइ ।
मि ति य मेराइट्ठिओ दु त्ति दुगंच्छामि अप्पाणं ।। ६८६।।
क त्ति कडं मे पावं, डत्ति य डेवेमि तं उवसमेणं ।
एसो मिच्छादुक्कडपयक्खरत्थो समासेणं ।।६८७।। - आवश्यकनिर्युक्ति-हारिभद्रीयवृत्तौ

तक की हुई भूल के प्रति लापरवाही का भाव है, तब तक उस भूल के लिए कितनी भी बार माफी माँगी जाए, तो भी वह भूल बार-बार होती रहेगी । इसलिए माफी मांगते समय हृदय में मुझसे यह भूल पुनः होनी ही नहीं चाहिए, ऐसा दृढ़ निर्णय करना चाहिए ।

'मि' = मर्यादा में अर्थात् पुनः चारित्र के आचारों में स्थिर बनकर।

जिस मर्यादा को तोड़कर भूल हुई हो, उस मर्यादा में पुनः आए बिना पाप का प्रायश्चित्त संभव नहीं है । जैसे कि बड़ों के साथ असभ्य व्यवहार द्वारा अविनय हुआ हो या अनुचित वचन प्रयोग हुआ हो तो सर्वप्रथम उनके विनय की मर्यादा में आ जाना चाहिए और उसके बाद ही माफी मांगनी चाहिए अथवा तो कदाचित् ईर्यासमिति के पालन का भंग हुआ हो, तो काया को पुनः ईर्यासमिति से युक्त बनाने के पश्चात ही माफी माँगी जा सकती है । प्रस्तुत में गुरु के प्रति कोई भी अनुचित बर्ताव हुआ हो याने के हम अपनी मर्यादा को चूक गए हों तो पुनः मर्यादा में आकर माफी माँगे । इस प्रकार से माफी के वे शब्द वास्तविक भाव पैदा कर सकते हैं ।

'दु' = दुर्गच्छा : मैं अपनी पापी आत्मा की दुर्गच्छा निंदा करता हूँ ।

चारों अक्षरों का संमिलित अर्थ - काया से और भाव से नम्र बनकर, चारित्र की मर्यादा में रहा हुआ मैं पुनः दोषों का सेवन न हो, ऐसे संकल्पपूर्वक अपनी आत्मा की निंदा करता हूँ ।

यह सब तभी संभव है, जब अपनी भूल के प्रति घृणा होती है, मैंने बहुत ही अनुचित किया है, ऐसा एहसास होता है, उस भूल के कारण हमें अपनी आत्मा हीन प्रतीत् होती है, अपने आप को हम निंदनीय मानते हैं, हमारे हृदय में अपने लिए धिक्कार या तिरस्कार की भावना उत्पन्न होती है ।

'क' = किया हुआ - अपने किए हुए पापों का मैं स्वीकार करता हूँ ।

इन सब भावों के अलावा एक महत्त्वपूर्ण भाव यह है कि, 'मैंने यह पाप किया है, ऐसा एकरार होना चाहिए । बहुत बार निमित्त को दोषी मानकर

हम अपनी भूल का स्वीकार नहीं करते । यदि भूलों से मुक्त होना हो, तो पहले निर्णय करना चाहिए कि मैंने भूल की है, इसमें दूसरों का दोष नहीं है, यह मेरा ही दोष है । कोई भले मेरे साथ कैसा भी बर्ताव करे, मुझे जैसे के साथ तैसा नहीं बनना चाहिए । मुझे तो मेरे मन-वचन-काया को संयमित ही रखना चाहिए । ऐसे भावपूर्वक भूल का स्वीकार हो, तो भूल के प्रति जुगुप्सा उत्पन्न होगी, परंतु यदि स्वीकार के बजाय, बचाव होगा, बहाने होंगें तो भूल का पुनरावर्तन होता ही रहेगा ।'

'डं' = डयन - मैं डयन करता हूँ अर्थात् उपशम द्वारा उल्लंघन करता हूँ।

जिस कषाय के अधीन होकर भूल का सेवन हुआ हो, उस कषाय को शांत करके 'मिच्छामि दुक्कडं' माँगना है । उपशमभाव को प्रकट कर उस भूल का उल्लंघन करना है । भूल के मूल को ही उखाडने से, बार-बार भूल होने की सम्भावना का नाश हो जाएगा ।

ऐसे बोधपूर्वक 'मिच्छामि दुक्कडं' बोलते हुए साधक अपने अपराधों को याद करके, अतिनम्र बनकर सोचता है कि,

"गुणवान गुरु भगवंत की आशातना करके मैंने बहुत ही गलत किया है, उससे मैंने अपने अनंत भावी जन्मों को बिगाडा है, अपने भव की परंपरा बढाई है । किसी भी प्रकार से इस अपराध से हटकर, अब मुझे मर्यादा में आ जाना चाहिए । पुनः पुनः यह अपराध न हो जाए, इसके लिए सावधान रहना चाहिए, अंदर पडे हुए मानादि के संस्कारों का नाश करने का यत्न करना चाहिए । मानादि के संस्कार नाश होंगे, तो ही मैं गुरु भगवंत की आशातना से बचकर योग्य विनय कर पाऊँगा । विनय धर्म का मूल है, इसलिए भावपूर्वक मिच्छामि दुक्कडं देने से विनय का अध्यवसाय ज्वलंत बनेगा । तभी मेरी धर्मक्रियाएँ सफल बनेंगी ।"

जब शिष्य 'मिच्छा मि दुक्कडं' बोलता है, तब गुरुदेव भी उससे क्षमापना मांगते हुए कहते हैं कि,

अहमवि खामेमि तुम्हं, (जं किंचि अपत्तियं परपत्तिअं अविणया सारिया वारिया चोइया पडिचोइया तस्स मिच्छा मि दुक्कडं)

हे वत्स ! मैं भी तुझे खमाता हूँ । तुम्हें अविनय से रोकते हुए, तुम्हारे दोषों का स्मरण करवाते हुए, तुम्हें अतिचारों से रोकते हुए, प्रमाद नहीं करने की प्रेरणा देते हुए एवं करने योग्य कार्यों की बार-बार प्रेरणा करते हुए मैंने जो कोई अप्रीति तथा विशेष अप्रीति उपजाई हो, तो उन संबंधी मेरा सर्व दुष्कृत मिथ्या हो, मेरे द्वारा तुम्हें कोई कठोर आदि भाषा में अप्रीतिकर शब्द कहे गए हों, तो मेरा भी 'मिच्छा मि दुक्कडं' ! कैसा अद्‌भुत है यह जिनशासन ! जहाँ गुरु भी शिष्य से क्षमा माँगते हैं ।

पंचांग प्रणिपातरूप प्रथम सूत्र द्वारा गुरु के प्रति विशेष प्रकार से विनय बताया, इच्छकार सूत्र द्वारा संयमी आत्मा के शरीर आदि की सुखाकारी की पृच्छा की गई तथा विशेष बहुमानभाव व्यक्त किया गया एवं इस अब्भुट्ठिओ सूत्र द्वारा गुरु के प्रति हुए अपराधों की क्षमापना की गई है । इस प्रकार तीन प्रकार के गुरुवंदन में थोभवंदन में उपयोगी तीन सूत्रों का अर्थ समाप्त हुआ । द्वादशावर्त वंदन में उपयोगी बननेवाले 'वांदणा सूत्र' के अर्थ सूत्र संवेदना-३ में है ।

इरियावहिया सूत्र

सर्व धर्मों का मूल समता है एवं उस समता की प्राप्ति का उपाय सामायिक है । इसलिए गुरुवंदन के लिए जरूरी सूत्रों को समझने के बाद अब हम सामायिक की क्रिया में उपयोगी सूत्रों का विचार करेंगे ।

सूत्र परिचय :

'इरियावहिया' शब्द से प्रारंभ होनेवाले इस सूत्र को **इरियावहिया सूत्र** कहते हैं। इसका दूसरा नाम **'इरियापथ प्रतिक्रमण सूत्र'** भी है । ईर्या अर्थात् चर्या। चर्या अर्थात् गमनागमन की क्रिया अथवा जीवनचर्या । गमनागमन करते हुए अथवा जीवन का कोई भी व्यवहार करते हुए जीवहिंसादि पाप हुए हों, तो उन पापों का प्रतिक्रमण इस सूत्र द्वारा किया जाता है ।

रास्ते पर चलते हुए अथवा साधु या श्रावक संबंधी कोई भी क्रिया करते हुए यदि किसी जीव की विराधना हो जाय, तो उसे खमाने के लिए याने उसकी क्षमा मांगने के लिए एवं सामायिक, प्रतिक्रमण, चैत्यवंदनादि क्रिया के प्रारंभ में इस सूत्र का उपयोग होता है ।

हिंसा करने से जीव के साथ वैर उत्पन्न होता है, चित्त में उस जीव के प्रति अमैत्रीरूप विषम भाव रहता है । जब तक हिंसा द्वारा बने हुए इस विषम भाव की सच्चे हृदय से क्षमापना नहीं होती, तब तक जीव के साथ स्नेह का परिणाम हो ही नहीं सकता एवं जीव के प्रति मैत्रीभाव रूप स्नेह-परिणाम के बिना धर्म का प्रारंभ या धर्म का विकास हो ही नहीं सकता ।

एक भी जीव के साथ जब तक चित्त में संक्लेश का परिणाम हो, तब तक धर्म-क्रिया में चित्त की प्रसन्नता नहीं आती, चित्त की प्रसन्नता के बिना किया गया धर्म वास्तव में धर्म ही नहीं होता ।

"शास्त्र में कहा गया है कि, जिस व्यक्ति का चित्त मैत्री आदि भावों से सुवासित नहीं है, उस व्यक्ति में दूसरों को सुखी करने की भावना नहीं होती और जिसमें दूसरों को सुखी करने की भावना न हो, वह स्वयं कभी सुखी नहीं हो सकता ।"

इसलिए, आत्मिक सुख को पाने की इच्छावालों को सर्वप्रथम जीव हिंसादि से होनेवाले अमैत्रीभाव से बचना चाहिए । **जीव मात्र का सन्मान करना चाहिए, किसी का अपमान हो या किसी को पीडा हो, वैसा व्यवहार मन-वचन-काया से नहीं ही करना चाहिए** एवं कभी किसी समय कषाय के कारण, जल्दबाजी से या अनाभोग से (अविचारित प्रवृत्ति से) किसी को लेश मात्र भी दुःख हुआ हो, तो उसकी इस सूत्र द्वारा हार्दिक क्षमापना करनी चाहिए ।

इसी कारण से धर्म क्रिया की शुरूआत करने से पहले, जीव के प्रति मैत्री भाव बनाये रखना एवं दुष्कृत्यों से कलुषित बनी आत्मा को प्रतिक्रमण द्वारा निर्मल बनाने के लिए इरियावहिया करने की खास विधि बताई गई है। जैसे जीवहिंसादि ईर्यापथ की विराधना है, वैसे कोई भी साध्वाचार का उल्लंघन ईर्यापथ की ही विराधना है । इसलिए साधक को संपूर्ण साध्वाचार या श्रावकाचार को स्मृति में लाकर साध्वाचार या श्रावकाचार संबंधी विराधनाओं का भी इस सूत्र द्वारा प्रतिक्रमण करने के बाद ही धर्मक्रिया का प्रारंभ करना चाहिए ।

कई बार दोष दिखाई न देता हो, तो भी भविष्य में आत्मा में पड़े हुए कुसंस्कार जागृत न हो जाए और उन कुसंस्कारों से दोषों का सेवन न हो जाए, इसलिए भी सामायिक, चैत्यवंदन आदि क्रिया का आरंभ करने से पहले यह

सूत्र बोलना जरूरी है। इस तरह पाप से बचने के लिए, सावधानी रखने के लिए इरियावहिया की क्रिया की जाती है ।

इसके अलावा एक क्रिया में से दूसरी क्रिया में जाते हुए एवं स्वाध्याय या ध्यानादि शुरु करने के पूर्व इरियावहिया करने हेतु भी इस सूत्र का उपयोग होता है ।

जिज्ञासा : एक क्रिया से दूसरी क्रिया में जाने से जीव की विराधना कहाँ होती है ? अथवा स्वाध्याय, ध्यान वगैरह करने के पूर्व जीव की विराधना न भी हुई हो, तो भी यह सूत्र क्यों बोला जाता है ?

तृप्ति : हमने शुरुआत में ही देखा कि जैसे ईर्यापथ का अर्थ आने जाने का मार्ग होता है, वैसे ईर्यापथ का दूसरा अर्थ मोक्षगमन का मार्ग भी होता है । रास्ते में आने जाने पर हुई जीवों की विराधना की क्षमापना के लिए जैसे यह सूत्र बोला जाता है, वैसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान एवं चारित्ररूप जो मोक्षमार्ग है, उसमें रहे हुए साधक को जो भी अशुभ भाव आए हों, तो उनका भी प्रायश्चित्त इस सूत्र द्वारा किया जाता है ।

इसके अलावा, एक क्रिया से दूसरी क्रिया में जाने पर जो इरियावहिया करते हैं, वह आगे की जानेवाली क्रिया में कोई विराधना न हो जाए, ऐसा दृढ़ प्रयत्न बनाये रखने के लिए भी करते हैं । पूर्व क्रिया में हुई विराधना को याद करके उसका प्रतिक्रमण करके, प्रारंभ की जानेवाली क्रिया में ऐसी कोई विराधना न हो, ऐसा सतत उपयोग रह सके, इसलिए भी इरियावहिया की क्रिया करनी होती है ।

मन से अशुभ योग का प्रवर्तन मुख्यतया स्वप्राण को पीडा देता है एवं वचन-काया की अनुचित प्रवृत्ति मुख्यरूप से पर के प्राणों को पीडा देने वाली होती है । इन दोनों अनुचित प्रवृत्तियों से अशुद्ध बनी आत्मा को इरियावहिया द्वारा शद्ध किया जाता है ।

इरियावहिया किए बिना अगर स्वाध्याय या ध्यान आदि किया जाए, तो वह क्रिया विशेष फलदायक नहीं बनती, क्योंकि जब तक मन अशुभ योग या विचारों में प्रवृत्त रहेगा, तब तक क्रिया यथार्थ नहीं होगी । जब इरियावहिया कर दूसरी क्रिया शुरु करते हैं, तब पूर्व के अशुभ विचारों का नाश हो जाता है, जिससे साधक स्वाध्याय, ध्यान आदि में विशिष्ट कर्म-निर्जरा कर सकता है ।

संक्षेप में छोटे से छोटे जीव की विराधना या छोटे से छोटा अशुभ विचार भी साधक को वास्तविक धर्म से दूर कर देता है । इसलिए कोई भी धर्म क्रिया करने से पहले इन सब की क्षमायाचना अवश्य करनी चाहिए एवं जिन पापों का प्रतिक्रमण किया हो, वह पाप पुनः न हों इसकी अत्यंत सावधानी रखनी चाहिए । यही इस सूत्र का सार है ।

इस सूत्र का एक एक पद अगर ध्यान से उपयोगपूर्वक बोला जाय, तो किए हुए पापों के प्रति घृणा की वृद्धि होती है । पाप के प्रति जुगुप्सा बढ़ने से संवेग भाव की वृद्धि होती है एवं संवेग भाव बढ़ते-बढ़ते अईमुत्ता मुनि की तरह केवलज्ञान का कारण बन सकता है ।

आवश्यक सूत्र की निर्युक्ति तथा उसकी हारिभद्रीय वृत्ति के चौथे प्रतिक्रमण अध्ययन में यह सूत्र और उसके अर्थ प्राप्त होते हैं । हमने उसके तथा योगशास्त्र, धर्मसंग्रह, वृन्दारूवृत्ति के आधार पर यहाँ अर्थ किए हैं ।

मूल सूत्र :

इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! ईरियावहियं पडिक्कमामि ? इच्छं ।
इच्छामि पडिक्कमिउं
ईरियावहियाए विराहणाए
गमणागमणे ।
पाण-क्कमणे, बीय-क्कमणे, हरिय-क्कमणे,
ओसा-उत्तिंग-पणग-दगमट्टी-मक्कडा-संताणा-संकमणे ।

जे मे जीवा विराहिया ।

एगिंदिया, बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया ।

अभिहया, वत्तिया, लेसिया, संघाइया, संघट्टिया, परियाविया, किलामिया, उद्दविया, ठाणाओ ठाणं, संकामिया, जीवियाओ ववरोविया,

तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।।

पद-२६ संपदा-७ अक्षर-१५०

१. **अभ्युपगम-संपदा ।**
इच्छामि १, पडिक्कमिउं २. ।।१।।

२. **निमित्त-संपदा ।**
ईरियावहियाए ३, विराहणाए ४. ।।२।।

३. **ओघ-संपदा ।**
गमणागमणे ५. ।।३।।

४. **इतरहेतु-संपदा ।**
पाण-क्कमणे, ६, बीय-क्कमणे, ७, हरिय-क्कमणे, ८, ओसा-उत्तिंग-पणग-दगमट्टी-मक्कडा-संताणा-संकमणे ९. ।।४।।

५. **संग्रह-संपदा ।**
जे मे जीवा विराहिया १०. ।।५।।

६. **जीव संपदा ।**
एगिंदिया ११, बेइंदिया १२, तेइंदिया १३, चउरिंदिया १४, पंचिंदिया १५. ।।६।।

७. **विराधना-संपदा ।**
अभिहया १६, वत्तिया १७, लेसिया १८, संघाइया १९, संघट्टिया २०, परियाविया २१, किलामिया २२, उद्दविया २३, ठाणाओ ठाणं २४, संकामिया २५, जीवियाओ ववरोविया-तस्स मिच्छा मि दुक्कडं २६. ।।७।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया एवं शब्दार्थ :

भगवन् ! इच्छाकारेण संदिसह ईरियावहियं पडिक्कमामि ?

भगवन् ! इच्छाकारेण संदिशत ऐर्यापथिकीं प्रतिक्रमामि ?

हे भगवन् ! स्वेच्छा से आज्ञा दीजिए कि मैं ईर्यापथिकी प्रतिक्रमण करूँ?

(गुरु कहे 'पडिक्कमेह' तु प्रतिक्रमण कर)

इच्छं.

इच्छामि

चाहता हूँ (मैं आप की आज्ञा स्वीकारता हूँ)

पडिक्कमिउं इच्छामि

प्रतिक्रमितुम् इच्छामि ।

प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ ।

ईरियावहियाए विराहणाए

ऐर्यापथिक्याः विराधनायाः

मैं ऐयापथिकी विराधना से

गमणागमणे ।

गमनागमने ।

गमनागमन करने से

पाण-क्कमणे, बीय-क्कमणे, हरिय-क्कमणे,

ओसा-उत्तिंग-पणग-दगमट्टी-मक्कडा-संताणा-संकमणे ।

प्राण-आक्रमणे, बीज-आक्रमणे, हरित-आक्रमणे,

अवश्याय-उत्तिंग-पनक-दकमृत्तिका-मर्कट-संतान-संक्रमणे ।

प्राणियों को दबाने से, बीजों को दबाने से, हरी वनस्पति को दबाने से, ओस की बूंदों को, चींटियों के बिलों को, पाँच वर्ण की कांइ, कीचड़, मकड़ी के जाले आदि को, खुंदकर व कुचलकर ।

मे जे एगिंदिया, बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया जीवा विराहिया

मया ये एकेन्द्रियाः, द्वीन्द्रियाः, त्रीन्द्रियाः, चतुरिन्द्रियाः, पञ्चेन्द्रियाः जीवाः विराधिताः ।

मुझसे जो एकेन्द्रिय जीव, बेइन्द्रिय जीव, तेईन्द्रिय जीव, चउरिन्द्रिय जीव एवं पंचेन्द्रिय जीव की विराधना हुई हो,

अभिहया, वत्तिया, लेसिया, संघाइया, संघट्टिया, परियाविया, किलामिया, उद्दविया, ठाणाओ ठाणं संकामिया, जीवियाओ ववरोविया

अभिहताः[१], वर्तिताः[२], श्लेषिताः[३], संघातिताः[४], संघट्टिताः[५], परितापिताः[६], क्लामिताः[७], अवद्राविताः[८], स्थानात् स्थानं संक्रामिताः[९], जीवितात् व्यपरोपिताः[१०],

उन्हें लात से मारें हों, धूल से ढँके हों, जमीन पर मसले हों, इकट्ठे किए हों, स्पर्श किया हो, कष्ट पहुँचाया हो, दुःख पहुँचाया हो, भयभीत किया हो, एक स्थान से दूसरे स्थान पर रखे हों, जीवन से अलग किया हो (उनको मार डाला हो)।

तस्स मि दुक्कडं मिच्छा ।

तस्य मे दुष्कृतम् मिथ्या ।

उन संबंधी मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।

विशेषार्थ :

इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! इरियावहियं पडिक्कमामि? : हे भगवंत ! आप मुझे इच्छापूर्वक आज्ञा दें । मैं ईर्यापथिकी प्रतिक्रमण करुँ ?

ईरियावहिया की क्रिया का प्रारंभ करते हुए सर्वप्रथम शिष्य गुरु भगवंत के पास अतिनम्र भाव से आज्ञा माँगता है कि, आप विवशता से नहीं, परन्तु इच्छापूर्वक मुझे आज्ञा दीजिए कि, मैं ईर्यापथ की विराधना का प्रतिक्रमण करूँ? गुणसंपन्न गुरु उत्तम क्रिया के लिए हमेशा योग्य अवसर जानकर शिष्य को उचित आज्ञा देते ही हैं, तो भी उत्तम शिष्य अपने विनयगुण की वृद्धि के लिए कोई भी कार्य प्रारंभ करने से पहले सदैव गुरु से आज्ञा माँगता है ।

नम्र भाव से प्रतिक्रमण की आज्ञा माँगते हुए विनीत शिष्य के पूछे प्रश्न के उत्तर में गुरु कहते हैं कि, **'पडिक्कमेह'** - तुम प्रतिक्रमण करो ।

इच्छं : मैं चाहता हूँ । आपकी आज्ञा मुझे प्रमाण है।

'इच्छं' कहकर शिष्य ऐसा बताता है कि आपकी आज्ञा शिरोधार्य है । अर्थात् गुरु की आज्ञा को वह स्वीकार करता है । इस प्रकार गुरु के 'पडिक्कमेह' शब्द द्वारा जो प्रतिक्रमण करने के लिए सम्मति मिली थी, उस

स्वरूप गुरु की आज्ञा के मुताबिक शिष्य करना चाहता है; ये बात 'इच्छं' शब्द से जानी जाती है, यदि आज्ञा का इस तरह से स्वीकार न करें एवं मौनपूर्वक कार्य का प्रारंभ करे तो अविनय होता है एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में अविनय से की हुई क्रिया कभी भी फलवती नहीं बनती ।

१. अभ्युपगम संपदा :

गुरु की आज्ञा मिलने के बाद प्रतिक्रमण करने की शुरुआत करता हुआ शिष्य कहता है कि,

इच्छामि पडिक्कमिउं : मैं प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ ।

गुरु द्वारा आज्ञा प्राप्त होते ही शिष्य परम उत्साहित होकर उपयोगपूर्वक ईर्यापथ का प्रतिक्रमण करने के लिए तत्पर बनकर कहता है कि, 'हे भगवंत सामायिक व्रत लेने के पहले मुझसे जो भी विराधना हुई हो, उससे मैं वापस लौटने का प्रयत्न करना चाहता हूँ ।' इस प्रकार साधक स्वयं के द्वारा हुई जीव विराधना के प्रति अपने मन में नापसंदगी, जुगुप्सा, घृणा आदि भाव पैदा करता हैं । एक पाप के प्रति पैदा हुए इन जुगुप्सा आदि भावों से साधक में सर्व पापों से हटने का परिणाम पैदा होता है ।

प्रति = वापस एवं **क्रमण =** लौटना । इस प्रकार प्रतिक्रमण शब्द का अर्थ 'वापस लौटना' होता है । अपनी की हुई स्खलना से वापस लौटना 'प्रतिक्रमण[1]' है । जीव का मूल स्वभाव अपने ज्ञानादि गुणों में रहने का है अथवा ज्ञानादि गुणों के पोषक ध्यान-मौनादि आचारों का सेवन है । इस मूल स्वभाव को छोड़कर यदि आत्मा विषयों या कषायों रूप परभाव में चली गई हो, तो वहाँ से आत्मा को अपने मूल स्वभाव में लाने की क्रिया को प्रतिक्रमण कहते हैं । इन शब्दों द्वारा शिष्य ऐसा प्रतिक्रमण करने की अपनी इच्छा प्रगट करता है ।

---

1. स्वस्थानात् यत् परस्थानं, प्रमादस्य वशाद् गतः ।
तत्रैव क्रमणं भूयः, प्रतिक्रमणमुच्यते ।।

- हरिभद्रसूरिकृत आवश्यक टीका

यहाँ उल्लेखनीय है कि व्यवहारनय से 'प्रतिक्रमण' शब्द का अर्थ 'पाप से पीछे हटना' होता है, पर निश्चयनय से तो "पाप ही नहीं करना" प्रतिक्रमण है । इसीलिए उपाध्यायजी महाराज ने कहा है कि,

'मूल पदे पडिक्कमणु भाख्युं पाप तणु अण करवुं रे'

- सीमंधर स्वामी ३५० गाथा का स्तवन ढा. १

पाप करके गुरु के समक्ष उसकी शुद्धि करना एवं बाद में सावधानी रखना कि पुनः वैसा पाप न हो, यह तो आपवादिक प्रतिक्रमण है । **उत्सर्ग मार्ग से तो पाप ही न करना, वह प्रतिक्रमण है** । जैसे पैर कीचड़ में पडे तो उसे धोना पड़ता है; परन्तु धोने से बेहतर है कि पैर कीचड़ में पडे ही नहीं ऐसी सावधानी रखनी । उसी प्रकार पाप से आत्मा मलिन होने के बाद प्रतिक्रमण से उसे शुद्ध करने की क्रिया करने से तो पाप ही न हो, वैसा चित्त बनाना ही अच्छा है । इसीलिए उत्सर्ग से, पाप के प्रति जुगुप्सा बनाये रखने एवं पाप ही न हो ऐसी सजगता बनाये रखने के लिए प्रतिक्रमण की क्रिया की जाती है ।

एक शुभ क्रिया से दूसरी क्रिया के प्रारंभ में जो इरियावहिया करते हैं, वह औत्सर्गिक प्रतिक्रमण में रहने के प्रयत्न रूप है । पूर्व क्रिया में लगे हुए दोष के निवर्तन के लिए जो ईर्या प्रतिक्रमण करते हैं, वह अपवाद प्रतिक्रमण है । प्रतिक्रमण करने के बाद पुनः वैसी ही स्खलना न हो, इसके लिए बहुत सतर्क रहना चाहिए । 'मुझसे पुनः यह पाप न हो जाए' ऐसा भाव यदि न हो, तो वह प्रतिक्रमण अपवाद से भी प्रतिक्रमण नहीं रहता ।

इस पद का उच्चारण करते समय सोचना चाहिए कि,

"दीवार शुद्ध किए बिना अगर उस पर चित्र बनाया जाए, तो वह चित्र निखरता नहीं है, वैसे ही मेरे हृदय को वैर, दुर्भाव, अरुचि आदि मलिन भावों से मुक्त किए बिना यदि मैं सामायिकादि करूँगा, तो मेरी ये क्रियाएँ भी निखर नहीं पाएंगी अर्थात् उसके

वास्तविक भाव मेरे हृदय में प्रकट नहीं हो सकेंगे । अब तो जब मुझे गुरु भगवंत ने भी शुद्ध होने की आज्ञा देकर आशीर्वाद दिया है, तब मुझे भी दोषों से मलिन बनी हुई अपनी आत्मा को शुद्ध करने के लिए विशेष प्रयत्न करना चाहिए ।"

इस पद की समाप्ति के साथ प्रथम 'अभ्युपगम संपदा' पूर्ण होती है । आलोचना करने की स्वीकृति ही 'अभ्युपगम संपदा' है । इस पद में प्रतिक्रमण करने का स्वीकार किया गया है, इसलिए यह पद अभ्युपगम संपदा है ।

२. निमित्त संपदा :

अब किसका प्रतिक्रमण करने की इच्छा है, यह बताते हैं ।

इरियावहियाए विराहणाए : ईर्यापथिकी की विराधना से ।

ईर्यापथ अर्थात् गमनागमन का मार्ग अथवा ईर्या अर्थात् जीवनचर्या - श्रावक अथवा साधु की जीवन चर्या । इसके उपरांत 'धर्मसंग्रह' में ईर्या का अर्थ ध्यान, मौन आदि रूप 'भिक्षुव्रत' किया है । अतः इन शब्दों द्वारा शिष्य मार्ग में चलते हुए विराधना के पाप से अथवा तो श्रावकाचार या साध्वाचार में थोड़ी भी स्खलना हुई हो, तो उससे पीछे हटने की इच्छा गुरु के समक्ष व्यक्त करता है ।

विराधना को समझने के लिए पहले आराधना को समझना जरूरी है । सम्यग् दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप मोक्षमार्ग की उपासना करना अथवा संयममार्ग का यथाविध पालन करना ही आराधना है । इस आराधना से विपरीत आचरण विराधना है अथवा विकृत हुई आराधना विराधना है । जिस आराधना में कमी या भूल रही हो, वह विराधना है । विराधना का दूसरा अर्थ प्राणी को दुःख देना = पीडा देना भी है । यहाँ विशेष रूप से इस अर्थ में विराधना का प्रयोग किया गया है । इस विराधना के चार प्रकार हैं ।

१. अतिक्रम : आराधना के भंग के लिए कोई प्रेरणा करे, तब अगर उसका निषेध न किया जाय, तो अतिक्रम है ।

२. व्यतिक्रम : विराधना के लिए तैयारी व्यतिक्रम है ।

३. अतिचार : जिसमें कुछ अंश में दोष का सेवन होता हो, वह अतिचार है ।

४. अनाचार : जहाँ संपूर्णतया आराधना का भंग होता हो, जिसमें आराधना का कोई भी तत्त्व न रहता हो, वह अनाचार है ।

साध्वाचार या श्रावकाचार के विषय में हुई विराधना को याद करते हुए अत्यंत उपयोग से यह पद बोला जाये तो अनाभोग से, अचानक या प्रमाद आदि के कारण हुई किसी भी विराधना से पीछे हटने का भाव पैदा होता है।

मुनि भगवंत पाँच महाव्रत एवं श्रावक १२ अणुव्रतों की आराधना करते हैं । इन व्रतों की आराधना करते हुए हिंसा, झूठ, चोरी आदि कोई भी पाप हो तो विराधना होती है । इस सूत्र में मात्र हिंसाजन्य विराधना का ही प्रतिक्रमण है, ऐसा उपरी दृष्टि से लगता है, परंतु सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो समझ में आता है कि सर्व व्रतों में मुख्य अहिंसा व्रत है । शेष चारों दोष हिंसा के कारण होने से हिंसा में ही उन सबका समावेश हो जाता है । इसलिए यहाँ सर्व पाप के संग्रहरूप जीवहिंसा को मुख्य मानकर उसको सामने रखकर शुद्धि का क्रम बताया है ।

यहाँ **दूसरी निमित्त संपदा** पूर्ण हुई । इस पद द्वारा आलोचना का कारण बताया गया है । इसलिए यह 'निमित्त संपदा' है ।

३. ओघ संपदा :

अब साधक जिस विराधना का प्रतिक्रमण करना चाहता है, उस विराधना का कारण बताते हैं ।

गमणागमणे : जाने या आने में ।

स्वस्थान से अन्यत्र जाना, गमन है एवं स्वस्थान में वापस आना, आगमन है । किसी भी स्थान पर जाने में एवं वहाँ से वापस लौटने में हुई विराधना का इस सूत्र द्वारा प्रतिक्रमण करना है ।

यहाँ **तीसरी 'ओघ संपदा'** पूरी हुई । इस पद द्वारा विराधना का सामान्य हेतु दर्शाया गया है । इसलिए इसे 'ओघ' अर्थात् 'सामान्य हेतु संपदा' कहते हैं ।

विराधना का कारण बताने के बाद अब उसके प्रकार बताते हैं ।

४. विशेष हेतु संपदा :

पाणक्कमणे, बीयक्कमणे, हरियक्कमणे - प्राणियों को कुचलने से, बीजों पर चलने से, हरी वनस्पति को कुचलने से ।

पाणक्कमणे - अर्थात् प्राणी पर आक्रमण करना । सामान्य से पाँच इन्द्रिय, मनोबल, वचन बल, कायबल, आयुष्य एवं श्वासोश्वासरूप दस प्राणों में से जिसमें यथायोग्य प्राण होते हैं, उसे प्राणी कहते हैं । परन्तु यहाँ जिन में इन्द्रियाँ व्यक्त हुई हों, वैसे जीवों को ग्रहण करने के लिए ही प्राणी शब्द का प्रयोग हुआ है अर्थात् दो इन्द्रियादि से युक्त जीव हि यहाँ प्राणी शब्द से लेने है । बेइन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के सब जीवों का हनन करना अर्थात् पैर द्वारा जीवों को कुचलना, दबाना वगैरह ।

बीयक्कमणे : अर्थात् बीज को कुचलने या दबाने से । सचित्त गेहूँ, मूँग, बाजरी आदि धान्य के दाने या दूसरे किसी भी प्रकार के सचित्त बीज पैरों के नीचे आए हों अथवा हाथ से या अन्य किसी वस्तु से उनकी विराधना हुई हो, तो इस पद द्वारा उन विराधनाओं को याद करके उनकी क्षमायाचना करनी है ।

हरियक्कमणे : हरी वनस्पति, हरी घास पेड़, पौधे या अन्य किसी वनस्पति के उपर पैर आया हो, हाथ-वस्त्र आदि से उनकी विराधना हुई हो, तो इस पद द्वारा उनको याद करके क्षमा माँगनी है ।

ओसा-उत्तिंग-पणग-दगमट्टी-मक्कडा-संताणा-संकमणे : ओस की बूँदों को, चींटियों के बिलों को, काई, कीचड़, मकड़ी के जाले आदि को खोदकर या कुचलकर ।

ओसा - अर्थात् प्रभात काल में पड़ी ओस (पानी) की बूँदें । उन पर चलते हुए, उन पर पैर रखते हुए या हाथ से भी उनकी कोई विराधना हुई हो, तो उनकी इस पद से क्षमा माँगनी है ।

उत्तिंग - भूमि में गोल छिद्र करनेवाले गर्दभ आकार के जीव अथवा चींटियों के बिलों । उनको बंध करते हुए, उनमें पानी आदि चले जाने से या हाथ-पैर से उन्हें कोइ परेशानी हुई हो, तो उस पीडा की उनसे क्षमा माँगनी है ।

पणग - काई (moss-fungi) । विशेषतया वर्षाऋतु में, नमीवाले वातावरण में खाद्य पदार्थों के ऊपर, पृथ्वी पर या मैले वस्त्रादि पर काई (फफूँद) होने की संभावना होती है । इस काई आदि की किसी भी तरह से विराधना हुई हो, तो उन संबंधी मेरे सब दुष्कृत मिथ्या हों ।

दग-मट्टी - कच्चा पानी अथवा कीचड़, ढीला कीचड़, पानी एवं मिट्टी के मैल से जो [2]कीचड़ बनता है, उस ढीले कीचड़ को दग-मट्टी कहते हैं । अथवा दग = कच्चा पानी एवं मट्टी = सचित्त मिट्टी । उसकी भी किसी भी तरह से विराधना की हो । मिट्टी खाने में, उसके ऊपर चलने में, खेती या खुदाई करने में मिट्टी के जीवों की विराधना होती है तथा कोहरा (Fog) पड़ने से या बरसात के दिनों में जमीन पर पड़े हुए कच्चे पानी या शरीर, पुस्तक आदि के ऊपर जो पानी पड़ा हो, उसकी जयणा न की हो, उसको फूंक मारकर या हाथ से पोंछकर फेंकने के कारण जो पानी के जीवों की विराधना हुई हो, गर्मी के दिनों में पानी के जलाशय, नदियों आदि को देखकर आनंद हुआ हो, नदी में उतरते हुए पानी के जीवों का स्पर्श दिल को भाया हो, नायगरा वगैरह प्रपात या झरने देखने में आनंद माना हो, तो उन सब पापों की विराधना के लिए, 'मिच्छा मि दुक्कडं' देना है ।

2. यहाँ 'दग' का अर्थ है कच्चा पानी और 'दगमट्टि' शब्द ले तो उसका अर्थ होता है कीचड।

जिज्ञासा : झरने, जलाशय या वनस्पति वगैरह के प्राकृतिक सौंदर्य देखने में पाप क्यों लगता है कि, जिससे 'मिच्छा मि दुक्कडं' देना पड़े ?

तृप्ति : कुदरती सौंदर्य के रूप में हम विविध आकृतिवाली वनस्पतियों और पानी के स्थानों को देखते हैं । इन दोनों स्थानों में अनंत या असंख्यात एकेन्द्रिय जीव होते हैं । इन जीवों को उन-उन स्थानों में स्थावर नामकर्म के उदय के कारण (मजबूरी से) रहना पड़ता है । इसके अतिरिक्त जो जो (पहाड़ी स्थान आदि) घुमने फिरने-पर्यटन के स्थान हैं, वहाँ उनकी प्रदर्शनी के लिए वनस्पति को बार बार काटते हैं, छाटते हैं, नई नई उगाते हैं, खराब वनस्पतियों को जड़ से उखाड़ फेंकते हैं । अनेक लोग उनके ऊपर कूदते हैं, चलते फिरते हैं, ऐसी हर एक क्रिया से इन एकेन्द्रिय जीवों को त्रास होता है । ऐसे सौंदर्य में आनंद मानने से उन उन जीवों को होनेवाली पीडा की अनुमोदना होती है। इन दृश्यों को लोग देखने आएँगे, इस हेतु से धन के लोभी वनस्पतिकाय आदि को पीड़ा देते हैं । प्राकृतिक सौंदर्य को आसक्ति से देखने में उन पाप क्रियाओं को करवाने का पाप भी लगता है एवं उन जीवों के ऊपर चलने - फिरने वगैरह से करने का पाप भी लगता है, इसलिए ऐसे कुदरती सौंदर्य को देखकर आनन्द माना हो, तो उसका भी 'मिच्छा मि दुक्कडं' देना चाहिए ।

मक्कडा-संताणा – मकड़ी के जाले । मकड़ियों की जालें नष्ट कीये हो, घर की सफाई करते हुए मकड़ियों के घर टूटे हों, तो उस विराधना का भी स्मरण करके उससे मलिन बनी आत्मा को शुद्ध करना है ।

इस पद को बोलने के साथ याद आना चाहिए कि 'मुझे सूक्ष्म रीति से भी ऐसे किसी भी प्रकार के जीव की विराधना नहीं करनी है । ऐसी विराधना हुई हो, तो उसके प्रति जुगुप्सा करनी है एवं विराधना न हुई हो तो **इन शब्दों द्वारा अहिंसा के परिणाम को दृढ़ करना है, जिससे भविष्य में सावधानी रहे एवं चलते चलते ऐसी विराधना न हो ।**

संकमणे - अर्थात् ओस से मकड़ी तक के जीवों की आक्रमण द्वारा हुई विराधना ।

'संक्रमण' शब्द में 'सम्' + 'क्रम्' धातु का प्रयोग है । एक वस्तु आगे पीछे हुई हो, एक स्वरूप में से दूसरे स्वरूप में बदल जाए, एक स्थिति में से दूसरी स्थिति में परिवर्तित हो जाए, ऐसा अर्थ **'सम्'** उपसर्गपूर्वक **'क्रम'** धातु का होता है और ऐसे ही भाव को दर्शानेवाली अन्य क्रियाएँ जैसे कि उल्लंघन करना, ऊपर से कूदना, प्रवेश करना, परिवर्तन करना वगैरह अर्थ में भी इस धातु का प्रयोग होता है । यहाँ उल्लंघन करना याने ऊपर से होकर निकल जाने के अर्थ में इस 'संक्रम' धातु का प्रयोग हुआ है अर्थात् इन जीवों के ऊपर से कूदकर निकलने में या उनके ऊपर चलने आदि से जो विराधना हुई हो उसका प्रतिक्रमण करना है । आगे दर्शाया जाएगा कि 'एगिंदिया' वगैरह भेदों से सभी जीवों का समावेश हो जाएगा फिर भी 'हरियक्कमणे' वगैरह पदों द्वारा अलग अलग जीवों की विराधना बतायी गई है, वह उन उन जीवों की मन में अलग से उपस्थिति करने के लिए की होगी, ऐसा लगता है ।

इस संपदा के प्रत्येक पद को बोलते हुए जीवों को जिस-जिस तरीके से नुकसान पहुँचाया हो, उसकी स्मृतिपूर्वक सोचना चाहिए कि,

> 'ये जीव भी मेरे जैसे ही हैं, जैसे मुझे दुःख इष्ट नहीं है, वैसे इन जीवों को भी दुःख पसंद नहीं है, फिर भी स्वार्थवश खुद के सुख - चैन की खातिर मैंने अनेक बार इन जीवों को दुःख दिया है, कितनी बार उनकी उपेक्षा की है, मैं नीचे देखकर नहीं चलूँगा, तो बिचारे ये निर्दोष जीव मर जाएँगे, ऐसा विचार मात्र मुझे नहीं आया। चलते समय अगर मुझमें करुणा बुद्धि होती तो, मुझसे ऐसी दूसरों को दुःख देनेवाली अनुचित प्रवृत्ति नहीं होती। आज इन सब विराधनाओं को याद करके

अंतःकरणपूर्वक क्षमा माँगता हूँ और पुनः ऐसा न हो, वैसी सावधानी रखने का संकल्प करता हूँ ।'

इस पद से **चौथी विशेष हेतु संपदा** पूर्ण होती है । गमनागमन करते हुए विशेष प्रकार से कौन-कौन सी विराधना हुई है, यह इस पद में बताइ गई हैं । इसलिए इस पद को विशेष हेतु संपदा अथवा 'इतर' हेतु संपदा भी कहते हैं ।

५. संग्रह संपदा :

जे मे जीवा विराहिया : मुझसे जिस जीव की विराधना हुई हो ।

शरीर धारणकर जो जीता है उसे यहाँ जीव कहा जाता है । शरीर के कारण इन जीवों का छेदन, भेदन, ताडन, तर्जन हो सकता है । ये क्रियाएँ उनके दुःख का कारण बनती हैं । अतः वह विराधना मानी जाती है । एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों की जो कोई भी विराधना हुई हो, उसको याद करके इन शब्दों द्वारा मिच्छा मि दुक्कडं देना है ।

यहां **पाँचवीं संग्रह संपदा** पूर्ण हुई । यह पद समस्त जीव विराधना का संग्रह करनेवाला होने के कारण इसे संग्रह संपदा कहते हैं ।

६. जीव संपदा :

साधारणतया, मुझसे जिस किसी भी जीव की विराधना हुई हो, ऐसा कहकर, उन जीवों को बताते हैं -

एगिंदिया, बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया : एक इन्द्रियवाले, दो इन्द्रियोंवाले, तीन इन्द्रियोंवाले, चार इन्द्रियोंवाले एवं पाँच इन्द्रियोंवाले जीव जिनकी मुझसे विराधना हुई हो ।

एगिंदिया - स्पर्शेन्द्रिय नाम का एक ही इन्द्रियवाला जीव

पृथ्वीकाय, अप्काय, तेऊकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय : एकेन्द्रिय जीव ऐसे पाँच प्रकार के होते हैं । इन जीवों की चेतना अस्पष्ट होती है । स्थावर होने के कारण वे अपनी इच्छानुसार एक स्थान से दूसरे स्थान पर

नहीं जा सकते, फिर भी उनमें चेतना तो होती है । उनके ज्ञान के कुछ अंश अनावरित होते हैं । जिससे उनके शरीर का छेदन / भेदन करने से उन्हें भी दुःख-पीड़ा होती है[3] ।

खुद के स्वार्थ के लिए, अनुकूलता के लिए, जीवननिर्वाह के लिए या परिवार की भौतिक सुविधा के लिए जाने अनजाने में इन जीवों को पीड़ा उत्पन्न की हो, तो वह एकेन्द्रिय संबंधी विराधना है । सचित्त पृथ्वी पर चलते हुए, नमक आदि का उपयोग करते हुए, पानी गिरने से, बिजली, चूल्हा, झूला, पंखा, ए.सी. आदि का उपयोग करते हुए, वनस्पति के ऊपर चलते हुए, उसे काटने आदि में एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा होती है । यह शब्द बोलते हुए ऐसी कोई भी विराधना हुई हो, तो उसे याद करके उसका मिच्छामि दुक्कडं देना है ।

बेइंदिया - स्पर्शेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय इन दो इन्द्रियों वाला जीव । शंख, कोडा, केंचुआ, कृमि, पोरा, मामणमुंडा, झूठन से उत्पन्न होनेवाले जीव वगैरह बेइंद्रिय जीव है । यह जीव स्वेच्छा से हलन - चलन कर सकते हैं, इसलिए ये त्रस जीव कहलाते हैं । वर्तमान में अज्ञानवश अथवा स्वाद की लोलुपता के कारण, बासी खाने से, ब्रेड या टीन फूड खाने से, दहीं और दाल आदि खाने में प्रीझर्वेटिव डाले हुए सोस, शरबत आदि खाने से बेइन्द्रिय जीवों की बहुत हिंसा होती है तथा पानी के संग्रह से पोरा वगैरह जीवों की, खेती-बाड़ी करते

3. मनुस्मृति में भी कहा गया है -

अन्तः संज्ञाः भवति एते सुखदुःख समन्विताः ।

अर्थात् ये वृक्षादि (वनस्पतियां) सुख और दुःख से युक्त अन्तरिक संवेदनावाले होते हैं। इसी वाक्य से प्रेरित होकर डो. जगदीशचन्द्र बोझ ने इसे परखने के लिए एक यन्त्र विकसित किया। उसमें सुखी आदमी की तरंगों को रेकार्ड किया और दुःखी आदमी के तरंगों को भी रेकोर्ड किया। फिर एक मुरझाये हुए या जिसकी डाल काटी गई हो ऐसे पेड़ से उसे लगाया तो देखा कि उसकी भी तरंगें ठीक वैसी ही थी जैसी दुःखी आदमी की तरंगे। फिर एक खूब हरे वृक्ष पर लगाया तो देखा कि उसकी तरंगे सुखी आदमी की तरंगों जैसी थीं । इस प्रकार उन्होंने वैज्ञानिक रूप से यह सिद्ध किया कि वनस्पतियों में भी जीव होता है । इससे जैन परम्परा में मान्य वनस्पति कायिक जीवों की भी सिद्धि हो गई ।

हुए या घर में अयतनापूर्वक सब्जी आदि सुधारते (काटते) हुए ध्यान न रखा जाए, तो इन सब जीवों की हिंसा होती है । यह पद बोलते समय उन विराधनाओं को याद करके उनका मिच्छामि दुक्कडं देना है ।

तेइंदिया - स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय इन तीन इन्द्रियोंवाले जीव -

चींटी, मकड़ी, खटमल, दीमक, ईली, अनाज के कीडे, घी में उत्पन्न होनेवाले कीडे (घीमेल), जू, कानखजूरा वगैरह तेइन्द्रिय जीव हैं । खुद के सुख में बाधक बननेवाले इन जीवों को बहुत बार दवाओं से नाश किया जाता है । बहुत बार पैर या वाहन के नीचे आकर ये जीव मर जाते हैं। अनाज वगैरह से निकलती ईली और बाल में होनेवाली जू वगैरह को कहीं भी डालने से उसे पीड़ा होती है, यह सब तेइन्द्रिय जीवों की विराधना है । यह पद बोलते हुए उन विराधनाओ को स्मरण में लाकर आर्द्र हृदय से मिच्छामि दुक्कडं देना है ।

चउरिंदिया - स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय इन चार इन्द्रियों वाले जीव :

बिच्छू, मक्खी, मच्छर, तीड़, किट्टी वगैरह चउरिंद्रिय जीव हैं । ये त्रस जीव पूर्व के जीवों की अपेक्षा ज्यादा स्पष्ट चेतनावाले जीव हैं । हमें पीडाकारक बनने वाले इन जीवों की अनेक प्रकार से हिंसा होती है । उनके प्रति अरुचि, द्वेषभाव वगैरह सब चउरिंद्रिय जीवों की विराधना है । यह पद बोलते समय उनकी विराधनाओं को याद करके दुखार्द्र हृदय से उसका मिच्छामि दुक्कडं देना है ।

पंचिंदिया : स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय इन पाँच इन्द्रियोंवाले जीव :

देव, नारक, मनुष्य और तिर्यंच : ये चार प्रकार के पंचेंद्रिय जीव हैं । उसमें मनुष्य और तिर्यंच के दो भेद हैं । संज्ञी एवं असंज्ञी अर्थात् मनवाले

और मनरहित । उसमें मनवाले जीवों में विशिष्ट बुद्धि और शक्ति होती है। उनकी चेतना अति स्पष्ट होती है । वे निर्णय करें, तो आत्मकल्याण की दिशा में विकास कर सकते हैं ।

पंचेन्द्रिय जीवों में नरक के जीवों की विराधना काया से सम्भव नहीं है। मात्र मन से उनके प्रति अभाव, दुर्भाव या वचन से उनके लिए कुछ भी बोलना, उनकी विराधना है ।

देव भी देवलोक में रहते हैं, अतः सामान्य लोग उन्हें पीड़ा नहीं दे सकते, फिर भी मंत्र-तंत्र द्वारा उनका स्तंभन वगैरह कर सकते हैं, कभी वाणी द्वारा भी उन्हें दुःखी किया जाता है, उनके लिए किए गए अशुभ विचार भी उनके दुःख का कारण बनते हैं, इस प्रकार देवों की विराधना होती है ।

पंचेंन्द्रिय तिर्यंचों में गाय, भैंस, बैल वगैरह पर अतिभार लादना, उनके चारे - पानी में विलंब करना, मार मारना, कत्ल करना या उन्हें पीड़ा हो ऐसी कोई भी प्रवृत्ति करना अथवा जिसमें ऐसे पंचेंद्रिय जीवों की हिंसा हुई हो, वैसी चीजों का उपयोग करना वगैरह तिर्यंच पंचेन्द्रिय की विराधना है।

मनुष्य दो प्रकार के होते हैं : गर्भज और संमूर्च्छिम । उसमें संमूर्च्छिम मनुष्य गर्भज मनुष्य के मल-मूत्र, लार वगैरह अशुचि में उत्पन्न होते हैं । आहार-पानी झूठे छोड़ने से, गटर वगैरह में झूठन डालने से इन जीवों की उत्पत्ति और विनाश सतत चालू ही रहता है, यह एक भयंकर विराधना है ।

गर्भज या संज्ञी मनुष्य स्त्री के गर्भ में उत्पन्न होते हैं । उन मनुष्यों के पास उनकी शक्ति से अधिक काम करवाने से, मारने से, उनके शरीर के अंगोपांग छेदने से, निकालने से या गर्भपात वगैरह से मनुष्यों के द्रव्य प्राणों के नाशरूप विराधना होती है । कभी - कभी तो लापरवाही से चलते हुए या गाड़ी आदि चलाते हुए मनुष्यों के अंगोपांग को नुकसान पहुँचाने वाली प्रवृत्ति होती है। इसके अलावा, किसी को कषाय उत्पन्न हो वैसा बर्ताव करने से या किसी के मन को ठेस पहुँचाने से उनकी विराधना होती है ।

दूसरों के बारे में अशुभ विचार करने से, कर्कश या कटु वचन के उच्चारण से वाणी द्वारा मनुष्यों संबंधी विराधना होती है । यह सब मनुष्य संबंधी विराधना है। इनमें से किसी भी प्रकार से विराधना हुई हो, तो यह पद बोलकर दयाभावपूर्वक उसका मिच्छामि दुक्कडं देना है ।

जीवविचार में एकेंद्रिय से पंचेंद्रिय तक के जीवों के ५६३[4] उत्तरभेद बताये गये हैं । उसमें से किसी भी जीव की विराधना की हो, तो उसे याद करके इन पाँच पदों द्वारा उनकी क्षमा माँगनी चाहिए ।

यहाँ **छट्ठी जीव संपदा** पूरी होती है । इन पदों द्वारा जीवों के प्रकार दर्शाये हैं । इसलिए यह जीव संपदा से जानी जाती है ।

अब ५६३ प्रकार के जीवों को किस प्रकार दुःखी किया जाता है, यह बताते हैं -

७. विराधना संपदा :

अभिहया[1], वत्तिया[2], लेसिया[3], संघाइया[4], संघट्टिया[5], परियाविया[6], किलामिया[7], उद्दविया[8], ठाणाओ ठाणं संकामिया[9], जीवियाओ ववरोविया[10] :

५६३ प्रकार के जीवों को लात से मारें हों(१), धूल से ढँकें हों(२), आपस में अथवा जमीन पर मसले हों(३), इकट्ठे किये हों(४), (परस्पर शरीर द्वारा टकराये हो), थोडा स्पर्श किया हो(५), परिताप उत्पन्न किया हो(६), खेद में डाला हो(७), उद्वेग पैदा किया हो(८), एक स्थान से दूसरे स्थान पर रखे हो(९), प्राण रहित किये हो(१०) ।

---

4. तिर्यंच = ४८ (एकेंद्रिय + विकलेंद्रिय + पंचेंद्रिय)
२२ ६ २०
नरक = १४ (७ नारकी के पर्याप्त एवं अपर्याप्त)
देव = १९८ (९९ x २)
मनुष्य = ३०३ (१५ कर्मभूमि के + ३० अकर्मभूमि के + ५६ अंतरद्वीप के = १०१ ५६३ प्रकार के मनुष्य) x ३ (गर्भज पर्याप्त/अपर्याप्त समुर्च्छिम)

अभिहया : सामने आते जाते हुए जीव को पैर से ठोकर लगाई हो ।

वत्तिया : ढेर किया हो या जीव को धूल से ढँका हो।

लेसिया : जमीन पर जीव को दबाया हो या थोड़ा भी कुचला हो ।

संघाइया : परस्पर एक दूसरे के अंग दब जाए, इस प्रकार जीवों को इकट्ठा किया हो,

संघट्टिया : जीवों को थोड़ा स्पर्श किया हो।

परियाविया : अनेक प्रकार से जीवों को अत्यंत पीड़ा दी हो ।

किलामिया : प्राणांतिक पीड़ा दी हो ।

उद्दविया : अत्यंत भयभीत किया हो ।

ठाणाओं ठाणं संकामिया : जीवों को उनके स्थान से उठाकर अन्य स्थान पर रखा हो, एवं

जीवियाओ ववरोविया : प्राण रहित किया हो । इन दस प्रकारों से ५६३ प्रकार के जीवों को दुःखी करके जो पाप बांधे हों, उन पापों से मुक्त होना है ।

जिज्ञासा : परिताप एवं किलामणा में क्या अन्तर होता है ?

तृप्ति : सर्व प्रकार के शारीरिक दुःखरूप संताप से दुःख पैदा करना परिताप है एवं पसीना, आंसू वगैरह पैदा हो ऐसा कष्ट देना किलामणा है अथवा परिताप में शारीरिक दुःख देना होता है एवं किलामणा में जीव को मानसिक दुःख देना होता है। यही परिताप एवं किलामणा में मुख्य भेद है ।

जीवों की विराधना के अनेक प्रकार हैं । उनमें से यहाँ तो मात्र दस प्रकार ही बताये गये हैं । इनके अलावा भी अन्य बहुत प्रकार से हिंसा का पाप लगता है । शास्त्रकारों ने तो यहाँ तक कहा है कि, जीव को बचाने की कोई भावना या यत्न न किया हो अथवा जीव को मारने की भावना न

हो, परन्तु जीवहिंसा न हो जाए, ऐसी यतना भी न रखी हो, तो जीवों को बचाने का प्रयत्न न करने रूप लापरवाही का भाव भी हिंसा स्वरूप ही माना जाता है । इसलिए यह सूत्र बोलते हुए मात्र जीवहिंसारूप दोषों का ही नहीं, परन्तु जहाँ - जहाँ लापरवाही या अयतना का भाव प्रवृत्त हुआ हो, उन सब का प्रतिक्रमण करना है । इस प्रतिक्रमण को सफल बनाने के लिए याद रखना चाहिए कि, जितने अशुभ या क्रूर भाव से विराधना की हो, उससे अधिक शुभ भाव या करुणा के भाव ये शब्द बोलते हुए हृदय में उत्पन्न होने चाहिए क्योंकि, तब ही वास्तविक अर्थ में क्षमापना हो सकती है एवं दुष्कृत्य से बंधे हुए पाप का नाश हो सकता है ।

इन दस प्रकार की विराधनाओं के प्रकार बताए हैं उनसे मन-वचन-काया से या अन्य किसी भी तरीके से किसी भी जीव को वाणी द्वारा, व्यवहार द्वारा या मलिन भावों द्वारा दुःख पहुँचाया हो, तो उन सभी प्रकार की विराधनाओं को इन शब्दों द्वारा याद करके क्षमापना माँगनी चाहिए ।

यहाँ विराधना के प्रकार बताने वाली **साँतवीं विराधना संपदा** पूरी हुई ।

तस्स मिच्छा मि दुक्कडं : इन विराधना संबंधी मेरा दुष्कृत मिथ्या हो !

मिच्छा मि दुक्कडं शब्द का एक - एक अक्षर पाप के संस्कारों का नाश करने के लिए मंत्र तुल्य है । मार्ग में गमनागमन में या संपूर्ण जीवनपथ में कोई भी भूल हुई हो, किसी के साथ अभाव या दुर्भाव हुआ हो, किसी जीव को पीड़ा उत्पन्न की हो, किसी के प्राणों का नाश कीया हो या अनजाने में किसी के प्राणों का नाश हुआ हो, किसी को मरणांत पीडा उत्पन्न की हो, तो उन सब क्रियाओं की इन शब्दों द्वारा माफी माँगनी होती है । इतना खास ध्यान में रखने योग्य है कि मात्र पूर्वकृत दोष या उस भूल का ही मिच्छा मि दुक्कडं नहीं देना है, परंतु भूल करवानेवाले कुसंस्कारों का भी नाश करना है । हृदय में पाप के प्रति ऐसी घृणा उत्पन्न करनी है कि पुनः ऐसी भूल ही न हो । शास्त्र में कहा गया है कि, जिस भाव से भूल हुई हो,

यदि उससे भी अधिक तीव्र भाव से 'मिच्छामि दुक्कडं' दिया जाए, तो उस भूल से बांधे हुए कर्मों का अवश्य नाश होता है । इसलिए साधक को 'मिच्छामि दुक्कडं' शब्द का उच्चारण करते समय हृदय को कोमल बनाकर, पुनः पुनः ऐसी भूल नहीं करुँगा, ऐसा दृढ़ संकल्प करके स्व-मर्यादा और औचित्य को ध्यान में रखकर हृदय में पाप के प्रति तीव्र जुगुप्सा प्रकट करनी चाहिए । मुझसे यह बहुत गलत हुआ है, ऐसे पाप का स्वीकार करके जिस कषाय के वश होकर पाप-दोष का सेवन हुआ हो, उन कषायों को शांत करके हृदयपूर्वक पश्चात्ताप के भाव से 'मिच्छा मि दुक्कडं'[5] बोलना चाहिए ।

धर्मसंग्रह आदि शास्त्रानुसार ५६३ जीव भेदों को प्रत्येक ढंग से 'मिच्छा मि दुक्कडं' देते हुए 'मिच्छा मि दुक्कडं' के १८,२४,१२० भेद होते हैं । ५६३ जीव भेदों को अभिहया वगैरह १० प्रकार की विराधना से गुणाकार करने से ५६३० भेद होते हैं । वे भी राग एवं द्वेष से होती है, इसलिए इनको २ से गुणा करने से ११२६० भेद होते हैं । उनको मन-वचन-काया इन तीन योगों से गुणा करने से ३३,७८० होते हैं । उनको करना-करवाना-अनुमोदन करना इन तीन करण से गुणा करने पर १,०१,३४० होते हैं। उन्हें भूत-भविष्य-वर्तमान ऐसे ३ काल से गुणा करने से ३,०४,०२० भेद होते हैं । उन्हें १-अरिहंत, २-सिद्ध, ३-साधु, ४-देव, ५-गुरु, ६-आत्मा की साक्षी से 'मिच्छा मि दुक्कडं' देना है । इसलिए ६ से गुणा करने से कुल १८,२४,१२० भेदों से 'मिच्छा मि दुक्कडं' होता है ।

यह पद बोलते हुए साधक सोचता है कि,

"अपने जैसे ही अनंत जीवों को मैंने जो पीड़ा दी है, उसका मुख्य कारण मेरे हृदय की कठोरता है । कोमल हृदय कभी किसी को पीड़ा नहीं दे सकता और किसी की पीड़ा देख भी नहीं सकता । प्रभु ! मेरा हृदय कब ऐसा कोमल बनेगा ?

5. इस शब्द का विशेषार्थ 'अब्भुट्ठिओ' सूत्र में है ।

विरति धर्म का स्वीकार कर सभी के प्रति दयावान मैं कब बनूँगा ? अशरीरी बनकर सर्व जीवों को पीड़ा देने के दुष्ट भावों से मैं कब मुक्त बनूँगा ? इस भाव के साथ आज सर्व जीवों को स्मृति में लाकर उनके प्रति किए हुए अपराधों का भावपूर्वक 'मिच्छा मि दुक्कडं' देता हूँ ।"

यह प्रतिक्रमण संपदा है ।

इस सूत्र के एक एक पद अगर ध्यानपूर्वक बोले जाय, तो मन छ : जीवनिकाय के पालन में दृढ़ यत्नवाला बनता है । यह क्रिया करने के पूर्व मन की शिथिलता से या प्रमाद से छः काय के वध से बंधे हुए पापकर्म शिथिल होते हैं । आत्मा में अहिंसा धर्म के संस्कार तीव्र होते हैं । उसके कारण हिंसा करने के कुसंस्कार धीरे धीरे नष्ट होते जाते हैं । पहले जीववीर्य हिंसादि कार्य में लीन था, वह अब अहिंसक भाव में लीन होता है ।

जो व्यक्ति ध्यान के बिना या ज्वलंत उपयोग के बिना मात्र क्रिया करनी चाहिए, ऐसा मानकर मात्र यह सूत्र बोलता है, उसे उपर्युक्त लाभ नहीं होता, लेकिन साध्वाचार के उल्लंघन या जीवहिंसा का परिणाम जैसा था वैसा ही चालू रहता है । ऐसे व्यक्ति की इरियावहिया की क्रिया भी मृषावादरूप ही बनती है क्योंकि वह 'तस्स मिच्छा मि दुक्कडं' वगैरह पद बोलता है; परन्तु हिंसादि भाव से निवर्तन का परिणाम उसमें नहीं होता ।

तस्स उत्तरी सूत्र

सूत्र परिचय :

इरियावहिया सूत्र से 'पाप का मिच्छा मि दुक्कडं' देकर जो शुद्धि होती है, उस शुद्धि से अधिक विशेष शुद्धि करने के लिए इस सूत्र द्वारा कायोत्सर्ग किया जाता है । एक बार पाप से शुद्ध की हुई आत्मा को और भी शुद्ध करने की प्रक्रिया को उत्तरीकरण कहते हैं । वह इस सूत्र से होता है । इसलिए इस सूत्र का नाम **'तस्स उत्तरी सूत्र'** है ।

आत्मा को अत्यन्त शुद्ध करने की तीव्र लालसा हो एवं आत्मशुद्धि द्वारा मोक्ष ही प्राप्त करने की आतुरता हो, वैसा साधक यह सूत्र बोलने का अधिकारी है । आत्मा की विशेष शुद्धि मात्र जीवहिंसा संबंधी पापों की ही नहीं करनी है, परन्तु अपनी आत्मा में रहे हुए अन्य दोषों की भी शुद्धि करनी है । इसलिए जीवहिंसा संबंधी दोषों एवं अन्य दोषों से आत्मा की उत्तर - विशेष शुद्धि करना, इस सूत्र का लक्ष्य है । इसीलिए इस सूत्र का विधान है ।

जीवराशि को दुःख देने से हुई विराधना से अथवा किसी भी व्रत संबंधी हुई विराधना से मलिन बनी आत्मा की शुद्धि के लिए शास्त्र में बताए गए दस[1] प्रकार के प्रायश्चित्त में इरियावहिया सूत्र द्वारा आलोचना एवं

1. १. आलोचना अर्थात् की हुई भूल को गुर्वादि से कहना, २. प्रतिक्रमण अर्थात् मिच्छा मि दुक्कडं' देना, ३. मिश्र अर्थात् पहला एवं दूसरा प्रायश्चित्त करना, ५. विवेक अर्थात् दूषित आहार वगैरह परठना, ५. कायोत्सर्ग अर्थात् दुःस्वप्नादि के संदर्भ में कायोत्सर्ग करना,

प्रतिक्रमण नाम के दो प्रायश्चित्त संपन्न होते हैं । इन दोनों प्रायश्चित्तों से आत्मा निर्मल बनती है । फिर भी कई अतिचार ऐसे होते हैं कि उनकी शुद्धि करने के लिए विशेष क्रिया करनी पड़ती है, इस क्रिया को उत्तरीकरण कहते हैं । इस उत्तरीकरण के अध्यवसायपूर्वक कायोत्सर्ग नाम के पाँचवें प्रायश्चित्त से विशेष आत्मशुद्धि करने के लिए यह सूत्र बोला जाता है । इसी कारण इस सूत्र का नाम **उत्तरीकरण** सूत्र है ।

इस सूत्र का मुख्य विषय उत्तरीकरण है; जिसमें 'करण' याने अध्यवसाय-मन का एक विशिष्ट भाव । पाप का नाश करने के लिए उत्तरीकरण से कायोत्सर्ग किया जाता है । वह उत्तरीकरण प्रायश्चित्तकरण से होता है और प्रायश्चित्तकरण विशोधिकरण से होता है एवं विशोधिकरण विशल्यीकरण से होता है । इस तरह (१) प्रायश्चित्तकरण, (२) विशोधि-करण एवं (३) विशल्यीकरण । इन तीन उपायों से उत्तरीकरण हो सकता है ।

इरियावहिया करने के बाद भी जो अशुभ भाव रह गये हों, उन्हें सूक्ष्म बुद्धि से विचार करने के बाद नाश करना है । इस नाश का उपाय कायोत्सर्ग है । इस सूत्र को बोलकर इस तरह कायोत्सर्ग करना है कि दुष्कृत के परिणाम सर्वथा निर्मूल हो जाए एवं व्रत के परिणाम स्थिर हों । इसलिए पापनाश के उपायभूत कायोत्सर्ग को ध्यान में रखकर यह सूत्र चार भागों में बांटा गया है ।

१. अनुसंधान दर्शक, २. कायोत्सर्ग का हेतु (उपाय), ३. कायोत्सर्ग का प्रयोजन, ४. कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा ।

---

६. तप अर्थात् आयंबिल वगैरह तप करना, ७. छेद अर्थात् दीक्षादि पर्याय का अमुक प्रमाण में छेद करना, ८. मूल अर्थात् मूल से दुबारा व्रत उच्चरना, ९. अनवस्थान अर्थात् अमुक तप पूर्ण न हो तब तक दुबारा व्रत न देना, १०. पारांचित अर्थात् सर्व प्रायश्चितों से अधिक आचार्य को दिया जानेवाला प्रायश्चित्त, जिसमें ६ मास से लेकर बारह वर्ष तक अव्यक्तरूप से अज्ञात प्रदेश में विचरने के बाद व्रत देना।

मूल सूत्र :

तस्स उत्तरी-करणेणं,
पायच्छित्त-करणेणं, विसोही-करणेणं, विसल्ली-करणेणं,
पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए, ठामि काउस्सग्गं ।।

पद-६ संपदा-१ अक्षर-४९

१[2]. **पडिक्कमण-संपदा**

तस्स उत्तरी-करणेणं १, पायच्छित्त-करणेणं २, विसोही-करणेणं ३, विसल्ली-करणेणं ४, पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ५, ठामि काउस्सग्गं ६. ।।१।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया एवं शब्दार्थ :

तस्स उत्तरी करणेणं,

तस्य उत्तरी-करणेन,

उसका (पूर्व में ऐर्यापथिकी विराधना की जो शुद्धि की उसका) उत्तरीकरण करने से

पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं

पापानां कर्मणां निर्घातनार्थं कायोत्सर्गं तिष्ठामि ।

पापकर्मों का नाश करने के लिए मैं कायोत्सर्ग में रहता हूँ ।

(यह उत्तरीकरण किससे होता है, यह बताने के लिए कहते हैं कि...)

पायच्छित्त-करणेणं,

प्रायश्चित्त-करणेन,

प्रायश्चित्तकरण द्वारा

(प्रायश्चित्तकरण किससे होता है, वह बताने के लिए कहते हैं कि...)

विसोही-करणेणं,

विशोधि-करणेन,

विशोधिकरण द्वारा

(विशोधिकरण किससे होता है, वह बताने के लिए कहते हैं कि...)

---

2 मतांतर से यह इरियावहिया सूत्र की आठवीं संपदा है । इरियावहिया सूत्र के अंतिम पद 'मिच्छा मि दुक्कडं' का समावेश भी आठवी संपदा में हो जाता है ।

विसल्ली-करणेणं,
विशल्यी-करणेन
विशल्यी करण द्वारा

विशेषार्थ :

१. अनुसंधान दर्शक :

तस्स : उसका

'उसका' अर्थात् पूर्व में इरियावहिया सूत्र में जिन अतिचारों की आलोचना एवं प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त किया था, उन्हीं अतिचारों का । यह सूत्र इरियावही सूत्र का ही अनुसंधान या परिशिष्ट है । प्रतिक्रमण में इरियावही सूत्र में या इच्छामि ठामि सूत्र में 'मिच्छा मि दुक्कडं' पद द्वारा किये हुए प्रतिक्रमण का अनुसंधान 'तस्स' पद बताता है । इसलिए इस पद के द्वारा दोनों सूत्रों की संलग्नता अर्थात् दो सूत्र के बीच का अनुसंधान स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है। इस पद से सूत्र का 'अनुसंधान दर्शक' नामक पहला भाग संपन्न होता है ।

२. कायोत्सर्ग के उपाय :

उत्तरीकरणेणं : उत्तरीकरण करने से

पहले करें, तो वह पूर्वकरण कहलाता है एवं बाद में करें, तो वह उत्तरकरण कहलाता है । उत्तरीकरण अर्थात् अनुत्तर का उत्तर करना अर्थात् आंशिक शुद्ध को संस्कार करके विशेष शुद्ध करना । इरियावही द्वारा पाप की शुद्धि होने के बावजूद अंतर में पाप के जो संस्कार पडे हों, उनका नाश करके व्रतादि को संपूर्ण शुद्ध करने की प्रक्रिया को 'उत्तरीकरण' कहा जाता है ।

गाड़ी, घर वगैरह टूट जाने पर जैसे उनकी पुनः मरम्मत की जाती है, वैसे ही मूलगुणों एवं उत्तरगुणों का खंडन या विराधना हुई हो, तो उनकी भी मरम्मत करना, वह उत्तरीकरण है ।

इरियावही द्वारा जिन अतिचारों की आलोचना एवं प्रतिक्रमण नाम का प्रायश्चित्त किया हो, उन अतिचारों का ही इस सूत्र द्वारा उत्तरीकरण करने रूप कायोत्सर्ग नामक प्रायश्चित्त करना है । उत्तरीकरण का अध्यवसाय शुद्ध कायोत्सर्ग करने का उपाय है । इसीलिए सूत्र में कहा गया है कि पाप नाश करने के लिए उत्तरीकरण से कायोत्सर्ग करता हूँ ।

उत्तरीकरण से अत्यंत स्वच्छ बने हुए चित्त द्वारा कायोत्सर्ग किया जाए, तो उत्तम पुरुष के ध्यान द्वारा उनके गुणों के प्रति आकर्षण पैदा होता है । इन गुणों का आकर्षण पाप के प्रति तिरस्कार पैदा करता है । पाप के विरुद्ध भावों से ही पाप करने के संस्कार मूल से नाश होते हैं एवं संवर के भाव टिके रहते हैं और इस संवर भाव से व्रत पूर्णतया शुद्ध बनता है ।

इरियावहिया सूत्र में जिन अतिचारों की आलोचना एवं प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त किया था, उन अतिचारों के संस्कारों का मूल से नाश करना, साधक का लक्ष्य होता हैं । उसके लिए ही वह कायोत्सर्ग करता है एवं कायोत्सर्ग उत्तरीकरणपूर्वक करता है । वह उत्तरीकरण किस तरह से सिद्ध होता है ? उसके उत्तर स्वरूप अब ये तीन पद हैं ।

अब उत्तरीकरण का उपाय बताते हुए कहते हैं,

पायच्छित्त करणेणं : प्रायश्चित्त करने से,

प्रायश्चित्तरूप उपाय द्वारा उत्तरीकरण करके, पापों का नाश करने के लिए मैं कायोत्सर्ग में रहता हूँ । सूत्र का अन्वय इस प्रकार है ।

पाप के परिणाम के विरुद्ध, शुद्ध आत्मा का परिणाम, वह प्रायश्चित्त का परिणाम है । "प्रायश्चित्त" शब्द "प्रायः" एवं "चित्त" इन दो शब्दों से बना है। उसमें प्रायः का अर्थ बहुधा एवं चित्त का अर्थ मन या आत्मा होता है अर्थात् **मन या आत्मा को मलिन भावों से अधिकतर शुद्ध करने की क्रिया या अध्यवसाय प्रायश्चित्त करण है ।** 'पापों को छेदने की क्रिया' - वह

प्रायश्चित्त, ऐसा भी प्रायश्चित्त[3] शब्द का अर्थ है । संक्षेप में, प्रायश्चित्त का परिणाम अर्थात् पाप को दूर करने का परिणाम ।

मोक्षाभिमुख साधक दोषों की शुद्धि के लिए अत्यन्त जागृत होता है । इसलिए दोषों को सरल भाव से स्वीकार करता है । दोषों को सामान्य से आलोचनादि द्वारा शुद्ध करने के बाद भी अगर कुछ प्रायश्चित्त करना जरूरी होता है, तो वह करने के लिए भी साधक सदा तत्पर होता है । इस शब्द का उच्चारण करते समय सोचना चाहिए,

'यथासमय गुरु के समक्ष मैं अपने अतिचारों को प्रकाशित करके, वे जो प्रायश्चित्त देंगे उसे सम्यक् प्रकार से ग्रहण करूँ । श्री जिनेश्वर भगवान ने पाप का नाश करने के लिए जो दस प्रकार के प्रायश्चित्त कहे हैं, उनमें से कायोत्सर्ग नामक प्रायश्चित्त करने में प्रवृत्त होकर मैं चित्त की शुद्धि कर लूँ एवं फिर वे अतिचार न लगें उसकी सावधानी रखूँ ।'

गुरु के उपदेश से या भवान्तर में बंधे हुए पाप के उदय से होनेवाले अनर्थों के भय से कई बार पाप के नाश के लिए प्रायश्चित्त करने का भाव उत्पन्न हो सकता है, तो भी जब तक पाप के कारणों की शुद्धि नहीं होती, तब तक पाप होने की शक्यता बनी रहती है । इसलिए प्रायश्चित्त करने से पहले आत्मा पर जो मलिन संस्काररूप अशुद्धियाँ हों, जिनके कारण पाप होता है, उन्हें दूर करना चाहिए, उससे प्रायश्चित्त शुद्ध हो सकता है । इस शुद्ध प्रायश्चित्तकरण का उपाय 'विशोधिकरण' है ।

अब प्रायश्चित्तकरण का उपाय बताते हुए कहते हैं कि,

विसोही-करणेणं : विशुद्धिकरण करने द्वारा

आत्मा की अशुद्धियों को विशेष प्रकार से शुद्ध करने के अध्यवसायों को

---

3. पावं छिंदति जम्हा, पायच्छित्तं ति भण्णई तेवा ।
पाएण पावि चित्तं, सोह यति ते ण पच्छित्तं ।।३।।
- पच्चाशक - २६

विशोधिकरण कहते हैं । यह विशोधिकरण का अध्यवसाय यानें चित्त की एक ऐसी परिणति जिसके द्वारा भूल के कारण ढूंढकर उस भूल से मुक्त होने का यत्न किया जाता है । ऐसे विशुद्धिकरण नाम के अध्यवसाय से ही प्रायश्चित्तकरण शुद्ध हो सकता है ।

विशुद्धि के प्रकार :

सामान्य से विशुद्धि दो प्रकार की होती है :

१. द्रव्य विशुद्धि : नमक, सोडा, साबुन, पानी वगैरह द्रव्यों से शरीर वस्त्रादि की शुद्धि करना, द्रव्य विशुद्धि है एवं

२. भाव विशुद्धि : दोषों से मलिन बनी हुई आत्मा को आलोचना, स्वाध्याय, तप, कायोत्सर्ग आदि क्रिया से शुद्ध करना, भाव विशुद्धि है ।

यह सूत्र भाव विशुद्धि का साधन है । वह आत्मा की अशुद्धियों को दूर करता है । आत्मा में पड़े हुए कषायों के कुसंस्कार, विषयों की आसक्ति, राग-द्वेष के भाव, प्रमाद इत्यादि आत्मा की अशुद्धियाँ हैं । उनको दूर करने का प्रयत्न करना, भाव विशुद्धि की प्रक्रिया है। प्रायश्चित्त या पाप का पश्चात्ताप करने से पूर्व साधक को वह (पाप), भूल मुझसे क्यों हो गई, उसका कारण ढूँढने के लिए सोचना चाहिए कि,

"प्रभुवचन पर मुझे विश्वास है ? पाप एवं पाप के फल संबंधी कहीं अश्रद्धा तो नहीं ? मुझ पर कषाय हावी तो नहीं हुए ? मेरी आत्मा में कहीं हिंसा के विचार तो प्रवृत्त नहीं हैं ? पाँच इन्द्रियों की अधीनता तो नहीं है ? प्रमाद नाम के दोष से मेरी आत्मा पीडित तो नहीं है ? उपयोग के अभाव में सत्त्वहीनतादि के कारण मैंने कितने पाप किये हैं ? क्या मेरी आत्मा अभी भी स्वमति से ही व्यवहार करना चाहती है ? जिनेश्वर के वचनों की विस्मृति तो नहीं हुई है... ?" ऐसे विचार करके ध्यान में आई हुई अशुद्धियों पर गंभीर चिंतन करके उन्हें निकालकर विशुद्ध बनाना चाहिए । सच्चा प्रायश्चित्तकरण का यही उपाय है ।

अशुद्धियों का ख्याल आने के बाद उससे मलिन बने हुए चित्त को विशेष शुद्ध करने के लिए इस प्रकार चिंतन करना चाहिए -

'हे आत्मन्! दुर्लभ पाँच इन्द्रियों और तन-मन की इतनी शक्ति प्राप्त करके तू उनका दुरुपयोग क्यों करता है ? आत्मकल्याण में उनका उपयोग कर । अतिचार लगने का मुख्य कारण तेरे उपयोग की शून्यता एवं चित्तवृत्ति की चंचलता है । जब तक तू चंचलता पर विजय नहीं प्राप्त करेगा, तब तक समिति में जैसा चाहिए, वैसा उपयोग नहीं रख सकेगा एवं इस तरह तो बार बार अतिचार लगते ही रहेंगे । अब तुमने सद्गुरु के मुख से आत्मा का स्वरूप सुना है, तो उनके शब्द हृदय को स्पर्श करें ऐसी चित्त की निर्मलता बना एवं जिनेश्वर के वचनों को इस तरीके से दृढ़ कर कि जिससे पुनः ये दोष लगे ही नहीं ।'

ऐसा सोचकर चंचलता आदि दोषों का नाश करना एवं पुनः दोषों का आसेवन न हो, इसलिए अडिग संकल्प करना ही विशुद्धिकरण है । रागादि परिणाम मेरी आत्मा को विकृत करते हैं, यह दृढ़ करने के बाद रागादि से विरुद्ध भावों की तरफ अपने वीर्य का प्रवर्तन करना, विशुद्धिकरण है । दोषों के संस्कार दूर करने से हुई आत्मा की निर्मलता विशुद्धिकरण है।

सच्चा प्रायश्चित्तकरण इस विशोधिकरण से ही होता है । विशुद्धि-करण भी आत्मा में पडे हुए शल्य दूर करने से ही होता है । जब तक आत्मा शल्य युक्त हो तब तक विशुद्धिकरण नहीं हो सकता । इसीलिए आत्मा को अत्यंत शुद्ध रखने की इच्छा करनेवाले साधक को विशुद्धिकरण करने से पहले आत्मा में से शल्य बाहर निकाल देना चाहिए ।

इसलिए अब विशुद्धिकरण का उपाय बताते हुए कहते हैं कि,

विसल्लीकरणेणं : आत्मा को शल्यरहित बनाने के द्वारा ।

अशुद्धि को निकालने में जो रुकावट पैदा करते हैं, उन बाधक परिणामों (भावों/विचारों) को शल्य कहते हैं । कंपाने, या रोकनेवाले को शल्य कहते हैं । यह शल्य भी दो प्रकार का है जो वस्तु शरीर में प्रवेश कर शरीर को कंपित करे शरीर में खटके वह कांच, कांटा वगैरह **द्रव्य शल्य** है क्योंकि उससे शरीर में पीड़ा होती है एवं जो शल्य आत्मा को कंपित करे, आत्मा को पीड़ा दे, अस्थिर एवं अस्वस्थ बनाए वे अतिचार, दोष, पाप आदि **भाव शल्य** हैं ।

भाव शल्य के तीन प्रकार :

ये भाव शल्य मुख्य तीन विभाग में बांटे गये हैं ।

१. मिथ्यात्व शल्य : दोषों की दोष के रूप में पहचान ही न होने देना, मिथ्यात्व शल्य है । कभी प्रमादादि दोषों के कारण, कोई स्खलना हो गई हो या किसी अतिचार का आसेवन हो गया हो और योग्य गुरु की प्राप्ति होने के बाद उनके समझाने पर भी वे दोष दोषरूप न लगे और इस कारण से दोषों का प्रायश्चित्त करने का मन ही न हो, कई बार प्रायश्चित्त हो तो भी पाप के फल के भय से प्रायश्चित्त किया जाय, परन्तु पाप की खटक से या आत्मशुद्धि के लिए तो प्रायश्चित्त करने का मन ही न हो, ये सब विचार मिथ्यात्व शल्य हैं । इसके उपरांत गाढ अनंतानुबंधी कषाय के उदय के कारण जिनेश्वर के वचन पर श्रद्धा नहीं होने से, संसार की असारता का अनुभव किए बिना तपादि प्रायश्चित्त करे, तो वह प्रायश्चित्त मिथ्यात्व शल्य से युक्त कहलाता है ।

२. माया शल्य : माया शल्य याने चित्त की वक्रता या पाप करने के बाद पाप छिपाने का भाव । कई बार दोषों की दोषरूप से समझ भी होती है एवं गुरु के पास प्रायश्चित्त करने की इच्छा भी हो, तो भी चित्त की वक्रता के कारण 'मैं खराब लगूँगा', 'लज्जित होऊँगा' ऐसा भय भी होता है, इसलिए प्रायश्चित्त करने पर भी दोषों का यथार्थ कथन नहीं होता - यह

भी माया शल्य का प्रभाव है । अन्य के नाम से प्रायश्चित्त करना जैसे "किसी ने ऐसा किया हो तो क्या प्रायश्चित्त आता है ?" ऐसा कहकर प्रायश्चित्त ग्रहण करना, माया शल्य कहलाता है । ८० चोबीसी पहले हुए लक्ष्मणा साध्वी ने प्रभु के पास इसी तरीके से प्रायश्चित्त ग्रहण करके ५० वर्ष तक घोर तप किया । परन्तु ऐसा घोर तप करने के बाद भी माया शल्य के कारण वे आज तक संसार में भ्रमण कर रही हैं ।

३. निदान शल्य : प्रायश्चित्त के बदले में भौतिक सुख पाने की इच्छा निदान शल्य है । प्रायश्चित्त करने से पुण्य बंध होगा एवं उससे भवान्तर में दिव्य भोगों की प्राप्ति होगी और पापों के उदय से दुःख नहीं भुगतना पड़ेगा। इस तरह परलोक के सुख की इच्छा से प्रायश्चित्त करना, निदान शल्य युक्त प्रायश्चित्त कहलाता है । इसके अतिरिक्त अपराध होने के बाद 'मैं अपना अपराध गुरु से यथार्थ रूप से कहूँ, जिससे मुझ पर गुरु की विशेष कृपा हो' अथवा 'मैं प्रायश्चित्त करुँ, तो गुरु लोगों से कहेंगे कि ये महात्मा शुद्ध प्रायश्चित्त करनेवाले हैं।' ऐसे मानादि लौकिक सुख के आशय से प्रायश्चित्त करना भी निदान शल्य है ।

शरीर में कांटा (शल्य) लगा हो और उसे निकाले बिना कितनी भी मरहमपट्टी की जाए, तो वह मरहमपट्टी लाभप्रद नहीं होती एवं घाव भी नहीं भरता । उसी तरह आत्मा में यदि भाव शल्य रहा हो तो आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त या विशुद्धिकरण स्वरूप मरहम-पट्टी भी आत्मा के भाव रोगों का इलाज नहीं कर सकती । आलोचना-विंशिका में तो शल्य की अनर्थकारिता बताते हुए यहाँ तक कहा है कि, अगर भाव शल्यों का उद्धार (निकाल) न कर सके, तो घोर तपादि प्रायश्चित्त करने पर भी जीव दुर्लभ बोधि[4] बन सकता है एवं उसे अनंत संसारिता भी प्राप्त होती है । इसलिए कायोत्सर्ग से विशेष शुद्धि स्वरूप उत्तरीकरण करने की इच्छावाली

4. जं कुणइ भावसल्लं अणुद्धियं उत्तिमट्ठकालम्मि । दुल्लहबोहीयत्तं अणंतसंसारियत्तं च ।।
- विंशतिविंशिका-१५, गा. १५

आत्मा को दोषों का प्रायश्चित्तकरण एवं विशुद्धिकरण करने के लिए एक एक शल्य को आत्मा-निरीक्षण करके निकाल देना चाहिए ।

शल्य की खोज एवं दूर करने का उपाय :

मिथ्यात्व शल्य है कि नहीं, इसे जानने के लिए सोचना चाहिए कि 'क्या संसार एवं संसार के समस्त भाव असार हैं - अतत्त्व भूत हैं, ऐसा मुझे लगता है ? धर्म एवं धर्म का फलभूत मोक्ष ही सार है - वही तत्त्वभूत है, ऐसी तीव्र श्रद्धा मुझे है ? मुझे अनुकूलता के राग के प्रति तो राग नहीं है ? जिनेश्वर के किसी वचन के उपर मुझे अश्रद्धा या शंका तो नहीं है ? ऐसे प्रायश्चित्त के अलावा किसी और तरीके से मेरा पाप मिट जायेगा ऐसा, तो नहीं लगता है न ?

यदि इसमे से किसी का भी जवाब विपरीत आए तो समझना चाहिए कि मिथ्यात्व शल्य अंतर की गहराई में पड़ा है । अभी भी संसार के किसी भाव में सुखकारकता का भ्रम है । यदि मिथ्यात्व शल्य निर्मूल हो जाए, तो संसारवर्ती एक भी भाव सारभूत न लगे । एक भी वस्तु आदरणीय न लगे। संभव हो तो संसार का त्याग हो और यदि संभव न हो तो भी संसार में आसक्ति तो नहीं ही रहती । **मिथ्यात्व की उपस्थिति में ही राग के उपर राग होता है, बाकी तो राग विकृति लगता है एवं उसे निकालने का मन होता है ।**

इन शल्यों को निकालने के लिए शास्त्रों के आधार से संसार के वास्तविक स्वरूप का चिंतन करना चाहिए । सर्वज्ञ वीतराग की परम कृपा का अनुभव करना चाहिए । उन्होंने जो भाव-अहिंसा का मार्ग बताया है उससे ही मेरा कल्याण होगा । भगवान के वचन से विपरीत करने से ऐकांतिक मेरा अहित ही होगा । ऐसा बार बार याद करते हुए भगवान के वचन पर दृढ़ श्रद्धा करनी चाहिए । सच्ची श्रद्धा से ही मिथ्यात्व शल्य निकलेगा एवं रागादि के प्रत्येक भावों का वास्तविक स्वरूप समझ में आएगा ।

माया शल्य है कि नहीं इसकी खोज करने के लिए सोचना चाहिए कि धर्म के आचरण में कहीं भी माया या दंभ तो नहीं है न ? हमने जिन जिन पापों का सेवन किया है, उन पापों को जब गुरु के समक्ष कहने का प्रसंग आए, तब उसको उसी भाव से या क्रम से कह सकते हैं ? या फिर किसी प्रकार आगे-पीछे, कम-अधिक कहने का मन होता है ?

यदि जवाब हाँ में आए, तो समझना चाहिए कि माया शल्य अभी तक हृदय में डेरा-तंबू डालकर पड़ा है । मान, मायावी प्रकृति, स्त्री सहज स्वभाव, रागादि की तीव्रता, किए हुए पापों के प्रति लज्जा, किए हुए पापों को फिर से नहीं करना ऐसे सत्त्व का अभाव, लोभवृत्ति, पूर्व में हुई माया वगैरह माया शल्य का सेवन करवाए, वैसे भयंकर दोष हैं । इसलिए स्पष्ट माया न भी दीखती हो, या तो माया का निश्चय होते हुए भी उसका बचाव करने का मन होता हो तो समझना चाहिए कि अंतर में इनमें से कोई दोष बैठा हुआ है । इसके अलावा बहुधा जब गुरु अपने से महान हैं, ऐसी प्रतीति नहीं होती तब, या तो गुरु की योग्यता में ही शंका होती हो तब भी जीव माया करने के लिए प्रेरित होता है ।

इस शल्य को हटाने के लिए सर्वप्रथम तो यह शल्य कैसे उत्पन्न हुआ, उसकी छान-बीन करनी चाहिए । उसके बाद उसकी अनर्थकारिता का विचार करके सत्त्व गुण प्रगट करना चाहिए । बार बार दंभ से होनेवाले नुकसानों[5] के बारे में सोचना चाहिए एवं दंभ का त्याग करना चाहिए । इसके अतिरिक्त, संसार की निर्गुणता[6] का भी सतत विचार करना चाहिए, क्योंकि संसार की भयानकता उपस्थित होने पर ही माया का त्याग हो सकता है । ऐसे अनेक उपायों से माया शल्य को निकालकर पापों के प्रति जुगुप्सा के परिणाम पैदा करके जो पाप जिस तरीके से किए हों, उसी तरीके से गुरु के समक्ष निवेदन करने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए, जिससे अपनी हालत लक्ष्मणा साध्वी जैसी न हो जाए ।

5. अध्यात्मसार का दंभत्याग अधिकार इसके लिए उपयोगी है ।
6. अध्यात्मसार का भवस्वरूप चिंता अधिकार इसके लिए उपयोगी है ।

निदान शल्य है या नहीं उसे समझने के लिए सोचना चाहिए कि प्रायश्चित्त करने के पीछे मेरी कोई इस लोक या परलोक की भौतिक लालसा तो काम नहीं कर रही है ? आत्म शुद्धि की इच्छा से ही मैं प्रायश्चित्त करता हूँ न ? मेरी बुद्धि में महत्त्व किसका है - आत्मा की विशुद्धि का या पुण्य से मिलनेवाले भौतिक सुखों का ? प्रायश्चित्त करके किसी की प्रीति पाने या अन्य कोई सुख पाने का आशय तो नहीं है न ?

यदि जवाब में किसी आशंसा के भाव व्यक्त हों तो समझना चाहिए कि निदान शल्य अभी चित्त में आसन बिछाए बैठा है । जब तक संसार के किसी भी सुख की आशंसा होती है, तब तक निराशंस भाव से धर्म नहीं होता । इसलिए ऐसी सांसारिक आशंसा का सर्वप्रथम त्याग करना चाहिए।

इस शल्य को निकालने के लिए मन को समझाना चाहिए कि, अनंतकाल से हम संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं, उसका कारण यह नहीं है कि हमने प्रायश्चित्त आदि सत्क्रियाएँ योग्य तरीके से नहीं कीं । परन्तु इन सत्क्रियाओं का जो वास्तविक फल मोक्ष है, उसकी इच्छा के बदले हमने तुच्छ अपेक्षाओं को महत्त्व दिया ।

यह महाशल्य मोक्षमार्ग में एक अंतराय रूप है, जो आत्मा को उच्च चारित्र तक नहीं पहुँचने देता एवं भव-वन में घुमाता रहता है । इसलिए अव्यक्त रूप से भी इस शल्य का परिणाम चित्त में न रहे, इसके लिए प्रयत्न करना चाहिए जिससे विशुद्धि में रुकावट न आए एवं शुद्धि सदा बनी रहे । ऐसी चित्तवृत्ति बनाने के लिए दृढ़ संकल्प करना ही विसल्लीकरण है ।

इन चार पदों द्वारा कायोत्सर्ग के उपाय स्वरूप सूत्र का दूसरा विभाग संपन्न होता है ।

३. कायोत्सर्ग का प्रयोजन :

अब उत्तरीकरण के लिए कायोत्सर्ग में रहने का जो लक्ष्य निश्चित किया है, उसका मूल प्रयोजन दर्शाते हुए कहते हैं कि,

पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए : पापकर्मों का नाश करने के लिए ।

पापकर्मों का सम्पूर्ण नाश करने के लिए कायोत्सर्ग करना चाहिए । इस जगत् में कार्मण वर्गणा के पुद्गल समूह दबा-दबा कर भरे हुए हैं । आत्मा में जब राग-द्वेष की स्निग्धता (चिकनाइ) उत्पन्न होती है, तब वे कार्मण वर्गणा नामक पुद्गल समूह आत्मा से जुड़ते हैं । जीव के साथ संबंधित हुई इन कार्मण वर्गणाओं को कर्म कहते हैं । निश्चयनय से तो आत्मगुण के अवरोधक, आत्मा के शुद्ध स्वभाव को आवृत करनेवाले सब कर्मों को पापकर्म ही कहा जाता है । जब कि, व्यवहार नय दुःख देनेवाले कर्मों को ही पापकर्म मानता है । ऐसे पापकर्मों के निर्घातन के लिए इस सूत्र द्वारा कायोत्सर्ग करना है ।

निर्घातन अर्थात् सम्पूर्ण नाश करने के लिए । घात करने की क्रिया को घातन कहते हैं । पाप घातन की यह क्रिया जब उत्कृष्टता से होती हो अर्थात् दुबारा पाप होने की कोई संभावना बाकी न रहती हो, आत्मा की उस स्थिती को निर्घातन कहते है ।

इस तरह, ऊपर बताए चारों करण (अध्यवसाय) द्वारा आत्मा विशिष्ट कोटि का कायोत्सर्ग करने के लिए उद्यत होती है । इस कायोत्सर्ग का मुख्य कार्य पापकर्मों का सर्वथा नाश करना है । इस पद द्वारा कायोत्सर्ग के प्रयोजन स्वरूप सूत्र का तीसरा विभाग संपन्न होता है ।

४. कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा :

कायोत्सर्ग के लिए सभी तैयारी करने के बाद अब अंत में कायोत्सर्ग करने के लिए कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा लेनी है ।

ठामि काउस्सग्गं : मैं कायोत्सर्ग करता हूँ ।

ये दो पद कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा दर्शाते हैं । कायोत्सर्ग = काया का त्याग अर्थात् व्यापारवाली काया का त्याग अर्थात् काया की चेष्टाओं या

काया की ममता का त्याग समझना है और ठामि = तिष्ठामि के अनेक अर्थ होते हैं उसमें से यहाँ करेमि = करता हूँ ऐसा अर्थ ग्रहण करना है ।

जिसे पापकर्म एवं पापवासनाएँ त्रासदायी लगती हों, उसे उनके संपूर्ण नाश के लिए सावधान रहना चाहिए । इनके नाश के लिए कायोत्सर्ग अत्यन्त बलवान उपाय है । दोषों की परिपूर्ण शुद्धि के लिए मन-वचन-काया के दूसरे सब योगों की अपेक्षा कायोत्सर्ग श्रेष्ठ उपाय है । कायोत्सर्ग में चित्त तो अत्यंत स्थिरतावाला होता ही है, पर उसके अलावा वाणी एवं काया के व्यापार भी शांत हो जाते हैं । इसलिए ऐसी स्थिति में ही दोषों का चिंतन एवं बाद में उनकी शुद्धि की संभावना बनती है ।

दोषों से मलिन बनी हुई आत्मा को शुद्ध करने का उपाय कायोत्सर्ग नाम का प्रायश्चित्त है । उस कायोत्सर्ग के लिए चित्त को तैयार करने की प्रक्रिया इस सूत्र में समाविष्ट है । इसलिए साधक को इस सूत्र का उच्चारण करते हुए सोचना चाहिए,

"हे भगवंत ! कषायवश बनी मेरी आत्मा को मुझे शुद्ध करना है और उसके लिए ही मैं आपके द्वारा बताई हुई कायोत्सर्ग की क्रिया करने के लिए तैयार हुआ हूँ । आज मेरे मन में पाप की शुद्धि करने के अलावा इहलोक या परलोक के सुख की कोई इच्छा नहीं है। मैं जैसा हूँ वैसा ही आप के सामने प्रकट हुआ हूँ । न आप से कुछ छिपा है न मैं कुछ छिपाना चाहता हूँ । मुझसे बहुत सारी भूलें हुई हैं और अब भी बहुत सारी भूलें होती रहती हैं । आज मैंने आपको सरल भाव से सब कुछ बताया है। मुझे तो मात्र अपने कषाय, प्रमाद और अस्थिर मन के जिन कारणों से भूलें होती रहती हैं, उनसे छूटना है । आप कृपा करके मुझे उनसे मुक्त होने के लिए जो जरूरी हो वैसे तप-जप आदि प्रदान करें । मैं उसका पालन कर अपने हृदय का परिवर्तन करके एक ऐसी चित्तवृत्ति निष्पन्न करूँगा, जिससे जाने-अनजाने में भी वह पाप करने को प्रेरित न हो ।"

यहाँ ईरियावही सूत्र से शुरू हुई संपदाओं के क्रम के अनुसार **आठवीं प्रतिक्रमण संपदा** पूर्ण होती है ।

जिज्ञासा : अगर कायोत्सर्ग की क्रिया आत्मा में रही हुई अशुद्धि, शल्य या पाप से रहित होने के लिए करनी है, तो कायोत्सर्ग में उसके उपाय ही सोचने चाहिए, फिर लोगस्स आदि का चिंतन किसलिए ?

तृप्ति : कायोत्सर्ग पाप की शुद्धि आदि के लिए ही करना है और पाप की शुद्धि का भाव पाप से संपूर्णतया मुक्त २४ तीर्थंकरों के स्मरण से शीघ्र उत्पन्न हो सकता है । इसलिए कायोत्सर्ग में लोगस्स वगैरह का जाप करने की विधि है । लोगस्स द्वारा २४ तीर्थंकरों के नाम का स्मरण, कीर्तन इस तरीके से करना चाहिए कि जिससे उनके प्रति आदर हो, पाप से विरूद्ध शुद्ध भाव स्फूरित हों, एवं उसके फलस्वरूप अपने पापों का नाश हो तथा आत्मा शुद्ध बन सके । इसके अतिरिक्त तीर्थंकर के नाम का स्मरण ही स्वयं पाप का नाश करता है । लोगस्स सूत्र में भी भगवान से समाधि एवं मोक्ष ही माँगते हैं, और मोक्ष मिलने पर सब कर्मों का, पापों का, क्षय हो ही जाएगा ।

इस सूत्र का बोध यही है कि, हम से कोई भी भूल हो गई हो, तो उन भूलों का सरलता से स्वीकार करना चाहिए । सच्चे मन से उसकी निंदा करनी चाहिए । महर्षियों द्वारा बताए हुए प्रायश्चित्त का मार्ग ग्रहण करना चाहिए एवं दुबारा ऐसी भूल न हो उसके लिए चित्तवृत्तियों को अच्छी तरह से शुद्ध करके उनमें रहे हुए शल्य या दोष निकाल देने चाहिए । 'गुरुतत्त्व विनिश्चय' नामक ग्रंथ में कहा गया है कि, आज का समय तो ऐसा है कि पल-पल व्रत भंग एवं स्खलनाएँ होती ही रहती है; परन्तु जब तक प्रायश्चित्त द्वारा शुद्धि करने के अध्यवसाय स्वरूप व्रत के प्रति सापेक्षता है, तब तक व्रत के परिणाम स्वरूप संवर भाव भी हैं ।

अन्नत्थ - सूत्र

सूत्र परिचय :

इस सूत्र द्वारा कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा की जाती है । इसलिए इसका दूसरा नाम **'कायोत्सर्ग प्रतिज्ञा सूत्र'** है। इसके अलावा, कायोत्सर्ग में कितने आगार रखने हैं याने कितनी छूट रखनी है, वह भी इस सूत्र में बताया गया है । इसलिए इसे **'आगार सूत्र'** भी कहते हैं । कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा एक महान प्रतिज्ञा है । इसमें अनादि काल से जो काया अपनी नहीं है, उस काया को अपनी मानने का जो देहाध्यास (मिथ्या मान्यता) किया है, उसका त्याग करना है । वास्तविक रीति से विचार करें तो, 'मैं काया नहीं; परन्तु काया का प्रवर्तन करनेवाली अंदर रहनेवाली आत्मा हूँ; लेकिन मोह के अधीन होकर हम 'काया ही मैं हूँ' ऐसा मान बैठे हैं । काया संबंधी इस अपनेपन के भाव से मुक्त होना - यही इस प्रतिज्ञा का लक्ष्य है। जो काया की क्षणभङ्गुरता और अपनी शाश्वतता का स्वीकार हो तभी शक्य है ।

कायोत्सर्ग की इस प्रतिज्ञा द्वारा वैसे तो काया का त्याग किया जाता है; परन्तु यहाँ संपूर्ण काया का त्याग ऐसा अर्थ अपेक्षित नहीं है; क्योंकि संपूर्ण काया का त्याग तो मृत्यु होने पर ही संभवित है । यहाँ काया का त्याग याने काया की ममता या काया की अनुचित प्रवृत्तियों का त्याग करना है । इस कायोत्सर्ग को करते समय काया के उपर ममत्व से किए हुए स्वामित्व के

भाव को त्याग करने का प्रयत्न करना है । काया के लालन-पालन का विचार छोड़कर, उसके प्रति उदासीन वृत्ति को धारण करना चाहिए । इसलिए इस समय के दौरान चाहे कैसा भी उपसर्ग या परिषह आए तो भी उसे सहन कर लेना चाहिए । मन को शुभ ध्यान में रखने का प्रयत्न करना चाहिए ।

यह पूरा सूत्र निम्नलिखित चार भागों में बंटा हुआ है ।

१. कायोत्सर्ग के आगार २. कायोत्सर्ग का समय
३. कायोत्सर्ग का स्वरूप ४. कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा

१. 'अन्नत्थ ऊससिएणं से हुज्ज मे काउस्सग्गो' : तक के पदों में कायोत्सर्ग में दी जानेवाली छूट संबंधी कथन है । कायोत्सर्ग अर्थात् काया के व्यापार का सर्वथा त्याग । काया के व्यापार का सर्वथा त्याग संभव नहीं है क्योंकि श्वासोच्छ्वास, रक्त परिभ्रमण हलन-चलन आदि रूप कायिक क्रियाओं को रोका नहीं जा सकता । अगर रोका जाय तो बड़ा अनर्थ होने की संभावना होती है । इसलिए इस सूत्र द्वारा १२ + ४ = १६ आगार (छूट) रखे गये हैं । आगार रखने का मूल कारण यह है कि **"ताव कायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि"** इन शब्दों से स्थान, मौन एवं ध्यान से मैं काया को वोसिराता हूँ (काया का त्याग करता हूँ) ऐसी जो प्रतिज्ञा की जाती है, उस प्रतिज्ञा का पालन उपर्युक्त आगार के बिना संभव नहीं है। अगर ये आगार न रखे जाएँ, तो प्रतिज्ञा का भंग हो जाता है एवं प्रतिज्ञा के भंग से मृषावाद आदि अनेक दोष लगते हैं । इसीलिए कोई भी प्रतिज्ञा करने से पहले अपने संयोग एवं शक्ति का विचार कर लेना चाहिए तभी प्रतिज्ञा फलवती बनती है। इसीलिए यहाँ प्रतिज्ञा को सफल बनाने के लिए आगार बतलाए हैं ।

२. "जाव अरिहंताणं भगवंताणं नमुक्कारेणं न पारेमि ताव" इन शब्दों द्वारा इस सूत्र में कायोत्सर्ग की समय मर्यादा बताई गई है । 'जब तक अरिहंत भगवंत को नमस्कार करने स्वरूप 'नमो अरिहंताणं' पद न बोलूँ तब तक मैं कायोत्सर्ग में हूँ' ऐसा कहने द्वारा कायोत्सर्ग की मर्यादा निश्चित होती है । जब कायोत्सर्ग पारना हो (पूर्ण करना हो) तब 'नमो अरिहंताणं'

पद का प्रयोग करना जरूरी है, क्योंकि अपनी प्रतिज्ञा है कि, "जब तक अरिहंत भगवान को नमस्कार करने स्वरुप 'नमो अरिहंताणं' पद न बोलूँ, तब तक मैं कायोत्सर्ग में हूँ।" इसलिए ये शब्द बोले बिना कायोत्सर्ग पूरा किया जाए, तो दोष लगता है ।

३. इस सूत्र में कायोत्सर्ग किस तरीके से करना है, उसका स्वरूप **"ठाणेणं मोणेणं झाणेणं"** द्वारा बताया है । कायोत्सर्ग में मात्र काया का त्याग ही करना है, ऐसा नहीं है, परन्तु मन-वचन-काया इन तीनों योगों को स्थान द्वारा, मौन द्वारा एवं ध्यान द्वारा स्थिर करना है ।

४. अन्त में इस सूत्र में **'अप्पाणं कायं वोसिरामि'** शब्दों द्वारा कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा बताई गई है । इन शब्दों द्वारा हमें अपनी काया पर ममत्व का, स्वामित्व का एवं काया को ही 'मैं' मानने का जो भाव है; उसका त्याग करना है ।

इस सूत्र में जिस तरीके से कायोत्सर्ग करने को कहा गया है, उस तरीके से अगर **पूरे उपयोग से, बुद्धि की सतर्कता से, अत्यंत एकाग्रता से, धीरता-गंभीरता आदि से कायोत्सर्ग किया जाए, तो कायोत्सर्ग से बहुत से कर्म नाश हो जाते हैं** क्योंकि, कायोत्सर्ग सर्वश्रेष्ठ तप कहलाता है । बारह प्रकार के तप में एक से बढ़कर एक तप हैं लेकिन उन सब में बड़ा तप कायोत्सर्ग है । पूर्व के ११ तप के अभ्यासवाले साधक ही इस 'कायोत्सर्ग' तप में मन को स्थिर कर महाकर्मनिर्जरा कर सकते हैं ।

कायोत्सर्ग के दूसरे भी अनेक फायदे हैं[1] । काया की जड़ता का त्याग होता है । बुद्धि निर्मल होती है । सुख दुःख को सहन करने की शक्ति उत्पन्न होती है । मन-वचन-काया की चंचलता नष्ट होकर एकाग्रता प्राप्त होती है । स्थितप्रज्ञता प्राप्त होती है । पदार्थ को खूब गहराई से देखने की शक्ति बढ़ती है । शुभ ध्यान प्राप्त होता है । इसीलिए शास्त्रकारों ने कहा है, साधु **'अभिक्खणं काउस्सग्गकारी'** होता है अर्थात् साधु ऐसे गुणों को प्राप्त करने के लिए बार-बार कायोत्सर्ग करता है ।

1. देहमइजड्डसुद्धि सुहदुक्खतितिक्खया अणुप्पेहा ।
झायइ च सुहं झाणं एयग्गो काउस्सग्गमि ।। - आवश्य निर्युक्ति १४६२

मूल सूत्र :

अन्नत्थ
ऊससिएणं नीससिएणं
खासिएणं छीएणं जंभाइएणं
उड्डुएणं, वाय-निसग्गेणं, भमलीए पित्त-मुच्छाए ।।१।।
सुहुमेहिं अंग-संचालेहिं, सुहुमेहिं खेल-संचालेहिं,
सुहुमेहिं दिट्ठि-संचालेहिं ।।२।।
एवमाइएहिं आगारेहिं
अभग्गो अविराहिओ हुज्ज मे काउस्सग्गो ।।३।।
जाव अरिहंताणं भगवंताणं नमुक्कारेणं न पारेमि ।।४।।
ताव कायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि ।।५।।

पद-२८ संपदा-५ अक्षर-१४०

१. एक वचनांत आगार संपदा

अन्नत्थ-ऊससिएणं १, नीससिएणं २, खासिएणं ३, छीएणं ४, जंभाइएणं ५, उड्डुएणं ६, वाय-निसग्गेणं ७, भमलीए ८, पित्त-मुच्छाए ९. ।।१।।

२. बहु वचनांत आगार संपदा

सुहुमेहिं अंग-संचालेहिं १०, सुहुमेहिं खेल-संचालेहिं ११, सुहुमेहिं दिट्ठि-संचालेहिं १२. ।।२।।

३. आगंतुक आगार संपदा

एवमाइएहिं १३, आगारेहिं १४, अभग्गो १५, अविराहिओ १६, हुज्ज १७, मे काउस्सग्गो १८. ।।३।।

४. कायोत्सर्गविधि संपदा

जाव अरिहंताणं १९, भगवंताणं २०, नमुक्कारेणं २१, न पारेमि २२. ।।४।।

५. स्वरूप संपदा

ताव कायं २३, ठाणेणं २४, मोणेणं २५, झाणेणं २६, अप्पाणं २७, वोसिरामि २८. ।।५।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया एवं शब्दार्थ :

ऊससिएणं नीससिएणं

उच्छ्वसितेन निःश्वसितेन

ऊँचा श्वास लेने से, नीचा श्वास छोड़ने से

खासिएणं छीएणं जंभाइएणं

कासितेन क्षुतेन जृम्भितेन

खांसी आने से, छींक आने से, जँभाई आने से

उड्डुएणं वाय-निसग्गेणं भमलीए पित्त-मुच्छाए

उद्गारेण वात-निसर्गेण भ्रमर्या पित्त-मूर्च्छया

डकार आने से, वायु का संचार होने से, भमरी आने से (चक्कर आने से, या वायु दोष से) पित्त प्रकोप से हुई मूर्च्छा द्वारा

सुहुमेहिं अंगसंचालेहिं, सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं, सुहुमेहिं दिट्ठिसंचालेहिं

सूक्ष्मैः अङ्गसंचालैः, सूक्ष्मैः श्लेष्म-संचालैः, सूक्ष्मैः दृष्टि-संचालैः

सूक्ष्म अंग का संचालन होने से, सूक्ष्म तरीके से शरीर के अन्दर कफ तथा वायु का संचार होने से, सूक्ष्म तरीके से दृष्टि हिलने से

एवमाइएहिं आगारेहिं अन्नत्थ

एवम् आदिभिः आगारैः अन्यत्र

इत्यादि आगारों के अलावा

मे काउस्सग्गो अभग्गो अविराहिओ हुज्ज

मम कायोत्सर्गः अभग्नः अविराधितः भवतु ।

मेरा कायोत्सर्ग अभग्न एवं अविराधित होवे ।

जाव अरिहंताणं भगवंताणं नमुक्कारेणं न पारेमि ।

ताव अप्पाणं कायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं वोसिरामि ।।

यावद् अर्हतां भगवतां नमस्कारेण न पारयामि ।

तावत् आत्मीयं कायं स्थानेन मौनेन ध्यानेन व्युत्सृजामि ।।

जब तक अरिहंत भगवान को नमस्कार द्वारा (कायोत्सर्ग) पूरा न करूँ, तब तक मेरी काया को स्थान द्वारा, मौन द्वारा एवं ध्यान द्वारा वोसिराता हूँ।

विशेषार्थ :

अन्नत्थ : अन्यत्र, इसके अलावा;

यह नैपातिक पद है । जब किसी भी वस्तु का अपवाद करना हो अथवा उसे मुख्य वस्तु से अलग करना हो, तब इसका उपयोग होता है, जैसे कि - मैं तेरा काम रात-दिन करूंगा, निद्रा समय के अलावा । यह पद 'उससिएणं' से 'एवमाइएहिं आगारेहिं' तक सब पदों के साथ जोड़ना है । जैसे कि, उच्छ्वास के अलावा, निःश्वास के अलावा आदि ।

इस सूत्र में कहे गए आगारों का पांच विभागों में वर्गीकरण हो सकता है ।

१. सहज होनेवाले आगार २. आगंतुक अल्प निमित्त आगार

३. आगंतुक बहु निमित्त आगार ४. निश्चित होनेवाले सूक्ष्म आगार

५. बाह्य निमित्तों से होनेवाले आगार ।

१. सहज होनेवाले आगार :

ऊससिएणं नीससिएणं : ऊंची श्वास लेने से, नीची श्वास छोड़ने से ।

मुख या नासिका द्वारा अंदर ली जानेवाली श्वास, उच्छ्वास है एवं बाहर निकलनेवाली श्वास निःश्वास है । यह क्रिया सहज है । शरीर में जब तक प्राण हैं, तब तक यह क्रिया निरंतर चलती रहती है और यदि लंबे समय तक उसे रोकें तो मृत्यु होती है । प्राणायाम द्वारा थोड़ी देर के लिए यह क्रिया रोकी जा सकती है, किन्तु अधिक समय तक रोकने से प्राण निकल जाते हैं, इसलिए कायोत्सर्ग करते हुए उच्छ्वास एवं निःश्वास की छूट रखते हैं ।

इस पद का उच्चारण करते हुए साधक सोचता है कि,

'हे प्रभु ! कर्म के उदय से ऐसा शरीर मिला है कि एक क्षण भी श्वासोच्छ्वास की क्रिया किए बिना मैं नहीं रह सकता ।

अतः कायोत्सर्ग करते समय भी मुझे यह क्रिया करने की छूट रखनी पडती है । ऐसा दिन कब आयेगा, जब कायोत्सर्ग करके कर्म का नाशकर मैं शरीर का संग छोड़कर अशरीरी बनकर आत्मिक आनन्द की अनुभूति करूँगा ।'

२. आगंतुक अल्प निमित्त से होनेवाले आगार :

खासिएणं छीएणं जंभाइएणं : खांसी आने से, छींक आने से, जँभाई (उबासी) आने से ।

खांसी, छींक या उबासी वायु आदि की विषमता के कारण कभी कभार ही होते हैं। इसलिए ये अल्प निमित्ताधीन हैं और आगंतुक हैं । खांसी आना, अपनी इच्छा या प्रयत्न पर निर्भर नहीं है । जब अंदर से खांसी उत्पन्न होती है, तब उसे रोकना संभव नहीं है ऐसा ही छींकने के बारे में है। छींक भी आगंतुक है एवं हम उसे रोक नहीं सकते । शरीर में अल्प वायु का क्षोभ होने के कारण उबासी आती है । उसे रोकने से भी असमाधि होने की संभावना रहती है । इसलिए उसका भी अपवाद रखा है ।

इस पद का उच्चारण करते हुए साधक सोचता है,

'मैं श्वासोच्छ्वास को तो नहीं रोक सकता; पर धातु के साम्य को भी नहीं कर पाता, अतः ये सब विकार उत्पन्न होते हैं और मुझ से ऐसी चेष्टाएं हो जाती हैं । कब ऐसा दिन आयेगा कि मैं काया आदि की स्थिरता प्राप्त कर, आत्मभाव में लीन बनूँगा ।'

३. आगंतुक बहु निमित्त से उद्‌भव होनेवाले आगार :

उड्डुएणं वाय-निसग्गेणं भमलीए पित्त-मुच्छाए : डकार आने से, वायु का संचार होने से, चक्कर आने से, पित्त-प्रकोप से होनेवाली मूर्च्छा द्वारा,

डकार आना, वायु छूटना, भमरी-चक्कर आना या पित्त की अतिशयता से बेहोश (बेभान) हो जाना (मूर्च्छित हो जाना) - ये चारों क्रियाएँ वायु या पित्त के विशेष प्रकोप से होती हैं तथा बहु निमित्ताधीन हैं । इसलिए उन सबका समावेश अपवाद में किया गया है ।

कभी-कभी अपथ्य (हानिकारक) आहार-विहार, मानसिक आघात या किसी प्रकार के रोग से भी चक्कर आते हैं एवं वे इच्छा या प्रयत्न से नहीं रोके जा सकते और पित्त की अतिशयता के कारण एकाएक किसी भी समय चक्कर आने की संभावना बनी रहती है । वह भी अपने बस की बात नहीं, इसलिए उसका समावेश अपवाद में किया है ।

इन पदों का उच्चारण करते समय साधक सोचता है,

'सामान्य धातु के वैषम्य को रोकने का प्रयत्न करूँ तो भी वायु-पित्त के विशेष प्रकोप को मैं नहीं रोक पाता । इस कारण कायोत्सर्ग में भी डकार, चक्कर जैसी बहुत सी विकृत प्रवृत्तियाँ मुझ से हो जाती हैं। हे प्रभु ! कब ऐसा सत्त्व प्रकट होगा, कब मैं शरीर की लाचारी से मुक्त होकर आत्मभाव में लीन रहूँगा ।'

५. निश्चित होनेवाले सूक्ष्म आगार :

सुहुमेहिं अंगसंचालेहिं : अंग का सूक्ष्म संचालन होने से ।

शरीर के अंगों का सूक्ष्म स्फुरण, आंख की पलकों का झपकना-पटपटाना, गाल का फड़कना, हाथ पैर के स्नायुओं का हिलना, रोंगटे खड़े होना आदि क्रियाएँ अपनी इच्छा या प्रयत्न के अधीन न होकर शरीर में कभी भी हो सकती हैं । इसलिए उसका समावेश भी अपवाद में किया गया है ।

सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं : सूक्ष्म रीति से शरीर के अंदर कफ तथा वायु का संचार होने से ।

कफ तथा वायु की सूक्ष्म संचार क्रिया शरीर में निरंतर चलती रहती है। काया का यह सूक्ष्म व्यापार अपने हाथ में नहीं, इसलिए अपवाद में गिना जाता है ।

सुहुमेहिं दिट्ठिसंचालेहिं : सूक्ष्म रीति से दृष्टि हिलाने से ।

आंख का झपकना-मटकना (हिलना), सूक्ष्म तरीके से दृष्टि का घूमना, आंख का फड़कना - ये सहज क्रियाएँ हैं । इसलिए इन्हें अपवाद में गिनते हैं।

वैसे देखें तो कायोत्सर्ग में दृष्टि को किसी भी चेतन या अचेतन वस्तु पर स्थिर करनी होती है; परन्तु संभव है कि कई बार दृष्टि हिल जाए क्योंकि मन की तरह उसे भी स्थिर रखना दुष्कर है । यद्यपि महासत्त्वशाली पुरुष तो यह कर पाते हैं, परन्तु सामान्य आत्माओं के लिए यह पूरी तरह संभव नहीं होने से अपवाद में गिना जाता है ।

ये तीनों क्रियाएँ नियम से होती हैं, आगे के तीन प्रकार के आगार सहजता से होनेवाले थे, परन्तु उन्हें थोड़े समय के लिए रोकना संभव था, जब कि ये तीन प्रकार के सूक्ष्म संचार को रोकने के लिए अपना प्रयत्न काम नहीं करता । ये अवश्य ही होती हैं, इसलिए इस सूत्र में उनकी छूट रखी है।

इस पद का उच्चारण करते हुए सोचना चाहिए,

"भगवंत ! मैं सब कुछ रोकने का प्रयत्न करूँ, तो भी ये सूक्ष्म क्रियाएँ रोकना मेरे बस में नहीं है। इसलिए इन क्रियाओँ की छूट रखकर कायोत्सर्ग करता हूँ ।"

५. बाह्य निमित्त से उद्‌भव आगार :

एवामाइएहिं आगारेहिं : ये या इसके अलावा अन्य आगारों द्वारा...

श्वास लेने की क्रिया से लेकर यहाँ तक बारह आगार (छूट) बताए हैं, इनके अलावा इस पद से अन्य चार आगार बताए हैं । ये बाह्य निमित्त से उत्पन्न होते हैं ।

जो लोग कर्मों का नाश करने के लिए श्मशान, शून्यगृह या जंगल में जाकर काया का व्युत्सर्जन (त्याग) करते हैं याने कि कायोत्सर्ग का आश्रय लेते हैं, उनके लिए अधिकतर विचित्र एवं विकट संयोग पैदा होने की संभावना होती है, तब अगर ऐसा लगे कि इन संयोगो में समाधि नहीं टिक पाएगी तो निम्नोक्त चार प्रकार के अपवाद रख सकते हैं ।

१. अग्नि : कायोत्सर्ग करने के लिए मुमुक्षु आत्मा जहाँ स्थिर होता है, उस स्थान में यदि आग लग जाए, तो उस समय कायोत्सर्ग होने के बावजूद वह वहाँ से हट सकता है । वहाँ से हटकर, अन्यत्र सुरक्षित स्थान पर जाकर बाकी रहा काउस्सग्ग पूर्ण कर सकता है अथवा कभी अग्नि के अंगारे शरीर पर पड़ते हों तो भी हटा जा सकता है, कभी हटते हुए भी अंगारे पड़ते हों तो कंबल ओढ़ सकता है या बैठ भी सकता है एवं अधूरा कायोत्सर्ग वही से शुरु करके पूरा कर सकता है ।

यहाँ यह ख्याल में रखना है कि तब 'नमो अरिहंताणं' बोलकर कायोत्सर्ग नहीं पारना है क्योंकि, कायोत्सर्ग का प्रमाण पूर्ण हो तब 'नमो अरिहंताणं' बोलकर पारने से प्रतिज्ञा पूरी होती है, नहीं तो अधूरी रहती है।

२. पंचेन्द्रिय संबंधी : कायोत्सर्ग करनेवाले साधक की नजर के सामने अगर किसी पंचेन्द्रिय जीव की हत्या होती हो, तो वहाँ खड़े रहने से दया के परिणामों को धक्का लगने की संभावना रहती है । इस तरह परिणाम की धृष्टता न हो, इसलिए चालू कायोत्सर्ग में ही अन्यत्र चले जाए अथवा कायोत्सर्ग चालू हो तब पंचेन्द्रिय जीव की आड पड़ने की संभावना दिखती हो तो तुरंत स्थापनाचार्यजी के बिलकुल पास जाकर खड़े रहकर अधूरा कायोत्सर्ग वही से ही शुरू करके पूर्ण कर सकते हैं ।

३. चोर या राज-भय : कायोत्सर्ग में रहे हुए व्यक्ति को राजा या चोर से किसी भी प्रकार का भय या प्राणांत कष्ट आने की संभावना हो, तो वह वहाँ से हट सकता है । इस हालत में हटने पर भी कायोत्सर्ग भंग नहीं होता क्योंकि कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा इस आगार सहित ही स्वीकार की जाती है।

४. सर्पदंश : सर्प वगैरह पशुओं का प्राण घातक दंश लगने पर कभी असमाधि या मृत्यु हो; तो उसके निवारण के लिए हट जाने का आगार दिया गया है ।

ये चार आगार अकस्मात् बननेवाले हैं । इसलिए ये आकस्मिक विभाग में आते हैं । जबकि पूर्व में बताए गए १२ आगार काया को ध्यान में रखकर रखे गए हैं। इसलिए वे कायिक विभाग में आते हैं ।

जिज्ञासा : किसी भी प्रतिज्ञा में छूट रखना कहाँ तक उचित है ? सत्त्वशाली निरपवाद प्रतिज्ञा का पालन करनेवाले होते हैं । निरपवाद प्रतिज्ञा से ही प्रतिज्ञा परखी जाती है एवं परखने के समय सात्त्विक पुरुष उस परीक्षा को पास कर सकते हैं । तो फिर इस कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा में इतनी सारी छूट किसलिए ?

तृप्ति : सात्त्विक पुरुष भी विवेकपूर्ण प्रवृत्ति करे, तो ही आत्महित होता है । विवेक-शून्य प्रवृत्ति कभी सफल नहीं हो सकती । जो कार्य संभव नहीं हो, जिसके करने से अकाल मृत्यु की संभावना हो, असमाधि की समस्या हो और जिससे परलोक की परंपरा बिगड़ने की संभावना हो, ऐसे कार्य को विवेकी पुरुष सामने से कभी स्वीकार नहीं करते । इसलिए, सात्त्विक पुरुष भी अपने शरीर आदि का विचार करके प्रतिज्ञा करते हैं जिससे वे पूर्ण फल प्राप्त कर सकते हैं ।

विवेक शून्य प्रतिज्ञा मृत्यु का कारण भी बन सकती है । जैनशासन में अविधि से हुई मृत्यु इष्ट नहीं मानी गई है ।

अभग्गो अविराहिओ हुज्ज मे काउस्सग्गो : इन १६ आगारों के अलावा मेरा काउस्सग्ग अभग्न, अविराधित बने ।

कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा करने से पहले उपरोक्त १६ आगार रखे जाते हैं, पर उसके अलावा काउस्सग्ग अभग्न तथा अखंडित हो ऐसी प्रार्थना साधक करता

है । घड़ा संपूर्णतया टूट जाए तब भग्न हुआ कहा जाता है; परन्तु यदि उसका गला वगैरह एक छोटा सा अंश ही टूट जाए, तो वह घड़ा खंडित हुआ माना जाता है । इस तरीके से कायोत्सर्ग तोड़ना अर्थात् कायोत्सर्ग की मर्यादा के बाहर की प्रवृत्ति कायोत्सर्ग में करना जैसे कि, कौन आया ? कौन गया ? उसको देखने के लिए दृष्टि लगानी, कौन क्या बात करता है उसको सुनने के लिए ध्यान देना । ऐसी कायोत्सर्ग की मर्यादा विहीन प्रवृत्ति से रुकने का प्रयत्न भी न करना इत्यादि से कायोत्सर्ग भग्न माना जाता है । परन्तु अगर कभी किसी साधक को अनादिकाल के बुरे संस्कारों के कारण या अचानक कोई आए तो दीख जाए, कोई बोलें तो कान खुल जाए, परन्तु उसको तुरंत ही उसमें से मन एवं इन्द्रियों को पीछे खींचने की इच्छा हो और तुरंत ही वह वहाँ से अपने मन या इन्द्रियों को पीछे खींच ले, तो ऐसे सापेक्ष साधक का कायोत्सर्ग कभी विपरीत प्रवृत्तिवाला हो, तो भी विराधित गिना जाता है, पर भग्न नहीं माना जाता । संक्षेप में, कायोत्सर्ग की मर्यादा से निरपेक्ष प्रवृत्ति भग्नता है एवं कायोत्सर्ग सापेक्ष होनेवाले अतिचार विराधना है।

कायोत्सर्ग का भंग या उसकी विराधना कायोत्सर्ग के पूर्णफल से साधक को वंचित रखती है । ऐसी विराधना इत्यादि कायोत्सर्ग द्वारा मन की स्थिरता प्राप्त करने में या अंतर्मुख बनने में अवरोधक बनती है । इसलिए एसा अनिष्ट न हो जाए, उसकी साधक को चिंता रहती है । अतः यह पद बोलते हुए वह अतीव सावधान बन जाता है ।

इन पदों का उच्चारण करते हुए साधक सोचता है,

'प्रभु ! काया की ममता को तोडकर, कर्मक्षय के लिए ही मैंने कायोत्सर्ग धर्म अपनाया है । यह मेरा लक्ष्य तभी सफल होगा जब कायोत्सर्ग का भंग या विराधना न हो । यह तभी सम्भव है जब पूर्ण उपयोग सहित, सत्त्व एवं समझ के साथ कायोत्सर्ग किया जाए, अतः हे प्रभु ! मुझे शुद्ध कायोत्सर्ग करने की शक्ति दीजिए ।'

जाव अरिहंताणं भगवंताणं नमुक्कारेणं न पारेमि : जब तक "नमो अरिहंताणं" पद बोलकर कायोत्सर्ग न पारुँ ।

इन शब्दों द्वारा साधक वह कायोत्सर्ग में कब तब रहेगा, उस मर्यादा को बताता है । जब कायोत्सर्ग पारना हो तब 'नमो अरिहंताणं' पद का प्रयोग करके वह कायोत्सर्ग को पूर्ण करता है । क्योंकि उसकी प्रतिज्ञा है कि, जब तक मैं अरिहंत भगवान को नमस्कार करके कायोत्सर्ग न पारु तब तक मैं अपनी काया को वोसिराता हूँ ।

प्रतिज्ञा में अरिहंत भगवंत को नमस्कार द्वारा कायोत्सर्ग पारने की बात है । इसलिए 'नमो अरिहंताणं' बोलकर ही कायोत्सर्ग पारना चाहिए । "नमो अरिहंताणं" बोलते समय नजर के सामने अष्ट प्रातिहार्य युक्त अरिहंत भगवान हैं एवं मैं उनको नमन करता हूँ, ऐसा भाव उत्पन्न करना है, पूर्वाचार्यों की परंपरा से 'नमुक्कारेणं' पद से 'नमो अरिहंताणं' बोलने की ही परम्परा है, इसलिए मनचाहे तरीके से नमस्कार कर पूर्वाचार्यों की इस परंपरा को नहीं तोड़ना चाहिए । इस "नमो अरिहंताणं" को दूसरी भाषा में बोलने पर भी दोष लगता है क्योंकि यह मंत्राक्षर है एवं मंत्राक्षर के पदों के बदले उनके अर्थवाले दूसरे पद बोलने से फल प्राप्त नहीं होता ।

ताव कायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि : तब तक काया को कायोत्सर्ग की मुद्रा द्वारा, वाणी को मौन द्वारा एवं मन को ध्यान में स्थिर करने द्वारा अशुभ योगवाली अपनी काया का मैं अत्यंत त्याग करता हूँ।

"वोसिरामि" शब्द में **वि + उत् + सृज्** धातु का उपयोग है जो छोड़ने या त्याग करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है । वैसे तो **उत् + सृज्** धातु का अर्थ भी त्याग करना ही है, ऐसा होते हुए भी यहाँ **वि + उत् + सृज्** धातु का उपयोग किया है क्योंकि, कायोत्सर्ग करते समय अशुभ योगवाली काया का आत्यंतिक त्याग अपेक्षित है । जिस त्याग के बाद काया फिर से ऐसे अशुभ योग में न प्रवर्त्ते, ऐसे दृढ़ संकल्पवाले त्याग को व्युत्सर्ग माना गया है ।

यहाँ मन-वचन-काया के योग का सर्वथा त्याग नहीं करना है; परन्तु अशुभ स्थान में प्रवृत्त इन तीनों योगों को रोककर शुभ स्थान में यत्नपूर्वक लगाना है । शुभ स्थान में प्रवर्तन भी इसलिए करना है कि, धीरे-धीरे इस क्रिया द्वारा आत्मा बाह्य भावों से संपूर्ण निवृत्त होकर आत्मभाव में स्थिरता प्राप्त करें ।

कायोत्सर्ग में काया को अन्य प्रवृत्ति से रोककर पर्यंकासन या पद्मासन स्वरूप स्थिर मुद्रा में रखना है । इस निश्चित की हुई मुद्रा के अलावा काया की हलन-चलनरूप प्रवृत्ति का त्याग करना है । कायिक चेष्टा के साथ मन का नजदीकी संबंध होने से इस प्रकार काया को स्थिर करने से मन का विक्षेप शांत होता है एवं अव्याक्षिप्त मन परमात्मा के ध्यान में एकाग्र बनता है । इसलिए काउस्सग्गं में कायिक चेष्टा का त्याग करना है ।

वाणी को मौन द्वारा स्थिर करना है । कायोत्सर्ग काल में किसी भी प्रकार की वाणी का व्यापार नहीं करना है, क्योंकि वचन प्रयोग का भी मन के साथ गहरा संबंध है । इसलिए मन को स्थिर करने के लिए मौन की भी आवश्यकता है ।

इसके अतिरिक्त, मन को किसी निश्चित ध्यान में स्थिर करके, उसे चारों ओर जाने से रोकना है अर्थात् कायोत्सर्ग के समय मन में लोगस्स या नवकार मंत्र का ध्यान अथवा कोई भी सूत्र का स्वाध्याय, मंत्र-जाप, भावनाएँ, अरिहंतादि उत्तम पुरुषों की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का भावन, किसी भी पदार्थ विषयक अनुप्रेक्षा, तत्त्व चिंतन, १२ भावनाओं पर अनुप्रेक्षा आदि सब कर सकते हैं । ऐसा होने पर भी प्रतिक्रमणादि क्रिया में लोगस्स वगैरह का जो कायोत्सर्ग करने का कहा गया है, वही करना योग्य है।

संक्षेप में, कायोत्सर्ग में मन-वचन एवं काया को इस तरीके से प्रवृत्त करना चाहिए कि जिसके कारण देहाध्यास टले, इन्द्रियों की चंचलता कम हो जाए, कषायों की वृत्ति क्षीण हो जाए एवं राग-द्वेष का बल खूब कम हो जाए ।

इस गाथा का उच्चारण करते वक्त साधक सोचता है कि,

"हे भगवंत ! जब तक 'नमो अरिहंताण' बोलकर मैं अनंत अरिहंत भगवंतों के स्वरूप को उपस्थित कर भाव से उनको नमस्कार न करूँ, तब तक मैं कायोत्सर्ग में रहने की प्रतिज्ञा करता हूँ । उस दरम्यान काया की जडता का त्याग करने के लिए उसे जिनमुद्रा, पद्मासन, पर्यंकासन आदि किसी मुद्रा में स्थिर करूँगा । इसके अलावा काया से कोई भी हलन-चलन न हो इसका मैं ख्याल रखूँगा । वाणी को मौन धारण करके स्थिर करूँगा । मन को परमात्मा के ध्यान में शुभचिंतन आदि में स्थिर करूँगा । इस तरह मन-वचन-काया को स्थिर करके अन्य सभी प्रवृत्तियों का हे भगवंत ! आपकी साक्षी में विशेष प्रकार से त्याग करता हूँ ।"

जिज्ञासा : 'ठामि काउस्सग्गं' कहकर 'तस्स उत्तरी' सूत्र में ही बताया था कि, 'मैं कायोत्सर्ग में रहता हूँ' परन्तु वहाँ कायोत्सर्ग न करते हुए यह सूत्र बोलकर ही कायोत्सर्ग क्यों किया जाता है ?

तृप्ति : 'तस्स उत्तरी' सूत्र बोलकर तुरंत कायोत्सर्ग करना था, परन्तु जरूरी छूट लिए बिना कायोत्सर्ग करना संभव नहीं था । इसलिए आगारों को दर्शाने के लिए अन्नत्थ सूत्र बोला जाता है ।

जिज्ञासा : वास्तव में कायोत्सर्ग करने का अधिकारी कौन है ?

तृप्ति : कायोत्सर्ग गुप्ति के परिणाम स्वरूप है । गुप्ति का परिणाम विरती से आता है। इसलिए वास्तव में कायोत्सर्ग का अधिकारी पाँचवें-छट्ठे गुणस्थानक पर स्थित साधक ही है । उसके सिवाय अधोवर्ती आत्मा के लिए तो यह क्रिया कायोत्सर्ग के अभ्यासरूप ही होती है ।

लोगस्स सूत्र

सूत्र परिचय :

लोगस्स सूत्र में मुख्यतया भरतक्षेत्र के इस अवसर्पिणी कालीन चौबीस तीर्थंकरों की स्तवना की गई है, इसलिए इसे **'चतुर्विंशति स्तव सूत्र'** भी कहा जाता है । ऋषभादि चौबीस तीर्थंकरों ने इस काल में तीर्थ की स्थापना करके हमारे ऊपर महान उपकार किया है, इसलिए वे अपने आसन्न (समीप होने से विशेष) उपकारी हैं । इस सूत्र में नामोल्लेखपूर्वक उनका कीर्तन किया गया है, इसलिए इस सूत्र को **'नामस्तव सूत्र'** भी कहा जाता है ।

अरिहंत के अनंतज्ञानादि गुणों की स्मृति होने पर, जब अरिहंत परमात्मा के प्रति हृदय में अहोभाव और आदरभाव प्रकट होता है, अगर इस आदर के साथ अरिहंत का नाम स्मरण किया जाए, उनकी मूर्ति की पूजा की जाए अथवा परमात्मा की भिन्न-भिन्न अवस्था की भक्ति की जाए, तो उस नाम-स्मरणादि से पुण्यबंध और कर्मनिर्जरा होती है । ऐसा नामस्मरणादि परंपरा से परमपद की प्राप्ति का कारण बनता है ।

इस सूत्र में अरिहंत का नाम स्मरण करने से पहले, प्रथम गाथा में 'भाव तीर्थंकर' का स्वरूप बताया गया है । भावजिन[1] का चिंतन करते ही

1. जैन दर्शन में किसी भी पदार्थ को स्पष्ट रीति से समझने के लिए चार निक्षेपों का वर्णन जरूरी है । विश्व की प्रत्येक चीज के कम से कम चार निक्षेप होते हैं : **नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव ।** 'जिन' के भी चार निक्षेप होते हैं - **नामजिन, स्थापनाजिन, द्रव्यजिन एवं भावजिन** । जिनेश्वर के नाम को नामजिन कहा जाता है, जिनेश्वर की मूर्ति को स्थापनाजिन

अरिहंत के गुण और उनके किए हुए उपकारों की स्मृति ताजी होती है और उससे अपना चित्त अरिहंत परमात्मा के प्रति अहोभाव से भर जाता है। इस अहोभाव से अरिहंत का नाम स्मरण करने के लिए दूसरी, तीसरी और चौथी गाथा में भरत क्षेत्र में हो चुके इस अवसर्पिणी के चौबीस तीर्थंकरों की नामपूर्वक स्तवना की गई है और अंतिम तीन गाथाओं में भिन्न-भिन्न प्रकार से स्तुति करने के साथ साधना करने के लिए अत्यंत उपयोगी आरोग्य, बोधि और समाधि की याचना की गई है और अंत में साधना द्वारा जो प्राप्त करना है, ऐसी सिद्धि की याचना की गई है।

नवकार की तरह लोगस्स सूत्र भी एक मंत्र स्वरूप है । इसीलिए लोगस्स सूत्र के जाप द्वारा बहुत से उपसर्गों - विघ्नों का नाश हो सकता है । उसका रटन, स्मरण और ध्यान विशेष फलदायी है ।

सामायिक, प्रतिक्रमण, देववंदन आदि में लोगस्स सूत्र का उपयोग बार-बार होता है, परन्तु विशेषतः इस सूत्र का उपयोग कायोत्सर्ग में होता है। विघ्नों के निवारण के लिए, कर्मक्षय के लिए, ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति के लिए, अरिहंतादि पदों की विशेष आराधना के लिए एवं अनेकविध हेतुओं से इस सूत्र द्वारा कायोत्सर्ग किया जाता है । जिस की ईच्छा हो, उस की प्राप्ति के लिए प्रणिधान पूर्वक, एक संकल्प किया जाता है; जैसे कि इस कार्योत्सर्ग से मेरे कर्मों का क्षय हो, विघ्न शांत हो, मुझे गुणों की प्राप्ति हो इत्यादि ।

साधक जब ऐसे प्रणिधानपूर्वक कायोत्सर्ग में लोगस्स सूत्र बोलता है, तब लोगस्स के एक-एक शब्द के ऊपर विशेष उपयोगवाला बनता है । **चौबीस तीर्थंकरों के नाम अर्थ से वीतराग किस प्रकार बना जाता है,** वह बतातें हैं। जिससे विशिष्ट नाम से पहचाने जाते अरिहंतादि पर ध्यान ज्यादा केंद्रित

कहा जाता है, जिन की पूर्व या पश्चात् की अवस्था को द्रव्यजिन कहा जाता है और केवलज्ञान प्राप्त कर, समवसरण में बैठकर देशना देनेवाले सर्वगुणसंपन्न तीर्थंकर को भावजिन कहा जाता है ।

होता है । दृढ़ प्रयत्न से कार्योत्सर्ग करनेवाले साधक ऋषभादि तीर्थंकरों के साथ तादात्म्य भाव को सिद्ध कर सकते हैं अर्थात् एकाग्रता-पूर्वक ऋषभादि जिनेश्वरों का नाम स्मरण करते-करते उन जिनेश्वरों संबंधी मानसिक उपयोगवाले बन सकते हैं । अरिहंत के साथ बने हुए ऐसे तादात्म्य भाव को शास्त्रीय परिभाषा में 'समापत्ति' कहते हैं । यह 'समापत्ति' सभी इष्ट को सिद्ध करने में समर्थ होती है ।

शास्त्र में समापत्ति, आपत्ति और संपत्ति का एक सुंदर क्रम दिखाया है। जिस ध्यान द्वारा साधक वीतराग के साथ तादात्म्य प्राप्त कर सके अर्थात् आत्मा वीतराग भाव का अनुभव कर सके उस ध्यान को **'समापत्ति'** कहते है। समापत्ति से विशिष्ट कर्मनिर्जरा होती है और तीर्थंकरनामकर्म जैसे उत्कृष्ट पुण्य का बंध होता है, जिसे **'आपत्ति'** = प्राप्ति कहते हैं। उसके पश्चात्, जब तीर्थंकरनामकर्म का उदय चालू होता है तब अष्ट महाप्रातिहार्यरूप जगत् की सर्वश्रेष्ठ संपत्ति प्राप्त होती है, जिसे **'संपत्ति'** कहते हैं। इस तरह प्रभुध्यान साधक को प्रभु ही बना देता है तो दूसरी संपत्तिओं का तो क्या कहना ?

कार्योत्सर्ग में जैसे मुख्यतया लोगस्स का चिंतन किया जाता है, वैसे कायोत्सर्ग पारने के बाद जिस प्रणिधानपूर्वक या जिस आशय से कायोत्सर्ग शुरु किया था, उसी आशय की सिद्धि का आनंद भी प्रकटरूप से यही सूत्र बोलकर प्रदर्शित किया जाता है ।

जैसे भोगी पुरुषों के लिए आनंद व्यक्त करने का साधन भोग के साधन या भोगी व्यक्ति हैं, वैसे मोक्षमार्ग के पथिकों के लिए आनंद व्यक्त करने का साधन, योगी पुरूष अथवा योग के साधन हैं । इस जगत् में गुणवैभव से युक्त व्यक्तित्व, औचित्यपूर्ण जीवन व्यवहार और परोपकार की पराकाष्ठा, तीर्थंकर के सिवाय किसी में भी दृष्टिगोचर नहीं होती, इसीलिए योगी पुरुष आनंद के समय विशेष प्रकार से अरिहंतों को याद करते हैं । इस प्रकार साधक भी कायोत्सर्ग से अपने कर्मों का नाश हुआ है और उससे खुद को गुण की प्राप्ति हुई है उसका आनंद व्यक्त करनें के लिए

कायोत्सर्ग पारने के बाद तीर्थंकरों के नामनिक्षेप की भक्ति करने के लिए लोगस्स बोलते हैं ।

साधु और श्रावक को करने योग्य छ आवश्यक में दूसरा आवश्यक 'चउवीसत्थो' है । 'चउवीसत्थो' अर्थात् चौबीस भगवान की स्तवना। यह चउवीसत्थो आवश्यक भी लोगस्स सूत्र द्वारा संपन्न होता है । इस सूत्र का विशेषार्थ आवश्यक निर्युक्ति, ललित विस्तरा, योगशास्त्र, धर्मसंग्रह, चैत्यवंदन भाष्य इत्यादि ग्रंथों में है । हमने मुख्यतया ललित विस्तरा से यहाँ विशेषार्थ लिया है ।

मूल सूत्र :

लोगस्स उज्जोअगरे, धम्मतित्थयरे जिणे ।
अरिहंते कित्तइस्सं, चउवीसंपि केवली ।।१।।
उसभमजिअं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च ।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ।।२।।
सुविहिं च पुप्फदंतं, सीअल-सिज्जंस-वासुपुज्जं च ।
विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि ।।३।।
कुंथुं अरं च मल्लिं, वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च ।
वंदामि रिट्ठनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च ।।४।।
एवं मए अभिथुआ, विहुय-रय-मला पहीण-जर-मरणा ।
चउवीसंपि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु ।।५।।
कित्तिय-वंदिय-महिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा ।
आरुग्ग-बोहि-लाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु ।।६।।
चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा ।
सागरवरगंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ।।७।।

पद-२८ संपदा-२८ अक्षर-२५६

लोगस्स उज्जोअगरे १, धम्मतित्थयरे जिणे २ ।
अरिहंते कित्तइस्सं ३, चउवीसंपि केवली ४ ।।१।।
उसभमजिअं च वंदे ५, संभवमभिणंदणं च सुमइं च ६।
पउमप्पहं सुपासं ७, जिणं च चंदप्पहं वंदे ८।।२।।
सुविहिं च पुप्फदंतं ९, सीअल-सिज्जंस-वासुपुज्जं च १० ।
विमलमणंतं च जिणं ११, धम्मं संतिं च वंदामि १२ ।।३।।
कुंथुं अरं च मल्लिं १३, वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च १४ ।
वंदामि रिट्ठनेमिं १५, पासं तह वद्धमाणं च १६ ।।४।।
एवं मए अभिथुआ १७, विहुय-रय-मला पहीण-जर-मरणा १८ ।
चउवीसंपि जिणवरा १९, तित्थयरा मे पसीयंतु २०।।५।।
कित्तिय-वंदिय-महिया २१, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा २२।
आरुग्ग-बोहि-लाभं २३, समाहिवरमुत्तमं दिंतु २४।।६।।
चंदेसु निम्मलयरा २५, आइच्चेसु अहियं पयासयरा २६ ।
सागरवरगंभीरा २७, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु २८।।७।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया और शब्दार्थ :

लोगस्स उज्जोअगरे, धम्मतित्थयरे जिणे,

लोकस्य उद्योतकरान्, धर्मतीर्थकरान् जिनान्

लोक को उद्योत करनेवाले, धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करनेवाले, राग-द्वेष को जीतनेवाले

केवली चउवीसंपि अरिहंते कित्तइस्सं, ।। १ ।।

केवलिनः चतुर्विंशतिम् अपि अर्हतः कीर्तयिष्यामि ।। १ ।।

केवलज्ञानी चौबीसों भी अरिहंतों का मैं कीर्तन करूँगा ।।१।।

उसभमजिअं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च,

ऋषभं अजितं, च सम्भवं अभिनन्दनं च सुमतिं च वन्दे ।

ऋषभदेव और अजितनाथ को, संभवनाथ को, अभिनंदन स्वामी को और सुमतिनाथ को मैं वंदन करता हूँ ।

पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ।।२।।

पद्मप्रभं सुपार्श्वं च चन्द्रप्रभं जिनं वन्दे ।। २ ।।

पद्मप्रभ, सुपार्श्वनाथ और चन्द्रप्रभ जिन को मैं वंदन करता हूँ।।२।।

सुविहिं च पुप्फदंतं, सीअल-सिज्जंस-वासुपुज्जं च,

सुविधिं पुष्पदन्तं च शीतल-श्रेयांस वासुपूज्यान् च

जिनका दूसरा नाम पुष्पदंत है ऐसे सुविधिनाथ को, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ और वासुपूज्यस्वामी को,

विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि ।।३।।

विमलमनन्तं च जिनं धर्मं च शान्तिं वन्दे ।। ३ ।।

विमलनाथ और अनंतजिन को, धर्मनाथ को और शांतिनाथ को मैं वंदन करता हूँ ।।३।।

कुंथुं अरं च मल्लिं, मुणिसुव्वयं नमिजिणं च, वंदे

कुन्थुमरं च मल्लिं मुनिसुव्रतं नमिजिनं च वन्दे ।

कुन्थुनाथ, अरनाथ और मल्लिनाथ को, मुनिसुव्रतस्वामी और नमिजिन को मैं वंदन करता हूँ ।

रिट्ठनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च वंदामि ।।४।।

तथा अरिष्टनेमिं पार्श्वं च वर्धमानं वन्दे ।। ४ ।।

तथा अरिष्टनेमि को, पार्श्वनाथ को और वर्धमानस्वामी को मैं वंदन करता हूँ ।।४।।

एवं मए अभिथुआ, विहुय-रय-मला

एवं मया अभिष्टुताः विधूतरजोमलाः

इस प्रकार मेरे द्वारा स्तुति किए हुए, वे तीर्थंकर जिन्होंने कर्मरज और मैल दूर किए हैं

पहीण-जर-मरणा जिणवरा, चउवीसंपि तित्थयरा मे पसीयंतु ।।५।।

प्रक्षीणजरामरणाः जिनवराः चतुर्विंशति अपि तीर्थंकरा मे प्रसीदन्तु ।। ५।।

जिन्होंने वृद्धत्व एवं मरण भय का अत्यंत नाश किया है, जिनों में श्रेष्ठ, चौबीसों तीर्थंकर मेरे ऊपर प्रसन्न हों ।।५।।

कित्तिय-वंदिय-महिया, जे लोगस्स उत्तमा सिद्धा, ए

कीर्तितवन्दितमहिताः ये लोकस्य उत्तमाः सिद्धाः एते

कीर्तन किए हुए, वंदन किए हुए, पूजन किए हुए, जो लोक में उत्तम हैं और सिद्ध हैं, ऐसे यह (परमात्मा मुझे)

आरुग्ग-बोहि-लाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु ।।६।।

आरोग्यबोधिलाभं उत्तमं समाधिवरं ददतु ।। ६ ।।

आरोग्य के लिए बोधिलाभ और श्रेष्ठ और उत्तम समाधि प्रदान करें।।६।।

चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा,

चन्द्रेभ्यो निर्मलतराः आदित्येभ्योऽधिकं प्रकाशकराः

चन्द्रों से अधिक निर्मल, सूर्यों से अधिक प्रकाश करनेवाले

सागरवरगंभीरा, सिद्धा मम सिद्धिं दिसंतु ।।७।।

सागरवरगम्भीराः सिद्धाः मम (मह्यम्) सिद्धिं दिशन्तु ।

श्रेष्ठ सागर से भी गंभीर ऐसे सिद्ध भगवंत मुझे मोक्ष प्रदान करें ।

विशेषार्थ :

लोगस्स उज्जोअगरे : लोक को उद्योत करनेवाले (परमात्मा का मैं कीर्तन करूँगा)

भगवान चौदह राजलोकरूप समग्र लोक को अपने केवलज्ञान से देखते हैं और चौदह राजलोक में रहे हुए तमाम पदार्थों के स्वरूप को वे जगत् के समस्त जीवों को बताते हैं । इस प्रकार जगत् में रहे हुए तमाम पदार्थों का ज्ञान करवाने द्वारा भगवान जगत् के तमाम पदार्थो को प्रकाशित करते हैं । इसलिए उनको लोक को उद्योत करनेवाले कहा जाता है ।

अमावस्या की रात्रि के घोर अंधकार में सामने रही हुई चीज भी नहीं दिखाई देती, जिसके कारण बहुत सी जरूरी चीज भी नहीं मिलती और अनावश्यक वस्तुएँ टकराया करती हैं । अंधेरे के कारण बहुत बार साँप में रस्सी का और रस्सी में साँप का भ्रम हो जाता है, बाँस में मनुष्य की कल्पना होती है और मनुष्य में भूत का भ्रम होता है, लेकिन प्रकाश होते ही ऐसे भ्रम टूट जाते हैं । इसी तरह भव्य जीवों को अनादिकाल से जो स्व-पर के विषय में भ्रम है, वह भगवान द्वारा दिए गए ज्ञान से नष्ट हो जाता है।

भगवान ने अपने ज्ञान से वस्तु को जैसी है, वैसी देखी । उन्होंने जड़ पदार्थ भी देखें और जीव द्रव्य भी देखा । जड़ और चेतन सृष्टि का यथार्थ

दर्शन करने के बाद उन्होंने भव्य जीवों को जीव और जड़ का भेद बताया, आत्मा के लिए हितकर और अहितकर का बोध करवाया, आत्मा को सच्चे सुख की प्राप्ति कहाँ से होगी और क्या करने से आत्मा दुःखी होती है, उसका भी ज्ञान प्रदान किया ।

अनादिकाल से अज्ञान के कारण आत्मा, 'जड़ में सुख है', ऐसी मान्यता रखती है । परमात्मा के वचनों से आत्मा की यह मिथ्या मान्यता दूर होती है और उसे ज्ञान होता है कि पर वस्तु कभी अपनी नहीं हो सकती । जड पदार्थ कभी सुख नहीं दे सकते । ऐसा ज्ञान होते ही योग्य आत्मा अहित के मार्ग से हटकर हित में प्रवृत्ति करने लगती है ।

यदि परमात्मा ने अपने ज्ञान से संसार की वास्तविकता न बताई होती, तो अनंत आत्माएँ कभी स्वयं का हित नहीं कर पाती और अनंत काल तक संसार में उनका परिभ्रमण चालू ही रहता । यह पद बोलते हुए परमात्मा के इस महान उपकार को याद करना है ।

लोक को तो सूर्य, चंद्र भी प्रकाशित करते हैं, परन्तु वे तो मात्र बाह्य जगत् और परिमित क्षेत्र को प्रकाशित करते हैं, जब कि परमात्मा तो बाह्य और अभ्यंतर दोनों जगत् का यथार्थ स्वरूप देखते हैं और उसे जगत् के जीवों को उपकारक बने, उस तरह बताते भी हैं ।

जिज्ञासा : भगवान को सिर्फ लोक को उद्योतित करनेवाले क्यों बताए ? लोक के अलावा उससे असंख्य गुणा अधिक बडा अलोक है; तो क्या भगवान उसे प्रकाशित नहीं करते ?

तृप्ति : लोक शब्द का अर्थ जैसे चौदह राजलोक हैं, वैसे षड्द्रव्यात्मक लोक भी होता है । छ द्रव्य अर्थात् धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और काल । छ द्रव्य में आकाशद्रव्य लोक और अलोक में सर्वत्र होता हैं । इसलिए अरिहंत परमात्मा लोक-अलोक सर्व को देखनेवाले और बतानेवाले हैं । उनके ज्ञान में न्यूनता की कोई शंका ही नहीं रहती ।

इस पद का उच्चारण करते हुए साधक सोचता है कि,

'मेरे प्रभु ने महान उपकार करके मुझे समग्र विश्व के वास्तविक स्वरूप का दर्शन करवाया; परन्तु उल्लू जैसी दृष्टिवाले मैंने उसे देखने का यत्न भी नहीं किया । उसी कारण मैं आज तक इधर-उधर भटक रहा हूँ । प्रभु ! आपने जिस मार्ग को प्रकाशित किया उसे देखने की क्षमता अब मुझे प्रदान कीजिए !'

धम्मतित्थयरे : धर्मरूपी तीर्थ का प्रवर्तन करनेवाले (परमात्मा का मैं कीर्तन करूँगा) ।

दुर्गति में गिरते हुए जीवों को जो धारण करने का कार्य करता है, उसे धर्म कहते हैं और संसार सागर से जो पार उतारे वह तीर्थ है । भगवान धर्मरूपी तीर्थ का प्रवर्तन करनेवाले हैं ।

तीर्थ दो प्रकार के होते हैं । जिसके द्वारा नदी, तालाब या समुद्र में उतरा जा सके या उसे पार किया जा सके वैसी सीढ़ियाँ, नाव या घाट वगैरह **द्रव्यतीर्थ** कहलाते हैं और जिसके द्वारा संसार सागर को पार किया जाए, वह **भावतीर्थ** कहलाता है ।

समुद्र में गिरे हुए जीव को कोई लकड़ी या नाव मिल जाए और वह उसे पकड़ ले, तो समुद्र में गिरा हुआ जीव भी समुद्र को पार कर सकता है । उसी प्रकार भवसमुद्र में गिरा हुआ जीव भी श्रुतरूप भावतीर्थ का आलंबन लेकर संसार सागर को पार कर सकता है । भावतीर्थ स्वरूप श्रुतधर्म का प्रवर्तन करवानेवाले होने से ही यहाँ परमात्मा को धर्म तीर्थंकर कहा गया है अर्थात् श्रुतधर्मरूपी तीर्थ का प्रवर्तन करनेवाले कहे गए हैं ।

केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद परमात्मा देशना देते हैं । यह प्रवचन (देशना) श्रुतधर्म है । यह श्रुत भावतीर्थ है । गणधर पद के योग्य महाबुद्धिनिधान आत्माओं को परमात्मा 'उप्पनेइ वा - विगमेइ वा - धुवेइ

वा' यह त्रिपदी प्रदान करते हैं । इस त्रिपदी को सुनकर प्रचंड प्रतिभा के स्वामी, बीजबुद्धि के स्वामी, गणधर भगवंत द्वादशांगी की रचना करते हैं । परमात्मा उसके ऊपर मुहर लगाते हैं । इस द्वादशांगी के आधार अनंत आत्माएँ संसार सागर पार कर चुकी हैं और पार कर रही हैं, इसलिए द्वादशांगी भी भावतीर्थ हैं ।

श्रुत के सहारे जैसे भूतकाल में अनंत आत्माएँ दुष्कर भवसागर पार कर चूकी हैं, वैसे ही वर्तमान में भी जिन्होंने भगवान के वचनों का आलंबन लिया है, उन का यह संसार बहुत बिगाड़ नहीं सकता। वे तो श्रुतधर्म के आलंबन से पुण्यानुबंधी पुण्य बांधकर, उत्तम सद्गति की परंपरा को प्राप्त कर, अंत में सर्व कर्म का क्षय करके मोक्षसुख को प्राप्त करते हैं ।

प्रवचन की तरह प्रवचन जिसमें प्रतिष्ठित है, वैसा श्रमणप्रधान चतुर्विध संघ भी भावतीर्थ कहलाता है, क्योंकि इस श्रमणप्रधान चतुर्विध संघ के सहारे भी भव्यात्माएँ संसार सागर पार कर सकती हैं ।

इस पद का उच्चारण करते हुए साधक सोचता है,

"प्रभु ने धर्मतीर्थ की स्थापना कर दुर्गति में गिरते हुए मेरे जैसे अनेकों का उद्धार करने का यत्न किया है; परन्तु मैंने आज तक धर्मतीर्थ का शरण नहीं लिया । इसलिए भवसमुद्र में एक गति से दूसरी गति में भटक रहा हूँ । हे प्रभु ! आपकी वंदना द्वारा मैं चाहता हूँ कि धर्मतीर्थ का शरण स्वीकार कर सद्गति की परंपरा द्वारा शिवगति को प्राप्त करूँ ।'

जिणे : जिनों को,

राग-द्वेषादि समस्त आन्तर शत्रुओं अर्थात् भावशत्रुओं को जीतनेवाले, जिन कहलाते हैं । राग-द्वेष और मोह आत्मा में रहकर ही आत्मा का अनर्थ करते हैं, इसीलिए उन्हें आंतरशत्रु कहा जाता है । ये शत्रु ही दुःखदायी हैं, इसीलिए वे वास्तविक शत्रु हैं। अगर इन शत्रुओं की उपस्थिति

न हो तो बाहर के कोई शत्रु दुःख दे ही नहीं सकते, इसी कारण बाहर के शत्रु वास्तव में शत्रु नहीं हैं ।

अनादिकाल से जीव इन आंतरशत्रुओं के अधीन हैं । ये आन्तरशत्रु जैसी प्रवृत्तियाँ करवाते हैं, जीव वैसी ही प्रवृत्तियाँ करता है । इन शत्रुओं के शिकंजे में फँसा हुआ जीव स्वयं के हिताहित का विचार नहीं कर पाता। रागादि के निमित्त सामने आते ही उसके अधीन बन जाता है, पर कभी रागादि को खुद के अधीन नहीं बना सकता। ऋषभादि चौबीसों तीर्थकरों ने इन रागादि शत्रुओं को पहचानकर उनको निर्मूल कर दिया है, इसलिए ऋषभादि चौबीसों तीर्थंकर रागादि को जीतनेवालें **जिन** कहलाते हैं।

इस पद का उच्चारण करते हुए साधक सोचता है,

'हे प्रभु ! आपने तो रागादि शत्रुओं को जीत लिया है, पर मैं उनके शिकंजे में फँसा हुआ हूँ । आपको वंदन कर मैं उन महा भयंकर शत्रुओं को जीतने का सामर्थ्य चाहता हूँ ।

अरिहंते कित्तइस्सं : अरिहंतों का मैं कीर्तन करूँगा।

जिन्होंने रागादि शत्रुओं का नाश किया है, जिन्हें अब जन्म नहीं लेना है, जिनका अब बार बार जन्म नहीं होगा तथा जो अशोकवृक्ष, सुरपुष्पवृष्टि आदि अष्ट महाप्रातिहार्य, रजत-सुवर्ण-रत्न से निर्मित देदीप्यमान समवसरण, चलते समय पैर के नीचे जमीन पर नौ मुलायम सुवर्ण कमल वगैरह की शोभा रूप पूजा (भक्ति) के योग्य हैं, उन्हें अरिहंत[2] कहा जाता है । ऐसे चौबीस तीर्थंकरों का मैं कीर्तन करूँगा अर्थात् नामपूर्वक मैं अरिहंत का स्तवन करूँगा ।

चउवीसंपि केवली: केवलज्ञान को धारण करनेवाले चौबीस और अन्य भी अरिहंतों का मैं कीर्तन करूँगा ।

घातीकर्मों का नाश कर जिन्होंने केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त किया

2. अरिहंत का विशेष स्वरूप नवकार में से देखें ।

हो, उसे केवली कहा जाता है । लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान जिसे प्रकट हुआ हो वैसे ऋषभदेव से लेकर वीर प्रभु तक के चौबीस तीर्थंकरों के गुणों को याद करके मैं उनका नामोच्चारण पूर्वक कीर्तन करूँगा । 'चउवीसंपि' में अपि शब्द से अन्य अरिहंत परमात्माओं का समुच्चय किया है ।

इस पद का उच्चारण करते हुए साधक बाह्य और अंतरंग संपत्ति से युक्त सभी तीर्थंकर भगवंतों को स्मृति पट पर बिराजित करके सोचता है कि,

'इन भगवंतों की भक्ति करने की तो मेरी शक्ति नहीं है, फिर भी उनके नाम और गुणों का स्मरण करके विशिष्ट भक्ति करने की शक्ति प्रकट हो, ऐसी प्रभु से प्रार्थना करूँ ।'

प्रत्येक विशेषण की आवश्यकता :

केवली : यहाँ अरिहंत की स्तवना करनी है, अतः छद्मस्थरूप में रहे हुए अरिहंत की कटौती करने केवली [3]विशेषण का प्रयोग हुआ है। जिससे राज्यादि अवस्था में रहे अरिहंत का ग्रहण नहीं होता।

जिज्ञासा : भगवान को केवली कहने से वे लोकालोक प्रकाशक हैं, यह बात समझी जा सकती है तो फिर 'लोगस्स उज्जोअगरे' कहकर प्रभु लोक के उद्योतकर हैं, ऐसा कहने की क्या जरुरत थी ? क्या यह विशेषण निरर्थक नहीं है ?

तृप्ति : नहीं । यह विशेषण निरर्थक नहीं है, क्योंकि भगवान को लोक-प्रकाशक कहने से ज्ञान-अद्वैतवादी का मत गलत है, ऐसा सिद्ध होता है ।

ज्ञानाद्वैतवादी मानते हैं कि जगत् मात्र ज्ञानरूप ही है । ज्ञान के सिवाय जगत् में कोई अन्य तत्त्व है ही नहीं, जो दिखाई देता है, वह सब माया है। प्रकाश्यरूप लोक और प्रकाशक ज्ञान यह दो भिन्न हैं, अद्वैतवादी को यह

3. विशेषण का ग्रहण तीन स्थानों में सफल होता है । (१) उभयपद के व्यभिचार में जैसे कि नीला कमल (२) एक पद के व्यभिचार में जैसे कि पानी द्रव्य, पृथ्वी द्रव्य और (३) स्वरूप बताने में जैसे कि प्रदेश रहित परमाणु ।

बताने के लिए भगवान को लोकालोक प्रकाशक कहा है । जिस प्रकार जगत् प्रकाश्य है और ज्ञान प्रकाशक है, उसी प्रकार प्रकाश करनेवाला और प्रकाशित वस्तु ये दोनों भिन्न हैं, यह भी लोगस्स उज्जोअगरे पद से मालूम होता है । जिससे अद्वैत का मत गलत साबित होता है ।

जिज्ञासा : धम्मतित्थयरे जिणे... इत्यादि विशेषण किसलिए दिए गए है ?

तृप्ति : लोक को प्रकाशित करनेवाले तो सामान्य से अवधिज्ञानी आदि भी हो सकते हैं, वैसे लोकप्रकाशक का यहाँ ग्रहण नहीं करना है, परन्तु धर्मतीर्थ के स्थापक के रूप में प्रभु की उपकारिता बताने के लिए **धम्मतित्थयरे** यह विशेषण रखा गया है ।

लोक में नदी वगैरह विषम स्थानों से पार उतरने के लिए बहुत भद्रिक जीव धर्म के हेतु से (ओवारा) सीढियाँ वगैरह बनाते हैं, उन ओवारा वगैरह को भी तीर्थ कहा जाता है । ऐसे तीर्थों को धर्म के हेतु से बनानेवाले जीवों को भी धर्मतीर्थंकर कहा जाता है, परन्तु यहाँ ऐसे धर्मतीर्थंकरों की स्तुति करने का आशय नहीं है, इसीलिए लोक को उद्योत करनेवाले यह विशेषण रखना जरूरी है । ऐसा प्रयोग करके देव, दानव, मनुष्यों की सभा में सभी अपनी-अपनी भाषा में समझ सकें, ऐसी वाणी द्वारा जिन्होंने धर्मतीर्थ की स्थापना की है, ऐसे ही अरिहंत भगवंतों का ग्रहण होगा।

कुछ जैनेतर दर्शन भी अपने परमात्मा को लोक उद्योतकर और धर्मतीर्थंकर मानते हैं, लेकिन इसके साथ यह भी मानते हैं कि, स्वयं द्वारा स्थापित तीर्थ को जब हानि पहुँचती है, तब वे परमात्मा पुनः अवतार लेकर संसार में आते हैं । जो तीर्थ के राग से पुनः संसार में आए या अवतार ले, वे जिन नहीं कहलाते । इसलिए उनकी कटौती करने के लिए **'जिणे'** इस विशेषण का प्रयोग किया गया है ।

यदि मात्र 'जिन' विशेषण ही रखा जाए, तो अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, केवलज्ञानी तथा चौदह पूर्वधर वगैरह जो शास्त्रों में जिन कहलाते हैं, उनका

भी ग्रहण हो जाता इसलिए 'जिन' विशेषण के साथ लोक को उद्योत करनेवाले तथा धर्मतीर्थ के स्थापक वगैरह विशेषण भी आवश्यक हैं ।

इन चारों विशेषण पद के विशेष्य कि तौर **'अरिहंते'** पद का प्रयोग किया गया है । यदि सिर्फ विशेष्य **'अरिहंते'** पद का प्रयोग किया होता तो नाम - अरिहंत, स्थापना-अरिहंत, द्रव्य - अरिहंत, भाव - अरिहंत आदि कोई भी प्रकार के अरिहंत का ग्रहण हो जाता । जब कि, उपर्युक्त विशेषणों से युक्त **'अरिहंते'** पद से मात्र भाव - अरिहंत का ही ग्रहण होता है, अन्य का नहीं । इसलिए प्रत्येक विशेषण और विशेष्य ऐसा 'अरिहंत' पद आवश्यक है।

चार विशेषणों द्वारा चार अतिशय :

इस गाथा में परमात्मा के चार अतिशय बताए गए हैं । **'लोगस्स उज्जोअगरे'** विशेषण द्वारा भगवान केवलज्ञान द्वारा लोक को प्रकाशित करनेवाले हैं, इस प्रकार **ज्ञानातिशय** बताया है । **'धम्मतित्थयरे'** कहने द्वारा परमात्मा वचन द्वारा भव्यात्माओं को संसार समुद्र से पार उतरने के लिए अहिंसा, संयम और तपरूप धर्म का यथार्थ उपदेश देते हैं, इस प्रकार **वचनातिशय** बताया है । **'जिणे'** पद द्वारा भगवान राग-द्वेष और मोहरूप महाअपाय को जीतनेवाले हैं, यह बताकर परमात्मा का **अपायापगमातिशय** सूचित किया है और **'अरिहंते'** शब्द द्वारा परमात्मा का **पूजातिशय** बताया है।

इस गाथा का उच्चारण करते हुए साधक सोचता है,

"दुनिया में श्रेष्ठ देवतत्त्व मुझे मिला है । 'हे नाथ ! आप के गुणों को जानकर, आपकी स्तवना करने के लिए मन उल्लसित हुआ है । उसमें मैं सफल बनूँ, ऐसी प्रार्थना है ।"

दूसरी - तीसरी और चौथी गाथा द्वारा चौबीस तीर्थंकरों का नाम सहित कीर्तन किया गया है ।

उसभमजिअं च वंदे, संभवमभिनं(णं)दणं च सुमइं च ।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ।।२।।
सुविहिं च पुप्फदंतं, सीअलसिज्जंसवासुपुज्जं च ।
विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि ।।३।।
कुंथुं अरं च मल्लिं, वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च ।
वंदामि रिट्ठनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च ।।४।।

श्री ऋषभदेव और अजितनाथ को मैं वंदन करता हूँ तथा संभवनाथ, अभिनंदनस्वामी, सुमतिनाथ, पद्मप्रभस्वामी, सुपार्श्वनाथ और चंद्रप्रभस्वामी को वंदन करता हूँ ।।२।।

जिनका दूसरा नाम 'पुष्पदंत' है, ऐसे सुविधिनाथ, शीतलस्वामी, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्यस्वामी तथा विमलनाथ, अनंतनाथ और धर्मनाथ तथा शांतिनाथ को वंदन करता हूँ ।।३।।

कुंथुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ तथा मुनिसुव्रतस्वामी और नमिजिन को वंदन करता हूँ । अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ तथा वर्धमान स्वामी को वंदन करता हूँ ।।४।।

विशेषार्थ :

भरतक्षेत्र के इस अवसर्पिणी काल के ऋषभदेव से लेकर महावीरस्वामी तक के चौबीस तीर्थंकरों के नाम गुणयुक्त हैं । वे नाम भगवान की आत्मा गर्भ में आने से बननेवाले विशेष प्रसंगों के कारण दिए गए हैं । सभी नामों का अर्थ जैसे विशेष से उन - उन भगवान के लिए घटते हैं, वैसे सामान्य से प्रत्येक भगवान के लिए भी घट सकते हैं । इस प्रकार भगवान की विशेषता के कारण दिए गए तथा व्युत्पत्ति के अनुसार सामान्य से प्रत्येक भगवान को भी लागू पड़ते नामों को वैसे गुणों से युक्त देखने से उन गुणवानों के प्रति हृदय में आदर का भाव प्रकट होता है । इस गुण के प्रति

होनेवाले आदर का भाव गुणप्राप्ति में विघ्न करनेवाले कर्मों का नाश करता है और गुणप्राप्ति का कारण बनता है ।

प्रत्येक भगवान के नाम के अर्थ सामान्य से और विशेष[4] से दो प्रकार से होते हैं, अभी उन दो प्रकार के अर्थों का विभाग बताया जाएगा ।

चौबीस भगवान के नाम के सामान्य और विशेष अर्थ :

१. **'उसभ' :** सामान्य अर्थ याने प्रत्येक भगवान को लागू हो ऐसा अर्थ। 'परमपद' को जो **'ऋषति'** = 'प्राप्त करे' वह ऋषभ । 'उसभ' की छाया **'वृषभ'** भी होती है, इसका अर्थ **'वर्षति इति वृषभः'** अर्थात् दुःखरूप अग्नि से जलते हुए जगत् को जो देशनारूपी जल की वृष्टि से शांत करे, वह **'वृषभ'**, यह सामान्य अर्थ हुआ । विशेष अर्थ को सोचें तो प्रथम भगवान की जंघा में वृषभ का लांछन (चिह्न) था तथा श्री मरुदेवी माता ने चौदह स्वप्नों में प्रथम वृषभ को देखा था, इसलिए उन का नाम **'वृषभ'** अथवा **'ऋषभ'** रखा गया।

२. **अजित :** परिषहों और उपसर्गों वगैरह से जो पराजित नहीं हुए वह **'अजित'**, यह सामान्य अर्थ और भगवान गर्भ में थे, तब गर्भ के भाव से माता पासा खेलने में अपने पति से पराजित नहीं हुई, अजित रही; इसलिए भगवान का नाम **'अजित'** रखा, यह विशेष अर्थ है ।

३. **सम्भव :** जिनमें चौतीश अतिशय रूप गुण विशेषतया संभव हैं, वे **'सम्भव'** अथवा जिनकी स्तुति करने से स्तुति करनेवाले को **'शं'**=सुख **'भवति'** = प्राप्त होता है, वह **'शंभव'**, इसका प्राकृत नियमानुसार 'संभव' होता है - यह सामान्य अर्थ हैं तथा भगवंत जब गर्भ में आए तब देश में अधिक धान्य (फसल) की पैदावार (संभावना) हुई, इसलिए उनका नाम 'संभव' रखा गया, यह विशेष अर्थ है ।

४. **अभिनन्दन :** जिनका इन्द्र वगैरह 'अभिनंदन' (स्तुति) करें, वह **'अभिनन्दन'** यह सामान्य अर्थ और प्रभु गर्भ में आए तब से इन्द्र ने बार -

4. सामान्य अर्थात् सब में संबंधित हो वैसा और विशेष अर्थात् उसी तीर्थंकर से संबंधित हो वैसा।

बार आकर उनकी माता का अभिनंदन (स्तुति) किया, इसलिए उनका नाम अभिनंदन रखा, यह विशेष अर्थ है ।

५. **सुमति :** जिनकी 'सु' अर्थात् सुंदर 'मति=बुद्धि' होती है, वह **'सुमति'** यह सामान्य अर्थ है और जब भगवान गर्भ में थे, तब माता को विवाद में **'सु'** अर्थात् सुदृढ़ निश्चय करवानेवाली मति-बुद्धि[5] सूझी, इसलिए उनका नाम 'सुमति' रखा, यह विशेष अर्थ है ।

६. **पद्मप्रभ :** निर्मलता की अपेक्षा से जिनकी कांति 'पद्म' समान है, वे **'पद्मप्रभ'** यह सामान्य अर्थ है तथा भगवंत गर्भ में थे, तब माता का पद्म (कमलों) की शय्या में सोने का दोहद देवताओं ने पूर्ण किया था, इसलिए 'पद्म' और भगवान के देह की प्रभा (कांति) पद्मकमल समान (लाल) होने से 'पद्मप्रभ' नाम रखा, यह विशेष अर्थ है ।

७. **सुपार्श्व :** जिनका पार्श्व (देह का पृष्ठ भाग) 'सु' (सुंदर) है वह **'सुपार्श्व';** यह सामान्य अर्थ है तथा भगवान गर्भ में थे, तब माता सुंदर पार्श्व (पृष्ठ) वाली हुई, इसलिए उनका नाम 'सुपार्श्व' रखा, यह विशेष अर्थ है ।[6]

८. **चन्द्रप्रभ :** जिनकी प्रभा चंद्र के किरणों की तरह शांत लेश्यावाली होती है, वे **'चन्द्रप्रभ'** यह सामान्य अर्थ है तथा जब भगवान गर्भ में थे, तब माता को चंद्र का पान करने का दोहद हुआ था, तथा भगवान के शरीर की प्रभा चंद्र के समान उज्ज्वल थी, इसलिए 'चंद्रप्रभ' नाम रखा, यह विशेष अर्थ है ।

---

5. दो माताएँ एक पुत्र के लिए लड़ती हुई राजा के पास न्याय के लिए गईं । जब राजा-मंत्री वगैरह सच्ची माता कौन उसका न्याय न कर पाये, तब भगवान की माता ने उस पुत्र के दो भाग करके बँटवारा करने का आदेश किया, तो सच्ची माता ने ऐसा करने के लिए मना किया । इससे सच्ची माता की परीक्षा हुई और पुत्र सच्ची माता को दिया गया । यह बुद्धि गर्भ के प्रभाव से सूझने के कारण पुत्र का नाम सुमति रखा गया ।
6. अन्य मत द्वारा प्रभु के पिता के पृष्ठ भाग में कोढ़ था, तब गर्भवती भगवंत की माता के हाथ के स्पर्श से, गर्भ के प्रभाव से, पति का पृष्ठ भाग सुंदर हुआ, इसलिए उनका नाम 'सुपार्श्व' रखा ।

९. **सुविधि :** **'सु'** अर्थात् सुंदर और **'विधि'** अर्थात् सर्व विषयों में जिनकी कुशलता है, वह **'सुविधि'** यह सामान्य अर्थ है तथा भगवान का गर्भ में प्रवेश हुआ तभी से माता को सु (सुंदर) विधि[7] (सर्व विषय में कुशलता) प्रकट होने से उनका नाम सुविधि रखा तथा भगवान के पुष्प की कलियों जैसे सुंदर दाँत होने से उनका दूसरा नाम 'पुष्पदंत' रखा, यह विशेष अर्थ है ।

१०. **शीतल :** सर्व प्राणियों के संतापों का नाश करके शीतलता प्रदान करनेवाले **'शीतल'** यह सामान्य अर्थ है तथा भगवंत जब गर्भ में आए, तब भगवान के पिता को हुआ पित्त का दाह जो किसी उपाय से शांत नहीं हो रहा था वह दाह गर्भ के प्रभाव से माता के हस्तस्पर्श से शांत हो गया, इसलिए पुत्र का नाम 'शीतल' रखा, यह विशेष अर्थ है ।

११. **श्रेयांस :** जगत् के सर्व जीवों द्वारा जो अति प्रशंसनीय है, वह श्रेयान् अथवा **'श्रेयस्'** अर्थात् कल्याणकारी - **'अंस'** अर्थात् कंधे । अतः जिनके कंधे कल्याणकारी है वह 'श्रेय+अंस = श्रेयांस, यह सामान्य अर्थ है तथा भगवंत गर्भ में थे, तब पहले कोई जिसका उपभोग नहीं कर सकते थे, वैसी देवाधिष्ठित शय्या का माता ने उपभोग किया, जिससे उनका श्रेयः (कल्याण) हुआ, इसलिए पुत्र का नाम श्रेयांस रखा, यह विशेष अर्थ है ।

१२. **वासुपूज्य :** 'वसु' जाति के देवों[8] के भगवंत पूज्य थे इसलिए **'वासुपूज्य'** कहलाये यह सामान्य अर्थ है तथा जब गर्भ में थे तब **वसु** अर्थात् सुवर्ण द्वारा वासव (इन्द्र) ने राजकुल की पूजा की थी, इसलिए 'वासुपूज्य' अथवा वसुपूज्य राजा के पुत्र इसीलिए वासुपूज्य कहलाए, यह विशेष अर्थ है ।

---

7. माता ने गर्भ की महिमा से सुंदर विधिपूर्वक धर्म - आराधना की, इसलिए 'सुविधि' ऐसा नाम रखा, ऐसा भी अन्यत्र कहा गया है ।
8. घर, ध्रुव, सोम, अह, अनिल, प्रत्यूष और प्रभास - ये वसु जाति के देव है । (शब्द चिंतामणि)

१३. **विमल :** 'वि' अर्थात् निकल गया है, 'मल' (मैल-कर्ममल) जिनका वे **'विमल'** अथवा विमल (निर्मल) ज्ञानादि गुण जिनमें हैं, वे विमल यह सामान्य अर्थ है तथा गर्भ के प्रभाव से भगवान की माता की मति[9] तथा शरीर विमल (निर्मल) हुए, इसलिए 'विमल' नाम रखा, यह विशेष अर्थ है।

१४. **अनन्त :** अनन्त कर्मों पर जिन्होंने विजय पाया है, वे **'अनंतजित्'** अथवा अनंतज्ञानादि गुणों से जो जयशील हैं, वे **'अनंतजित्'** यह सामान्य अर्थ है तथा भगवंत गर्भ में आए, तब माता ने अनंत[10] रत्नों की माला स्वप्न में देखी थी, इसलिए **'अनंत'** और तीन भुवन में जयशील हैं, इसलिए **'जित्'** ऐसे अनंत+जित् अर्थात् 'अनंतजित्' यह विशेष अर्थ है । भीमसेन के बदले जैसे भीम कहा जाता है, वैसे यहाँ 'अनंतजित्' के बदले 'अनंत' नाम समझना है ।

१५. **धर्म :** दुर्गति में गिरते हुए जीवों को धारण करे वह **'धर्म'** । यह सामान्य अर्थ है और भगवंत गर्भ में आए तभी से माता दानादि धर्म में तत्पर बनी, इसलिए 'धर्म' नाम रखा गया, यह विशेष अर्थ है ।

१६. **शान्ति :** भगवंत को शांति का योग होने से या स्वयं शांतिरूप होने से और भिन्न-भिन्न प्रकार से शांति करनेवाले होने के कारण **'शान्ति'** यह सामान्य अर्थ और गर्भ की महिमा से देश में मरकी के रोग की शांति होने से 'शान्ति' नाम रखा, यह विशेष अर्थ है ।

9. किसी एक मंदिर में एक पति-पत्नी सोए हुए थे, तब एक व्यंतरी उस पुरुष का सुंदर रूप देखकर, मोह से खुद का रूप उसकी पत्नी जैसा बनाकर उसके बगल में सो गई । सुबह उन दोनों स्त्रियों की पति के लिए बहस हुई । दोनों का एक जैसा रूप होने के कारण पति सच्ची पत्नी को पहचान न सका । आखिर वे न्याय के लिए राजसभा में गए, परन्तु वहाँ कोई न्याय न हो सका । तब भगवंत की माता ने कहा कि जो दूर खडे रहकर अपने हाथ से पति का स्पर्श करे, वह सच्ची स्त्री मानी जाएगी । इस आदेश से व्यंतरी ने दैवी शक्ति से अपना हाथ लंबा करके पुरुष का स्पर्श किया । जिससे उसका छल प्रकट हो गया और उसे व्यंतरी समझकर बाहर निकाल दिया गया । इस प्रकार पति को सच्ची पत्नी मिली । गर्भ के प्रभाव से माता में ऐसी निर्मल बुद्धि प्रकट हुई, इसलिए पुत्र का नाम 'विमल' रखा ।

10. गर्भ की महिमा से माता ने आकाश में 'अनंत' अर्थात् अंत हीन चक्र देखा इसलिए 'अनंत' नाम रखा, ऐसा भी अन्यत्र बताया है ।

१७. **कुन्थु : 'कु'** अर्थात् पृथ्वी, पृथ्वी में स्थित इसलिए **'कुन्थु'**- इस निर्युक्ति से (पदच्छेद से) 'कुन्थु' यह सामान्य अर्थ तथा गर्भ के प्रभाव से माता ने स्वप्न में कुन्थु रत्नों का समूह (कन्थुओं के समान सूक्ष्म रत्नों का समूह) देखा, इसलिए 'कुन्थु' नाम रखा, यह विशेष अर्थ है ।

१८. **अर :** सर्वोत्तम महासात्त्विक कुल की अभिवृद्धि के लिए जो उत्पन्न होते हैं[11], उन्हें वृद्ध पुरुषो **'अर'** कहते हैं, यह सामान्य अर्थ है तथा गर्भ की महिमा से माता ने स्वप्न में रत्नों का 'अर' (आरा[12]) देखने से 'अर' नाम रखा, यह विशेषार्थ है ।

१९. **मल्लि :** परिषह वगैरह मल्लों को जीतनेवाले थे, इसलिए **'मल्लि'** ऐसे पदच्छेद से यह सामान्य अर्थ हुआ तथा गर्भ के प्रभाव से माता को सुगंधमय छ ऋतु के माल्य (पुष्पों) की शय्या में सोने का दोहद हुआ और वह देव ने पूर्ण किया, इसलिए मल्लि नाम रखा, यह विशेष अर्थ हैं ।

२०. **मुनिसुव्रत :** जगत् की त्रिकाल अवस्था को **'मन्यते** (जाने) **इति मुनिः'** तथा 'सुंदर व्रतवाले होने से सुव्रत' ऐसे (मुनि+सुव्रत=) **'मुनिसुव्रत'** यह सामान्य अर्थ तथा गर्भ के प्रभाव से माता मुनि के जैसे सुंदर व्रतवाले हुए, इसलिए 'मुनिसुव्रत' नाम रखा यह विशेष अर्थ है ।

२१. **नमि :** परिषह - उपसर्गों को झुकाने से (पराजित करने से) नमि, यह सामान्य अर्थ है और नगर पर आक्रमण करने आए हुए शत्रु गर्भ के प्रभाव से झुक[13] गए (नम्र हो गए।) इसलिए 'नमि' नाम रखा, यह विशेष अर्थ है।

---

11. "सर्वोत्तमे महासत्त्वकुले यः प्रजायते । तस्याभिवृद्धये वृद्धै-रसावर उदाहृतः ।।१।।"
12. अन्यत्र स्वप्न में माता ने रत्नों का स्तूप (पादुका) और आरा देखने से 'अर' नाम कहा है ।
13. शत्रुराजाओं द्वारा नगर का घेरा नहीं उठाने पर, प्रभु की माता किले पर गई, तब गर्भ का प्रभाव सहन न कर पाने से शत्रुराजा प्रभु की माता के सामने झुक गए, नम्र हो गए, इसलिए उनका 'नमि' नाम रखा ।

२२. **नेमि :** चक्र की नेमि (घूमती हुई वाड) की तरह धर्मरूप चक्र की नेमि (मर्यादा) को स्थापन करनेवाले थे इसलिए **'नेमि'** यह सामान्य अर्थ है तथा गर्भ के प्रभाव से माता ने 'रिष्ट' रत्नों की महा 'नेमि' (रेल) देखी इसलिए 'रिष्टनेमि' तथा उसके पूर्व में अपश्चिम वगैरह शब्दों की तरह निषेध वाचक[14] 'अ' लगाकर 'अरिष्टनेमि' नाम रखा, यह विशेष अर्थ है ।

२३. **पार्श्व :** सब भावों को **पश्यति** अर्थात् देखें, वे **'पार्श्व'** यह निर्युक्ति से सामान्य अर्थ है तथा गर्भ के प्रभाव से रात्रि में शय्या में सोई हुई माता ने अंधकार में भी काला सर्प देखा, यह गर्भ का प्रभाव मानकर 'पश्यति' अर्थात् देखे, इसलिए 'पार्श्व' नाम रखा तथा वैयावच्च करनेवाले 'पार्श्व' यक्ष के नाथ होने से 'पार्श्वनाथ' नाम रखा । यहाँ भी भीमसेन के बदले भीम की तरह पार्श्वनाथ के बदले 'पार्श्व', यह विशेष अर्थ है ।

२४. **वर्द्धमान :** जन्म से ही जो ज्ञानादि गुणों से वृद्धिमान थे, वे **'वर्द्धमान';** यह सामान्य अर्थ है तथा भगवंत गर्भ में पधारे, तब से उनके ज्ञातृकुल में धन, धान्य वगैरह विविध वस्तुओं की वृद्धि हुई, इसलिए माता-पिता ने **'वर्द्धमान'** नाम रखा, यह विशेष अर्थ है ।

इन गाथाओं का उच्चारण करते हुए साधक सोचता है कि,

"मेरे प्रभु के नाम भी कितने अद्‌भुत हैं । उनके नाम में उनके जैसे बनने का मार्ग समाया है । प्रभु ! मेरे जैसे निःसत्त्व मूर्ख के लिए साधना करने के अन्य उपाय तो अति दुष्कर हैं, पर सिर्फ आपके नाम के साथ मेरा नाता जुड जाए, तो अनंत तीर्थंकर भगवंत के साथ मेरे शुद्ध स्वरूप का नाता जुड जाएगा । आपके नाम का कीर्तन करके, आप जैसा बनना चाहता हूँ । हे कृपालु ! मेरी इस इच्छा को साकार कीजिएगा ।'

14. 'रिष्ट' शब्द अमंगलवाचक होने से पूर्व में अकार रखकर 'अरिष्ट' ऐसा मंगल नाम किया है ।

एवं मए अभिथुआ : इस प्रकार जिनकी मैंने स्तुति की है, वे (तीर्थंकर मुझ पर प्रसन्न हों ।)

इस एक वाक्य में ध्याता, ध्येय और ध्यान - इन तीनों का समावेश होता है। 'एवं' से ध्यान का प्रकार बताया गया है । एवं = इस तरह याने कि, प्रत्येक परमात्मा के नाम से संबंधित उनके गुणों को हृदयंगम करके जिस तरह पूर्वोक्त तीन गाथा में मैंने तीर्थंकरो की स्तुति की है उस तरह । 'मए' = 'मुझ से' - इस शब्द से ध्याता कौन हैं ?, वह बताया और 'अभिथुआ'[15] से ध्येयभूत अनंत अरिहंतों को बताया है। जब ध्याता अरिहंत के नामोल्लेखपूर्वक ध्यान में स्थिर होता है, तब ध्येय निकट न होने पर भी निकट ही प्रतीत होता है । प्रतिमाशतकादि ग्रंथों[16] में तो कहा गया है कि परमात्मा का नाम हृदय में स्थिर होते ही ऐसी प्रतीति होती है मानो साक्षात् परमात्मा ही सामने दिखाई दे रहे हों, मानो परमात्मा हृदय में प्रवेश कर रहे हों, वे मधुर आलाप कर रहे हों, परमात्मा का सब अंगों में अनुभव हो रहा हो, परमात्मा से तन्मय भाव की प्राप्ति हो रही हों । इस प्रकार के अनुभवों से सर्व कल्याण की सिद्धि होती है ।

विहुयरयमला : रज और मल स्वरूप कर्म को जिन्होंने दूर किया है, ऐसे (तीर्थंकर भगवंत मुझ पर प्रसन्न हों)

कर्म के अनेक प्रकार हैं, फिर भी अपेक्षा भेद से उसके दो प्रकार होते हैं। रजरूप कर्म और मलस्वरूप कर्म । बंधे हुए जो कर्म आसानी से आत्मा से छूट सकें अथवा वर्तमान में जिन कर्मो का बंध हो रहा हों, उन्हें रजरूप कर्म कहते हैं ।

---

15. अभिथुआ = अभिमुख्येन स्तुयेत - समन्तात् - स्तुताः

16. शास्त्र इव नामादित्रये हृदयस्थिते सति भगवान् पुर इव परिस्फुरति हृदयमितानुप्रविशति, मधुरालापगिवानुवदति, सर्वाङ्गीणमिवाऽनुभवति तन्मयीभावमिवापट्टति । तेन च सर्वकल्याणसिद्धिः । - प्रतिमाशतक

दूसरे प्रकार से देखें तो कर्मबंध चार प्रकार से होता है स्पृष्ट, बद्ध, निधत्त और निकाचित[17] । इनमें पहले तीन प्रकार का कर्मबंध रजरूप है और निकाचित कर्मबंध मलरूप है ।

इसके अलावा, कहीं-कहीं असांपरायिक कर्म को रज कहा गया है और सांपरायिक कर्म को मल कहा गया है । संपराय अर्थात् कषाय और कषाय के कारण जिस कर्म का बंध होता है, वह सांपरायिक कर्म मलस्वरूप है। ऐसा कर्मबंध दस गुणस्थानक तक होता है । कषाय के अभाव में मात्र मन-वचन-काया के योग के प्रवर्तन के कारण जो कर्मबंध होता है, वह कर्मबंध असांपरायिक कर्मबंध कहलाता है जो रजरूप है ।

परमात्मा ऐसे दोनों प्रकार के कर्मों से मुक्त है । वैसे तो परमात्मा में भी तेरहवें गुणस्थानक में रजरूप कर्म होते हैं, परन्तु वे अल्प समय में और आसानी से ही नाश होनेवाले होते हैं, इसलिए परमात्मा को कर्म से भी रहित बताया गया है ।

पहीण जरमरणा : जिन्होंने वृद्धावस्था और मरण का सर्वथा नाश किया है, ऐसे (तीर्थंकर मुझ पर प्रसन्न हों।)

वैसे तो समस्त संसारी जीव, कभी न कभी तो वयहानिरूप वृद्धावस्था और आयुष्य क्षयरूप मृत्यु का नाश करते हैं, लेकिन नया जन्म लेते ही उन्हें ये दो पुनः प्राप्त होते हैं । जब कि भगवान के जरा और मरण के कारणभूत कर्मों का क्षय होने के कारण उन्हें पुनः पुनः यह अवस्था प्राप्त नहीं करनी पडती । इसलिए कहा है कि, 'परमात्मा ने जरा और मरण का अत्यंत नाश किया है अर्थात् पुनः प्राप्त न हो इस प्रकार नाश किया है' ।

---

17. स्पृष्ट कर्म अर्थात् मात्र स्पर्श करके रहा हुआ कर्म, बद्ध कर्म अर्थात् सामान्य से बंधे हुए कर्म, निद्धत्त कर्म अर्थात् गाढ प्रकार से जुड़ा हुआ कर्म और निकाचित कर्म अर्थात् तादात्म्य भाव को प्राप्त किए हुए कर्म ।

चउवीसंपि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु : सभी चौबीस जिणवर ऐसे, तीर्थंकर मुझ पर प्रसन्न हों ।

प्रभु नाम के कीर्तन द्वारा प्रभु की स्तवना करने के बाद साधक प्रभु को प्रार्थना करता है कि,

'हे तीर्थंकर ! आप मुझ पर प्रसन्न हों । आप की कृपादृष्टि ही मेरी साधना की नींव है । आप जैसे कृपालु की प्रसन्नता के बिना मुझ में आराधना करने का कोई उत्साह नहीं रहता ।'

संसार में हर कोई अपने आदरणीय की प्रसन्नता चाहता है । मोक्षेच्छु साधक के लिए प्रभु परम आदरणीय एवं माननीय तत्त्व होते हैं इसलिए वह इन शब्दों द्वारा ऐसा भाव व्यक्त करता है कि, 'प्रभु ! आप और कुछ नहीं देंगे तो चलेगा पर आप प्रसन्नचित्त होकर मेरे हृदय में रहिएँगा ।'

जिज्ञासा : प्रभु तो वीतराग हैं, अतः वे प्रसन्न या अप्रसन्न होते ही नहीं, तो फिर 'प्रभु आप मुझ पर प्रसन्न हों' ऐसी प्रार्थना क्यों करें ?

तृप्ति : बात सही है कि, प्रभु तो वीतराग हैं । वीतराग कभी किसी के ऊपर राग या द्वेष नहीं करते और यदि करें तो वीतरागता टिक नहीं सकती, इसलिए यह प्रयोग अप्रसन्न ऐसे परमात्मा को प्रसन्न करने के लिए नहीं है, परन्तु इस वाक्य द्वारा परमात्मा की स्तुति की गई है । स्तुतिस्वरूप याचना को याचनी भाषा कहा जाता है, जो असत्य-अमृषा[18] भाषा कहलाती है, वह सत्य भी नहीं है और असत्य रूप भी नहीं है जैसे 'आपो आपो ने महाराज अमने शिवसुख आपो' वीतरागी होने के कारण वे मोक्ष का सुख देनेवाले नहीं हैं, फिर भी भक्ति से ऐसा बोला जाता है ।

18. चार प्रकार की भाषा होती है । सत्य, असत्य, सत्यमृषा और असत्य-अमृषा । जगत् में जो वस्तु जैसी है, वैसा वास्तविक प्रतिपादन करना, सत्य भाषा है । वास्तविकता का निषेध करे, वह असत्य भाषा है । कुछ सत्य और कुछ असत्य भाषा को सत्यमृषा कहते हैं और यह देवदत्त है वगैरह सत्य भी नहीं और असत्य भी नहीं, ऐसी भाषा को असत्य-अमृषा भाषा कहते हैं ।

जिज्ञासा : यदि भगवान् देते ही नहीं हैं, तो भक्ति से भी ऐसा बोलने का क्या प्रयोजन है ?

तृप्ति : परमात्मा के पास ऐसी याचना करने से चाहे परमात्मा कुछ नहीं देते, फिर भी विनम्रभाव से की हुई प्रार्थना (याचना) शुभभाव को उत्पन्न करवाकर मोहनीयादि कर्म का विशिष्ट क्षयोपशम भाव पैदा करवाती है और उससे भक्त को चित्त की प्रसन्नतारूप प्रसाद की प्राप्ति होती है । जैसे चिंतामणि रत्न जड़ होने से उसमें कोई विशेष भाव होने की संभावना नहीं है, फिर भी विधिपूर्वक उसका सेवन करनेवाले को चिंतामणि सर्व इच्छित देता ही है, उसी प्रकार भले भगवान् वीतराग हैं, फिर भी उनकी श्रद्धायुक्त भक्ति और हार्दिक स्तुति भक्त के मनोरथों को पूर्ण करती है।

'तीर्थंकर मुझ पर प्रसन्न हों' ऐसी भक्ति की प्रार्थना का परमार्थ यह है कि, **तीर्थंकरों की वाणी मेरे हृदय में परिणत हो,** क्योंकि इस संसार को पार करने का साधन परमात्मा के वचन हैं। परमात्मा के वचनों का आलंबन लेकर जीव जब योगमार्ग में प्रवृत्ति करता है, तब ही वह सच्चे सुख की दिशा में आगे बढ़ सकता है । परमात्मा के शासन के परमार्थ को पा सकता है । वैसे तो हमें पीड़ा देनेवाले राग-द्वेषादि-कषाय को निर्मूल करने का कार्य तो वास्तव में अपने ही शुभ अध्यवसाय से होता है, फिर भी **इस शुभ अध्यवसाय का प्रबल निमित्त परमात्मा और परमात्मा द्वारा प्ररूपित योगमार्ग ही है ।** परमात्मा ने राग-द्वेषादि कषायों का संपूर्ण नाश किया है और वचन द्वारा जगत् के जीवों को भी इस रागादि कषायों को दूर करने का मार्ग बताया है, इसलिए "ऐसे परमात्मा के वचन मेरे हृदय में परिणत हों" ऐसे प्रसाद की अर्थात् कृपा की परमात्मा से याचना करना योग्य ही है ।

भगवान के वचन हृदय में परिणत होना ही भगवान की कृपा है । भगवान के वचन परिणत होने का अर्थ है भगवान् के वचनों के ऊपर श्रद्धा होना । भगवान के वचनों के ऊपर जैसे-जैसे श्रद्धा होती है, वैसे वैसे मोक्षमार्ग में विघ्नभूत कर्मों का विनाश होता है । इन कर्मों का नाश होते

ही साधक मोक्षमार्ग में शीघ्र प्रवृत्ति कर सकता है । मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करते हुए मुमुक्षु का चित्त अति आह्लादित होता है । यह आह्लाद ही भगवान की कृपा से प्राप्त हुई चित्त की प्रसन्नता है और यह प्रसन्नता प्राप्त होने पर पुनः वचन पर श्रद्धा में वृद्धि होती है । उससे पुनः कर्म का नाश और मोक्षमार्ग में प्रगति होती है । इस प्रकार श्रद्धापूर्वक कर्मनाश करते हुए साधक मोक्ष तक पहुँच सकता है ।

वीतराग स्तोत्र में कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचंद्राचार्य ने कहा है कि,[19] 'हे नाथ ! मेरी प्रसन्नता से आपका प्रसाद होता है और आपकी प्रसन्नता से मुझ पर कृपा होती है। इसमें तो अन्योन्याश्रय दोष की प्राप्ति होगी, हे नाथ ! इस दोष का नाश करके आप मुझ पर प्रसन्न हों ।' यह एक भक्ति के अतिशय से हुई भक्त हृदय की प्रार्थना है । इस श्लोक में जिस प्रकार ग्रंथकर्ता ने भगवान् की प्रसन्नता की याचना की है, उसी प्रकार यहाँ भगवान की वाणी मुझ पर प्रसन्न हो, ऐसी याचना की गई है ।

इस गाथा का उच्चारण करते हुए साधक सोचता है कि,

"हे प्रभु ! आप के वचन में सब दुःखों के नाश का उपाय है परंतु वे सुखकारी वचन मेरे हृदय में कभी उतरे नहीं होंगे इसलिए मैं अनंतकाल से अनेक तरह की पीडाएँ भुगतकर दुःखी होता हुआ संसार में भटक रहा हूँ। अगर आप के वचनों के अनुसार जीवन जीया होता, तो मेरा यह हाल न होता। प्रभु ! अब मुझे यह बात समझ में आई है । अतः आपसे प्रार्थना करता हूँ कि, अब आपका वचन, आपका योगमार्ग मेरे हृदय में परिणत हो। जिससे भोग मुझे आसक्त न करे, मोह मुझे पीडित न करे और निरंतर आपकी भक्ति करके मैं विशेष प्रकार की चित्त की प्रसन्नता को प्राप्त कर सकूँ ।"

---

19. मत्प्रसत्तस्त्वत्प्रसादस्त्वत्प्रसादादियं पुनः । इत्यन्योन्याश्रयं भिन्धि प्रसीद भगवन् ! मयि ।।

- वीतराग स्तोत्र, १०-१

कित्तिय-वंदिय-महिआ : कीर्तन किए हुए, वंदन किए हुए और पूजा किए हुए,

भगवान के जो जो नाम हैं, उन नामों से संबंधित गुणों को एवं भगवान के लोकोत्तर जीवन चरित्र को हृदयस्थ करके उन गुणों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नपूर्वक उनका नामोच्चारण करना, वह **कीर्तन** है । मन से उनके विशिष्ट गुणों के प्रति बहुमान का भाव उत्पन्न करके, मस्तक झुकाकर अंजली पूर्वक वंदामि - वंदे आदि शब्दों का उच्चारण करना **वंदन** है और चंदन पुष्प-धूप आदि द्वारा परमात्मा की पूजा करना **पूजन**[20] है ।

अब इस प्रकार कीर्तन-वंदन और पूजन किए हुए वे कौन हैं, यह बताएँगे ।

जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा : जो लोक में उत्तम हैं (और) सिद्ध हैं, ऐसे ये (परमात्मा) ।

परमात्मा लोक में उत्तम हैं अर्थात् सर्व जीवों में वे श्रेष्ठ हैं । परमात्मा ने प्रबल पुरुषार्थ करके कलंकभूत मोहनीयादि कर्म को दूर किया है । इसलिए वे अन्य जीवों की अपेक्षा उत्तम हैं । दूसरी तरह सोचें तो 'तम' याने 'अंधकार' एवं 'उत' याने 'ऊँचे उठे हुए' । इस तरह उत्तम का अर्थ 'अज्ञानरूपी अंधकार से ऊपर उठे हुए' होता है । परमात्मा ने अज्ञानरूपी अंधकार को छेदकर ज्ञान का ऊँचा प्रकाश प्राप्त किया है । इसलिए वे उत्तम हैं ।

परमात्मा सिद्ध हैं । 'सित्' याने बंधे हुए 'द्ध' याने ध्मात = जलाए हुए। अतः जिन्होंने बंधे हुए कर्मों को शुक्लध्यान की अग्नि द्वारा जला दिया हो उन्हें सिद्ध कहा जाता है ।[21]

---

20. उक्तं च चूर्णौ - प्रशस्तवागादीनां दानं वंदणं, नस्यनानि अञ्जलिबन्धादिबहुमानादिप्रणिधानादिभिः सम्यग्मानादीनि 'पूय' त्ति गंधमाल्यादिभिः उक्तं च उमास्वातिवाचकेन पूजाश्च गन्धमाल्याधिवासधूपदीपाद्यैः । - चैत्यवंदन महाभाष्ये

21 उत्तमाः - प्रधानाः, ऊर्द्धवं वा तमस इत्युत्तमसः, 'उत् प्राबल्योर्ध्वगमनोच्छेदनेषु' इति वचनात् प्राकृतशैल्या पुनरुत्तमा उच्यन्ते; 'सिद्धाः' इति सितं - बद्धम्, ध्मातमेषामिति सिद्धाः कृतकृत्या इत्यर्थः; - श्री ललित विस्तरा

सिद्ध का दूसरा अर्थ कृतकृत्य भी होता है । जब तक कर्म की परवशता है, तब तक कोई न कोई प्रयोजन करना बाकी रहता है । कर्म की पराधीनता से परमात्मा मुक्त होते हैं, इसलिए उन्हें अब कुछ करना बाकी नहीं रहता। इसलिए भी वे सिद्ध हैं ।

यहाँ जो **"ए = एते"** पद का प्रयोग किया गया है, वह अभी मेरी बुद्धि में उपस्थित 'ये' के अर्थ में है । सूत्र के प्रारंभ से अब तक के पदोच्चारण द्वारा जिन तीर्थंकरों का कीर्तन, वंदन और पूजन किया गया वे अभी साक्षात्[22] मेरे सन्मुख हैं, ऐसी कल्पना करके कहा जाता है कि, जिनकी मैंने पूजादि की है ऐसे 'ये' परमात्मा ।

अब बुद्धि में प्रत्यक्ष परमात्मा से प्रार्थना की जाती है,

आरुग्ग बोहिलाभं समाहिवरमुत्तमं दिंतु : (हे परमात्मा ! मुझे) आरोग्य के लिए बोधिलाभ और श्रेष्ठ तथा उत्तम समाधि प्रदान करें ।

जो लोक में उत्तम हैं और सिद्ध हैं, वैसे कीर्तन, वंदन और पूजन किए हुए इन परमात्माओं के पास याचना करते हुए साधक कहता है, "हे नाथ! आप मुझे आरोग्य = रोग रहितता प्रदान करें" ।

आरोग्य और बोधि की विचारणा :

रोग दो प्रकार के होते हैं : १. द्रव्यरोग, २. भावरोग । वात-पित्त-कफ के विकार से शरीर में उत्पन्न होनेवाले रोगों-को **द्रव्य रोग** कहते हैं एवं राग-द्वेष आदि कषायों से आत्मा में उत्पन्न होनेवाली विकृतियों को **भावरोग** कहते हैं ।

जीव जब तक कर्मो से युक्त है, कषायाधीन है, विषयों के वश है, तब तक वह भावरोग से मुक्त नहीं हो पाता, परंतु जब जीव समस्त कर्मों का क्षय कर मोक्ष में जाता है, तब उसे पूर्ण कक्षा का भाव-आरोग्य प्राप्त होता

22. जे पच्चक्खा एए लोगस्स सुरासुराइरूवस्स । (चे.वं.म.भा., गा-३६०)

है । 'आरुग्ग' शब्द से साधक प्रभु से ऐसे भाव-आरोग्य की माँग करता है। अन्य रीति से सोचें तो इच्छा ही रोग है । अनिच्छा आरोग्य है । मैं किस वजह से सुखी हूँ एवं किस वजह से दुःखी हूँ, इसका बोध जिसे होता है वह साधक जानता है कि, इच्छा ही मेरा रोग है - मेरे दुःख का मूल है । सर्वत्र अनिच्छा का भाव ही भाव-आरोग्य है ।

साधक भगवान से आरोग्य की याचना तो करता है, परन्तु यह आरोग्य इस भव में मात्र याचना करने से प्राप्त नहीं होता । उसके लिए सम्यग् प्रयत्न जरूरी है । यह सम्यग् प्रयत्न बोधि से ही प्राप्त होता है, इसलिए इसके बाद बोधि की याचना करते हुए साधक कहता है कि,

'हे प्रभु ! इस भव में आरोग्य की प्राप्ति के कारणभूत अर्हत्भाषित धर्म की मुझे प्राप्ति हो ।' अरिहंत परमात्मा ने सम्यग्दर्शन से लेकर वीतरागता तक का धर्म बताया है । इस धर्म का तात्विक प्रारंभ जिन प्रणीत धर्म के प्रति अडिग श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन से होता है । **'तमेव सच्चं निस्संकं जं जिणेहिं पवेइयं'** - 'वही सत्य एवं शंकारहित है, जो जिनेश्वर भगवंतने कहा है।' ऐसी श्रद्धा सम्यग्दर्शन् है । सामान्य बोधकाल में यह श्रद्धा सामान्य प्रकार की होती है और बोध की सूक्ष्मता से यही सम्यग्दर्शन विशेष प्रकार से जीव को प्रकट होता है । विशिष्ट सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने पर परमात्मा के प्रत्येक वचन का स्याद्वाद की दृष्टि से (अनेक दृष्टिकोण से) बोध होता है । सामान्य तौर पर जैनकुल में मिले जन्म को भी बोधिलाभ माना जाता है, पर यहाँ वैसी बोधि अपेक्षित नहीं; यहाँ तो साधक स्याद्वाद के सूक्ष्म बोधपूर्वक मोक्षमार्ग में दृढता से यथाशक्ति प्रयत्न कर सके, ऐसी उत्तम बोधि की प्रार्थना करता है ।

श्रद्धापूर्ण बोध जब विशिष्ट बनता है, तब आत्मा बोध के अनुरूप प्रवृत्ति भी कर सकती है और बोध के अनुरूप प्रवृत्ति ही चारित्र रूप धर्म है ।

प्रारंभिक दशा में चारित्र संज्वलन कषाय से युक्त होने से कर्म के आस्रवों को उत्पन्न करता है, इसलिए उसे सास्रव चारित्र कहा जाता है । जब चारित्र शुद्ध शुद्धत्तर होता है, तब वह सब प्रकार के कषाय से मुक्त होता है । ऐसा चारित्र किसी प्रकार के कर्म के आस्रव को नहीं होने देता, इसलिए उसे निरास्रव संयम कहा जाता है । निराश्रव संयमी वीतरागता को प्राप्त कर सब कर्मों के नाश द्वारा मोक्ष तक पहुँच जाता है । यह मोक्ष ही भाव आरोग्य है, इसलिए साधक अपने आरोग्य के लिए जिनोक्त धर्मरूप बोधि की याचना करता है ।

जैसे भाव आरोग्य के लिए बोधि अनिवार्य है, वैसे प्राप्त बोधि को टिकाने के लिए समाधि अर्थात् चित्त की स्वस्थता जरूरी है ।

समाधि की विचारणा :

यह समाधि भी दो प्रकार की होती है : द्रव्य समाधि और भाव समाधि । जिससे अल्पकाल के लिए मन को स्वस्थता और काया को सुख का अनुभव हो, वह द्रव्य समाधि कहलाती है । ग्रीष्मकाल की गरमी से तप्त तृषातुर मानव को यदि ठंडा पानी मिले, तो उसकी काया को तत्काल सुख की प्राप्ति होती है और उसके मन को भी शान्ति का अनुभव होता है, यह द्रव्य समाधि है तथा जिससे चिरकाल के लिए आत्मिक सुख, शांति एवं प्रसन्नता की प्राप्ति होती है, उसे भाव समाधि कहते हैं । भाव समाधि माध्यस्थ्य भाव एवं उदासीन वृत्ति से प्रकट होती है । भाव समाधि आत्मा का स्वाभाविक एवं स्वाधीन भाव है । उसकी शुरुआत सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद ज्ञान-दर्शन-चारित्र गुणों की आराधना करते करते होती है । उसकी पराकाष्ठा सर्वसंवरभाव के चारित्र की प्राप्ति में है ।

द्रव्य समाधि अल्प काल के लिए तन-मन को स्वस्थ करती है; परन्तु निमित्त मिलने पर या निमित्त के बिना भी चित्त पुनः अस्वस्थ हो जाता है । द्रव्य समाधि में दूसरों की अपेक्षा रहती है, जब कि भाव समाधि पाने के

लिए किसी की कोई भी अपेक्षा नहीं रहती एवं एक बार प्राप्त होने के बाद भाव समाधि चिरकाल तक टिकी रहती है ।

यहाँ **'समाहिवरमुत्तमं'** शब्द प्रयोग से प्रतीत होता हैं कि मुमुक्षु को उत्तम कोटि की भावसमाधि चाहिए, ऐसी समाधि जिसका किसी भी परिस्थिति में नाश न हो । ऐसी श्रेष्ठ समाधि तब ही मिलती है, जब चित्त सर्वत्र उदासीन वृत्तिवाला बनें, मन-वचन और काया समिति और गुप्ति से युक्त बनें, श्रेष्ठ कोटि के संयम भाव में आत्मा स्थिर बनें । साधक की आशंसा है कि, ऐसी उत्तम समाधि उसे प्राप्त हो, जो जन्मांतर में भी बोधि की प्राप्ति करवाकर उसे मोक्ष तक ले जाए ।

वैसे तो तीर्थंकर की कृपा प्राप्त होते ही आरोग्य आदि की प्राप्ति हो ही जाती है, फिर भी कल्याण के अभिलाषी जीवों को आरोग्यादि भावों का अति महत्त्व है, जिसके कारण वे उसे अलग से याचना के रूप में व्यक्त करते हैं तथा कल्याण की प्राप्ति में यह तीन (भाव आरोग्य, बोधि और समाधि) अत्यंत महत्त्व के अंग हैं। उनका महत्त्व अत्यंत स्पष्ट समझाने के लिए अलग ग्रहण किया गया है, ऐसा प्रतीत होता है ।

इस गाथा का उच्चारण करते हुए परमात्मा का स्मरण कर मस्तक झुकाकर प्रार्थना करनी चाहिए कि,

'हे भगवंत ! मैं अनंतकाल से भावरोग से व्यथित हूँ । उसके कारण मेरे द्रव्य रोगों को भी पार नहीं आता । इस रोग को दूर करने के लिए परम आरोग्य को प्राप्त किए हुए हे परमात्मा ! आपसे भाव आरोग्य एवं उसकी कारणभूत बोधि तथा समाधि की याचना करता हूँ । हे नाथ ! यदि मुझ में योग्यता लगे, तो कृपा करके मुझे औषध प्रदान करें ।'

चंदेसु निम्मलयरा : अनेक चंद्रों[23] से अधिक निर्मल,

23. मूल में 'चंदेसु' में सप्तमी विभक्ति हैं, परन्तु वह पंचमी के अर्थवाली है । प्राकृत में इस प्रकार अर्थ के भेद से बहुत बार विभक्ति का भेद देखा जाता हैं ।

दुनिया में चंद्र अति निर्मल माना जाता है । वैसे तो निर्मलता का कोई मापदंड नहीं होता, फिर भी कल्पना से एक चंद्र की जितनी निर्मलता हो, उससे अनेक चंद्रों की निर्मलता कई अधिक होती है। ऐसे असंख्य चंद्रों के इकट्ठा होने से जितनी निर्मलता होती हैं, परमात्मा की निर्मलता उससे भी अनंतगुणी है। चंद्र की निर्मलता शाश्वती नहीं है, जब कि परमात्मा में कर्ममल के नाश से उत्पन्न होनेवाली निर्मलता शाश्वती होती है । पुद्गल की निर्मलता रागी आत्मा के लिए रागवृद्धि का कारण बनती है, जब कि कर्ममल के नाश से उत्पन्न हुई परमात्मा की निर्मलता किसी के कषाय का कारण नहीं बनती, बल्कि ऐसे परमात्मा के दर्शन से कषाय का नाश जरूर हो जाता है । जैसे चंद्रमा शीतलता और प्रकाश गुण के कारण निर्मल है, वैसे ही परमात्मा कषायों के नाश के कारण निर्मल और शीतल हैं ।

आइच्चेसु अहियं पयासयरा : सूर्यों[24] से अधिक प्रकाश करनेवाले ।

बहुत से सूर्य इकट्ठे होकर भी परिमित क्षेत्र को ही प्रकाशित कर सकते हैं और वह भी मात्र द्रव्य प्रकाश फैलाकर मात्र बाह्य जगत का ही दर्शन करवा सकते हैं, जब कि केवलज्ञान के प्रकाश द्वारा परमात्मा जगत् के बाह्य - आभ्यंतर सभी भावों को जानते हैं । जाने हुए उन भावों को जगत के जीवों को वचन द्वारा बताते हैं । जगत का यथार्थ स्वरूप जानकर परमात्मा हित में प्रवृत्ति और अहित से निर्वृत्ति करने रूप सन्मार्ग को प्रकाशित करते हैं । इस प्रकार परमात्मा बाह्य और अभ्यंतर दोनों मार्गों को प्रकाशित करते हैं । द्रव्य मार्ग को प्रकाशित करने के बजाय भाव मार्ग को प्रकाशित करना अत्यंत महत्त्वपूर्ण है इसलिए परमात्मा सूर्य से भी अधिक प्रकाश करनेवाले कहे गए हैं तथा बादल वगैरह का आवरण आने से सूर्य धुंधला हो जाता है, जब कि परमात्मा में जो केवलज्ञान का प्रकाश प्रकट हुआ है, उसे किसी प्रकार का आवरण बाधा नहीं पहुँचा सकता ।

---

24. यहाँ भी विभक्ति का फेरफार पूर्व की तरह समझ लें ।

सागरवरगंभीरा : श्रेष्ठ समुद्र (स्वयंभूरमण समुद्र) जैसे गंभीर ।

समुद्रों में सबसे श्रेष्ठ स्वयंभूरमण समुद्र है । एक राजलोक प्रमाण तिर्च्छालोक में अर्ध राजलोक में असंख्य, द्वीप और समुद्र हैं और बाकी के आधे राजलोक में मात्र स्वयंभूरमण समुद्र है । इस प्रकार यह कद में सबसे बड़ा और अतिगंभीर है । किसी भी प्रकार के उपद्रवों से क्षोभायमान होने पर भी उसका जल अपनी मर्यादा के बाहर नहीं जाता।

परमात्मा की गंभीरता स्वयंभूरमण समुद्र से भी अधिक है, क्योंकि स्वयंभूरमण समुद्र तो पवन आदि की प्रतिकूलता में विचलित हो जाता है। जब कि परमात्मा तो घोर उपसर्गों अथवा परिषहों में लेश मात्र भी विचलित नहीं होते । वे अपने स्वभाव में ही स्थिर रहते हैं अथवा स्वयंभूरमण समुद्र जैसे अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता, वैसे भगवान् भी अपने स्वभाव से विभाव में नहीं जाते ।

कहा जाता है कि, समुद्र गंभीर होने के कारण सब कुछ संग्रह करता है, किसी भी चीज को अपने अन्दर में समा लेता है, फिर भी वह कभी मुर्दे को ग्रहण नहीं करता । जब कि परमात्मा जगत् के तमाम अशुभ भावों, एवं दोषों को जानते हैं, देखते हैं, फिर भी उन भावों का लेश मात्र भी असर उनके मन पर या मुख पर नहीं होता । तमाम दोषों को अपने ज्ञान में समा लेते हैं, इसलिए भगवान सागर से भी गंभीर हैं ।

सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु : हें सिद्ध भगवंतो ! मुझे सिद्धि प्रदान करें ।

कर्ममल रहित, केवलज्ञानी और अति गंभीर हे सिद्ध भगवंतो ! मुझे महाआनंद स्वरूप, महोत्सवरूप, अनंत सुख के धाम स्वरूप सिद्धि = मोक्ष प्रदान करें ।

अरिहंत भगवंत चार अघाती कर्मवाले हैं, इसलिए वैसे तो उन्हें सिद्धि की प्राप्ति नहीं हुई, फिर भी उन्हें सिद्धि की प्राप्ति हो चुकी है, ऐसा भाव

उपस्थित करने के लिए उनमें सिद्धावस्था का आरोप करके उन्हीं को सिद्ध की तरह संबोधन करके कहा है कि, हे सिद्ध भगवंत ! मुझे सिद्धि प्रदान करें अथवा सिद्ध भगवंतों से ही सिद्धि की याचना की गई है ।

इस गाथा का उच्चारण करते समय जो शीघ्र ही सिद्धगति को पानेवाले हैं, ऐसे अरिहंत परमात्मा को या सर्व सिद्ध भगवंतों को स्मरण में लाकर, हाथ जोड़कर, मस्तक झुकाकर प्रार्थना करनी चाहिए कि,

'हे सिद्ध भगवंत ! आप तो सर्व कर्म का नाश करके मोक्ष में पहुँच गये हैं । आप तो आत्मा के महान आनंद का अनुभव कर रहे हैं । सर्वश्रेष्ठ सुख के आप स्वामी हैं । मैं भी इस आनंद की अनुभूति कर पाऊँ ऐसा सामर्थ्य मुझे दे जिससे मेरा जीवन भी मोक्ष के अनुकूल बने ।'

यहाँ भी जो सिद्धि की याचना की गई है वह याचना करने से भगवान दे देंगे, ऐसा नहीं है, फिर भी इस प्रकार की याचना मोक्ष के प्रति अपने लगाव को पुष्ट करता है । इस प्रकार पुनः पुनः याचना करने से शुभभाव पैदा होता है । शुभभाव कर्म का नाश करवाकर मोक्षप्राप्ति का विशेष सत्त्व उल्लसित करता है, इसीलिए ऐसे गुणवान व्यक्ति से की गई याचना योग्य है, यह कोई निदान स्वरूप भी नहीं है और निरर्थक भी नहीं है क्योंकि, इसमें कोई सांसारिक सुख की आकांक्षा नहीं है और वीतराग से की हुई यह याचना अवश्य शुभभाव द्वारा उत्तरोत्तर इष्ट वस्तु की प्राप्ति करवाती है, इसलिए सार्थक ही है ।

करेमि भंते सूत्र

सूत्र परिचय :

"करेमि भंते सूत्र" द्वारा सामायिक की प्रतिज्ञा की जाती है, इसलिए इस सूत्र का दूसरा नाम **'सामायिक प्रतिज्ञा सूत्र'** भी है । सामायिक लेने की विधि में यह सूत्र मुख्य एवं सरल पाठ रूप होने से इसे **'सामायिक दंडक सूत्र'** भी कहते हैं । इसके अलावा, इस सूत्र को समग्र द्वादशांगी का सार भी कहते हैं क्योंकि, द्वादशांगी की तरह यह सूत्र भी विभाव दशारूप सावद्य योग या असामायिक के परिणामों को त्याग कर स्वभाव दशा तथा सामायिक के भावों की तरफ ले जाने का यत्न करवाता है ।

इस सूत्र द्वारा की हुई सामायिक की प्रतिज्ञा में तीन काल संबंधी तीन प्रकार के संकल्प किये जाते हैं । १. मैं सामायिक करता हूँ । इस पद से **वर्तमान काल** में सामायिक करता हूँ, ऐसा वर्तमान काल संबंधी संकल्प होता है । २. 'जब तक मैं नियम में हूँ, तब तक मैं सावद्य योगों का पच्चक्खाण करता हूँ,' ऐसा कहने से भविष्य में सामायिक की काल मर्यादा तक मैं पाप नहीं करूँगा, ऐसा **भविष्यकाल** संबंधी संकल्प किया जाता है एवं ३. 'मैं प्रतिक्रमण करता हूँ, सावद्य व्यापार की निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ;' ऐसा कहने से **भूतकाल** के पापों से मुक्त होने का संकल्प किया जाता है ।

मोक्षाभिलाषी समझता है कि, सब पापों से निवृत्तिरूप सामायिक राग-द्वेष के अभावस्वरूप समभाव के बिना प्राप्त नहीं होती एवं उसके बिना कभी मोक्ष नहीं मिलता। मोक्ष की अत्यंत इच्छा होते हुए भी जिसमें यह सामर्थ्य नहीं कि, वह सब पाप प्रवृत्ति का त्याग कर सर्वविरति स्वीकार सके, वैसे असमर्थ श्रावक इस सूत्र द्वारा सर्वविरति के अभ्यास के लिए **'जाव नियमं पज्जुवासामि'** पाठ बोलकर दो घड़ी तक मन-वचन-काया से पाप नहीं करूँगा एवं नहीं करवाऊँगा, ऐसी प्रतिज्ञा ग्रहण करते हैं । जब कि सर्वविरति स्वीकारनेवाले साधक तो इस सूत्र द्वारा **'जावज्जीवाअे'** ऐसा पाठ बोलकर 'जब तक जीवन है तब तक मन-वचन-काया से पाप नहीं करूँगा' नहीं करवाऊँगा एवं करनेवाले का अनुमोदन नहीं करुँगा' ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं एवं विशिष्ट समभाव प्रकट करने का यत्न करता है ।

सर्वविरति सामायिक की यह प्रतिज्ञा एक भीष्म प्रतिज्ञा है । अनादिकाल से पापों से जुडी हुई आत्मा के लिए यह प्रतिज्ञा मोम के दांतों से लोहे के चने चबाने जैसी, मेरु पर्वत के भार को वहन करने जैसी एवं राधावेध साधने जैसी है। इसीलिए मुनि भगवंत व्रत के परिणामों की दृढ़ता के लिए एवं पुनः पुनः अपनी प्रतिज्ञा को याद करने के लिए एक दिन में नौ नौ बार यह सूत्र बोलते हैं । जैसे करोड़ों के ज़ेवर लेकर बाजार में जाते हुए जौहरी का ध्यान सतत अपने हीरों में होता है, वैसे ऐसी कठोर प्रतिज्ञा स्वीकारने के बाद मुनि भी यह सावधानी रखते हैं कि संसार के अच्छे - बुरे भाव में कोई प्रतिबंध न हो जाए ।

इस सूत्र द्वारा जो सामायिक की प्रतिज्ञा ग्रहण की जाती है, वह एक विशिष्ट कोटि की प्रतिज्ञा है । इसीलिए, इस प्रतिज्ञा का जिसे योग्य तरीके से पालन करना हो उसे इस सूत्र का अर्थ सम्यग् प्रकार से गीतार्थ

नोंध : इस सूत्र द्वारा दो घड़ी पाप के विराम रूप देशविरति की तथा जब तक जीवन है तब तक पाप के विरामरूप सर्वविरति की प्रतिज्ञा की जाती है । इन दोनों वस्तुओं को ध्यान में रखकर सामान्य से सूत्र का परिचय दिया है । परन्तु वाचकवर्ग यथायोग्य विभाग करके समझे ।

गुरु भगवंत से जान लेना चाहिए । गुरु भगवंत से अर्थ समझने के बाद उस अर्थ का सतत परिशीलन करके उसे आत्मसात् करना चाहिए, तो ही सामायिक की प्रतिज्ञा सम्यग् प्रकार से पाली जा सकती है ।

इस प्रतिज्ञा के विशुद्ध पालन के लिए श्रावकों तथा साधु भगवंतों को अपने मन-वचन-काया के योगों को स्वाध्याय में, जाप में या गुरु वैयावच्च में इस तरीके से जोड़ना चाहिए कि जगत् के भावों से उनका मन मुक्त हो जाए और सूत्रार्थ की परावर्तना द्वारा पूर्व में जो सावद्य योग के संस्कार पड़े हों वे भी धीरे धीरे अल्प अल्पतर होते जाए ।

दुनियाभर के पापों के साथ अपना सीधा या परंपरा से संबंध किस तरह है ? उसके कारण अपनी आत्मा किस तरीके से सतत कर्म बंध करती है ? उन उन भावों के परिणमन से अपने में किस तरह से विह्वलता एवं व्यथा उत्पन्न होती है ? इन सभी का विचार करके इस सूत्र द्वारा दुनियाभर के पापों से अटकना है । जिसमें यह ज्ञान नहीं होता, वह आत्मा इस सूत्र को बोलकर सावद्य प्रवृत्ति से अटकने का प्रयत्न नहीं कर सकती, अर्थात् पाप से विराम भी नहीं पा सकती एवं इस प्रतिज्ञा से उसे आनंद की अनुभूति भी नहीं होती ।

इस सूत्र को बोलकर हम शायद इस भव में तन-मन से पुणिया श्रावक जैसी देश से सामायिक एवं भगवान वीर जैसी सर्वविरति सामायिक नहीं कर सकते, तो भी इस सूत्र के अर्थ को पढ़कर ऐसी विशिष्ट सामायिक की रुचि जगाने का प्रयत्न करेंगे तो जरूर पुण्यानुबंधी पुण्य बांधकर विशिष्ट सामग्री को प्राप्त करके, पुनः सामायिक के संस्कारों को जागृत करके, एक दिन हम भी अपने श्रेय को अवश्य प्राप्त कर सकेंगे । इस अभिलाषा के साथ इस सूत्र के अर्थ को हमें अपने चिंतन-मनन का विषय बनाना है ।

मूल सूत्र :

करेमि भंते ! सामाइयं, सावज्जं जोगं पच्चक्खामि।
जाव नियमं पज्जुवासामि, दुविहं, तिविहेणं,
मणेणं वायाए काएणं, न करेमि, न कारवेमि ।
तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।

पद- संपदा- अक्षर : ७६

अन्वय एवं संस्कृत छाया सहित शब्दार्थ :

भंते ! सामाइयं, करेमि

भदन्त ! सामायिकं करोमि,

हे भगवंत ! मैं सामायिक करता हूँ ।

जाव नियमं पज्जुवासामि, सावज्जं जोगं पच्चक्खामि, दुविहं, तिविहेणं मणेणं, वायाए, काएणं, न करेमि, न कारवेमि,

यावत् नियमं पर्युपासे, सावद्यं योगं प्रत्याख्यामि। द्विविधं त्रिविधेन, मनसा वाचा कायेन, न करोमि, न कारयामि ।

जब तक मैं नियम में हूँ (तब तक) मैं सावद्य योगों का पच्चक्खाण करता हूँ, दो प्रकार से एवं तीन प्रकार से अर्थात् मन-वचन-काया से (सावद्य योगों को) नहीं करूँगा, नहीं करवाऊँगा ।

तस्स भंते ! पडिक्कमामि,

तस्य भदन्त प्रतिक्रामामि

उनका (अभी तक भूतकाल में जो सावद्य प्रवृत्तियाँ की थीं, उन सावद्य व्यापारों का) हे भदन्त ! मैं प्रतिक्रमण करता हूँ ।

निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ।

निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ।।

(उन सावद्य व्यापारों की) मैं निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ एवं उन सावद्य व्यापारों को करने वाली अपनी आत्मा का अत्यंत त्याग करता हूँ ।

विशेषार्थ :

करेमि भंते सामाइयं : हे भगवंत, मैं सामायिक करता हूँ ।

करेमि = करता हूँ । पहले दो खमासमण देकर गुरु महाराज से सामायिक की आज्ञा माँगकर साधक कहता है कि, 'हे भगवंत, मैं सामायिक करता हूँ।'

इससे यह निर्णीत होता है कि सर्व आवश्यकों में जो प्रथम सामायिक आवश्यक है वह भी यदि गुरु को आमंत्रण देकर गुरु के अधीन रहकर उनकी अनुज्ञा से ही करना है, तो दूसरे सर्व शुभानुष्ठान भी गुरुकुलवास में रहकर गुरु आज्ञा के अनुसार ही करने चाहिए, क्योंकि तभी विनयगुण से संपन्न हो सकते हैं । शास्त्र में कहा गया है, "आयरस्स मूलं विणओ" सर्व आचार का मूल विनय है । विनयवान ही तप-संयम को प्राप्त कर सकता है । विनय-विहीन कोई भी व्यक्ति धर्म को प्राप्त नहीं कर सकता ।

भंते शब्द के भिन्न भिन्न अर्थ :–

भंते = हे पूज्य !

'भंते' शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ में प्रयुक्त है । उसके द्वारा देव-गुरु एवं आत्मा इन तीनों का स्मरण हो सकता है । उसमें सबसे पहले गुरु की उपस्थिति करने के लिए भंते की छाया 'भदंत' करनी है ।

१. **भदंत**[1] - हे कल्याणकारी एवं सुखकारी । निश्चित कल्याण एवं सुख को जिन्होंने पाया है एवं उपदेश आदि द्वारा जिन्होंने अन्यों को कल्याण एवं सुख का मार्ग बताया हैं, वे भदंत हैं । ऐसे गुरु भगवंत को ध्यान में लाकर, कल्याण एवं सुख का अर्थी साधक उनको आमंत्रण देकर कहता है, 'हे भदन्त ! मैं सामायिक करता हूँ ।

गुरु भगवंत ने अपनी इन्द्रियों को बस में कर लिया है और इस तरह वे अपनी आत्मा का कल्याण कर रहे हैं, इसीलिए वे सच्चे अर्थ में सुखी हैं ।

1. **'भदंत' शब्द भद्+अण** धातु से बना है । **भद्** = कल्याण-सुख, **अणति** = स्वयं सुख प्राप्त करे एवं दूसरों को दिलाएँ ।

परन्तु जो लोग स्वयं इन्द्रियों के वश में होते है, वे दुःखी एवं अशुद्ध होते हैं । इसलिए, कल्याणकारी अनुष्ठानों में वैसे लोगों को आमंत्रण नहीं दिया जाता ।

२. भवांत एवं भवंत - जिन्होंने भव का अंत किया है एवं जो सातों भयों से संपूर्ण मुक्त हैं, वैसे अरिहंत[2] भगवंतों को इस शब्द से याद करना है ।

भव निस्तार की इच्छावाला एवं भय से मुक्त होने की आकांक्षावाला साधक ऐसे अरिहंत परमात्मा को आमंत्रण देकर कहता है, 'हे भवांत ! मैं सामायिक करता हूँ । मेरी यह सामायिक की क्रिया भव एवं भय का नाश करनेवाली बने, इसमें आप भी सहायता करें ।'

३. भंते[3] - भंते शब्द का अर्थ आत्मा भी होता है । इस पद से आत्मा[4] को भी आमंत्रण है । भंते - हे आत्मन् ! मैं अब सभी अविरति की क्रिया का त्याग कर सामायिक के उपयोग वाला बनता हूँ । तुम भी मेरी इस क्रिया में सविशेष सहायक बनना ।

इस प्रकार 'करेमि भंते' शब्द द्वारा देव, गुरु एवं अपनी आत्मा को आमंत्रित कर मोक्षार्थी आत्मा सामायिक करता है । देव, गुरु एवं आत्मा की साक्षी से सामायिक करने से व्रत में स्थिरता आती है । देव-गुरु मेरे समक्ष हैं ऐसी वासना से लज्जा, भयादि के कारण भी अतिचारों का सेवन करते हुए अटक सकते हैं । करेमि भंते शब्द बोलते ही अरिहंत भगवंत, गुरु भगवंत एवं मेरी आत्मा मेरे सामने हैं । मैं उन्हें परतंत्र होकर उनकी आज्ञा को स्वीकार कर वर्तमान में मोक्षमार्ग के अनुकूल जो समता का परिणाम है, उसके लिए प्रयत्न करता हूँ, ऐसा भाव प्रगट करना है ।

---

2. वि.आ.भा. भा. २ गाथा ३४७२
3. **भंते** शब्द का इसके अलावा **भ्राजन्त-भ्रांत-भजन्त-भान्त** वगैरह अर्थ भी हैं । परन्तु यहाँ विस्तार बढ़ने से नहीं लिया है । विशेष जिज्ञासु वि.आ.भा.भा.२ गाथा ३४३९ से ३४७६ देख लें।
4. वि.आ.भा.भा. २ गाथा ३४७०

सामाइयं - समता का लाभ जिससे हो, उसे सामायिक कहते हैं । सामायिक शब्द के बहुत अर्थ हैं, परन्तु उन सब का भाव तो यही है कि, आत्मा को समता भाव में रखना । ममताकृत-कषायकृत दोषों के कारण हुई विषमता से हटकर आत्मा को अपने ज्ञानादि गुणों में प्रवृत्त करना, सामायिक है ।

सामायिक शब्द का विशेष अर्थ :

सामायिक शब्द के अलग-अलग अर्थ इस प्रकार हैं -

१. सामायिक अर्थात् सद् व्यवहार ।

२. सामायिक अर्थात् शास्त्रानुसार शुद्ध जीवन जीने का प्रयत्न ।

३. सामायिक अर्थात् समस्थिति, विषमता का अभाव, विभाव में से स्वभाव में लीनता । अनादिकाल से आत्मा राग-द्वेष की विषम स्थिति में रही हुई है, उससे दूर होकर आत्मा को समभाव में लीन करना, यही सामायिक का भावार्थ है ।

४. सामायिक अर्थात् सभी जीवों के प्रति मित्रता[5] या बंधुता की प्रीति । सब जीवों को आत्म तुल्य मानकर उनके साथ समानभाव से व्यवहार करना, सामायिक है ।

५. सामायिक अर्थात् समभाव की साधना = राग द्वेष को जीतने का परम पुरूषार्थ ।

६. सामायिक अर्थात् दर्शन-ज्ञान-चारित्र का समन्वय । श्रद्धा एवं ज्ञानपूर्वक चारित्र का आचरण करना उसका सार है ।

७. सामायिक अर्थात् अहिंसा की आराधना । अन्य को दुःख नहीं देने का निश्चय ।

८. सामायिक अर्थात् समभाव = माध्यस्थ्य भाव अर्थात् राग-द्वेष के कारण होनेवाले पक्षपात का अभाव । कोई कुल्हाड़ी से देह को काटे तो

5. वि.आ.भा.भा. २ गाथा ३४८१

उसके प्रति द्वेष नहीं एवं कोई चंदन से विलेपन करें, तो इसके प्रति राग नहीं, उन दोनों के प्रति समान भाव रखना, सामायिक है ।

सामायिक के ये अर्थ व्यवहारिक दृष्टि से भिन्न होते हुए भी तात्त्विक दृष्टि से एक ही हैं क्योंकि, सद्व्यवहार समभाव के बिना संभव नहीं है शास्त्रानुसारी शुद्ध जीवन भी समभाव से ही सिद्ध होता है, क्योंकि शास्त्रों में समभाव से युक्त जीवन का ही निर्देश किया गया है । इसलिए ऐसा जीवन जीने के लिए समभाव को सिद्ध करना जरूरी है । आत्मा की अनादिकाल से चली आ रही विषम स्थिति का अंत भी समभाव की साधना से ही आता है । इसके अतिरिक्त, सभी जीवों के प्रति मित्रता या भाईचारे का भाव भी समभाव का स्पष्ट स्वरूप है; क्योंकि सभी जीवों के प्रति आत्म तुल्यता का भाव हो, तभी मित्रता होती है तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनों का समन्वय भी समता के बिना नहीं होता । इस तरह, सब अर्थों का समन्वय हो जाए वैसा, 'समभाव की साधना' यह सामायिक शब्द का योग्य अर्थ है ।

संसारवर्ती किसी भी पदार्थ में ममत्व-राग-द्वेष आदि भाव असामायिक भाव है एवं तमाम भावों में मात्र ज्ञाता भाव अर्थात् उस पदार्थ का ज्ञान करना और पदार्थ के ज्ञान के साथ उसमें अच्छे-बुरे या इष्ट-अनिष्ट से किसी भी भाव का स्पर्श न होने देना, सामायिक का परिणाम है । साधारणतया, ऐसा सामायिक का परिणाम बहुत ऊपर की कक्षा में आता है। तो भी इस प्रकार के परिणाम को लक्ष्य बनाकर सामायिक के दौरान अगर यत्न किया जाए, तो तत्त्व का पक्षपाती यह सामायिक अन्य सामायिकों से विशिष्ट बन सकता है ।

भूमिकाभेद से सामायिक का वर्णन :

सामायिक शब्द के उपर्युक्त अर्थ सर्वश्रेष्ठ स्तर की सामायिक को ध्यान में रखकर किये हैं । परन्तु प्रत्येक मुमुक्षु की आराधना के योग्य सामायिक भूमिका के भेद से विविध प्रकार की है ।

राग-द्वेष के सर्वथा अभावरूप सामायिक तो वीतराग की ही होती है । वीतराग अवस्था ग्यारहवें गुणस्थानक से पहले प्राप्त नहीं होती । साधक जब ग्यारहवें से चौदहवां गुणस्थानक प्राप्त करता है, तभी सर्वथा राग-द्वेष के अभाव रुप सामायिक हो सकती है ।

वीतराग अवस्था की पूर्व अवस्था में राग-द्वेष तो होते हैं, परन्तु वे इतने सूक्ष्म होते हैं कि, जिससे साधक की मोक्ष या संसार विषयक **'मोक्षे भवे समो मुनिः'** समवृत्तिवाली ही निर्विकल्प अवस्था होती है । ऐसी निर्विकल्प अवस्था की सामायिक अप्रमत्त मुनियों को ७ से १० गुणस्थान तक होती हैं।

इससे नीचे की कक्षा में रहे हुए मुनि भी संसार के तमाम भावों के प्रति उदासीन होते हैं । इसीलिए संसार के अनुकूल या प्रतिकूल संयोगों में, शाता या अशाता के उदय में उनको समभाव रूप सामायिक होती है । ऐसा होते हुए भी उनको मोक्ष के प्रति तीव्र राग एवं संसार के भावों के प्रति तीव्र द्वेष होता है । इसीलिए, वे संसार के तमाम भावों से छूटकर, मोक्ष की शीघ्र प्राप्ति के लिए भगवान के वचन के अनुसार सतत प्रयत्नशील रहते हैं । संयम जीवन में कोई दोष न लगे उसके लिए उनका निरंतर प्रयास चालू रहता है । यह निरतिचार चारित्र स्वरूप समभाव है ।

इससे नीचे की भूमिका के मुनियों को भी मोक्ष की तीव्र इच्छा होती है एवं संसार के प्रति द्वेष भी होता है । ऐसा होने पर भी उनकी मोक्ष की इच्छा निरतिचार संयमवाले मुनि जैसी नहीं होती । इस कारण मोक्ष के लिए भगवान की आज्ञानुसार प्रवृत्ति करते हुए भी उनमें पुनः पुनः स्खलना होने की संभावना रहती है । ऐसे छट्ठें गुणस्थानकवर्ती मुनियों को सातिचार सामायिकवाले मुनि कहते हैं ।

श्रावकों को भी मोक्ष के उपाय रूप सामायिक की इच्छा रहती है, तो भी उनका ऐसा सत्त्व नहीं होता कि, वे उपर्युक्त में से एक भी सामायिक कर सकें । फिर भी सर्व सावद्य के त्यागरूप सर्वविरति के अभ्यास के लिए सर्वविरति के निकट जाने के लिए वे यह सूत्र बोलकर ४८ मिनट के लिए

देश से (आंशिक रूप से) सावद्य योगों का त्याग करते हैं। तब मन-वचन-काया से वे एक भी सावद्य प्रवृत्ति नहीं करते, तो भी वे अपने-कुटुंब, संपत्ति आदि के प्रति ममत्वकृत संबंध नहीं छोड़ सकते - सामायिक के दौरान कुटुंब-परिवार-संपत्ति आदि का व्यक्तरूप विचार न होते हुए भी संस्कार रूप से तो उनके साथ नाता नहीं छूटता । इसीलिए वे मुनि की तरह 'तिविहं तिविहेणं' का पच्चक्खाण न लेकर 'दुविहं तिविहेणं' का पच्चक्खाण करते हैं ।

देश से सामायिक की प्रतिज्ञा करनेवाले पाँचवें गुणस्थान में रहे हुए श्रावक भी ऐसे उपयोगवाले होते हैं कि सामायिक के समय संसार के तमाम भावों के प्रति राग-द्वेष का परिणाम उत्पन्न न हो। ऐसा होने के बावजूद भी वे संपत्ति आदि के प्रति ममत्व का त्याग नहीं कर सकते, इसलिए उनकी सामायिक मुनि की अपेक्षा निम्न स्तर की होती है ।

'करेमि भंते सामाइअं' इतना बोलते समय देव, गुरु एवं अपनी आत्मा को स्मृति पट पर बिराजित कर दो हाथ जोड़कर मस्तक झुकाकर साधक प्रतिज्ञा करते हुए ऐसा भाव व्यक्त करता है,

'हे भगवंत ! मैं सामायिक करता हूँ । अब मैं सर्वत्र समभाव में रहने का यत्न करूँगा । कभी अनादिकाल के कुसंस्कार मुझे परेशान करें, मेरे मन को विचलित करें तब आप मेरी रक्षा कीजिएगा । मेरी सहयता कीजिएगा और प्रतिज्ञा का विशुद्ध पालन करने के लिए मुझे समर्थ बनाइएगा ।'

अब सामायिक की प्रतिज्ञा का पालन करने के लिए जिसका त्याग करना जरूरी है, उस पाप प्रवृत्ति का त्याग करने के लिए साधक कहता है कि,

सावज्जं जोगं पच्चक्खामि : मैं सावद्य योगों का (प्रवृत्तिओं का) पच्चक्खाण करता हूँ ।

यह पद भविष्य के पाप-व्यापार का त्याग सूचित करता है । श्रावक जितने समय सामायिक में रहता है, उतने समय के भविष्यकाल संबंधी सावद्य योगों का त्याग करता है एवं मुनि भगवंत 'सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि' बोलकर आजीवन सर्व सावद्य योगों को न करुँगा, न करवाऊँगा एवं उनकी अनुमोदना नहीं करूँगा याने उसको अच्छा नहीं मानुंगा; इस प्रकार से त्याग करते हैं।

'सावज्जं' 'जोगं' का विशेषण है । सावद्य समझने के लिए पहले अवद्य की व्याख्या समझनी पड़ेगी । **'वदितुम् अयोग्य इति अवद्यः'** - जो बोलने योग्य नहीं होता, उसे अवद्य कहते हैं अर्थात् जो कार्य गर्हित है, निंदित है, पाप स्वरूप है, जिसे करने के बाद सज्जन पुरुष दूसरों को बताने में संकोच करते हों, उन्हें शर्म आती है वह कार्य अवद्य है । ऐसे अवद्य सहित जो हो, वह सावद्य कहलाता है अथवा सावद्य अर्थात् अप्रशस्त प्रकार के कषाय के कारण होनेवाली किसी भी प्रकार की अनुचित प्रवृत्ति सावद्य प्रवृत्ति है ।

जोगं[6] = योग शब्द 'युज्' धातु से बना है । वह जोड़ने के अर्थ में प्रयोग होता है । आत्मा जिसके द्वारा चलने आदि की क्रिया के साथ जुड़ती है वह योग, अथवा जिससे आत्मा कर्म के साथ जुड़ती है, वह योग है । मन, वचन एवं काया के व्यापार ही आत्मा को सोचनेवाली, बोलनेवाली, चलनेवाली क्रिया के साथ या कर्म के साथ जोड़ते हैं । इसलिए मन, वचन, काया के व्यापार योग कहलाते हैं । ये योग दो प्रकार के होते हैं - प्रशस्त एवं अप्रशस्त सम्यक्त्वादि गुणों की प्राप्ति के लिए किया हुआ वीर्य व्यापार प्रशस्त योग है एवं संसार की वृद्धि के लिए प्रवृत्त वीर्य अप्रशस्त योग है । अप्रशस्त योग सावद्य योग है । अगर मात्र योगों के त्याग की प्रतिज्ञा की जाए, तो मन-वचन-काया के सर्व योगों का त्याग करना पड़ता है, परन्तु प्रस्तुत में सर्व योगों का त्याग अपेक्षित नहीं है, मात्र आत्मा का अहित करनेवाले सर्व सावद्य योगों का ही त्याग करना अभीष्ट है । सर्व योगों का

6. वि.आ.भा.मा. २ गाथा ३४९८ से ३५०१

त्याग तो सर्वसंवर भाव के सामायिक में १४वें गुणस्थानक के शैलेशीकरण में ही होता है।

'पच्चक्खामि'[7] शब्द का अर्थ होता है 'निषेधपूर्वक अभिव्यक्त करता हूँ' अर्थात् अनुचित प्रवृत्ति का त्याग एवं स्वाध्याय, ध्यान आदि उचित प्रवृत्ति करने का निर्णय करता हूँ ।

जैनशासन का कोई भी पच्चक्खाण अंदरूनी तौर से अनुचित प्रवृत्ति का निषेध एवं उचित प्रवृत्ति का कथन करनेवाला ही होता है। सामायिक की प्रतिज्ञा भी उचित प्रवृत्ति प्रधान है। सामायिक की प्रवृत्ति भी औचित्यपूर्ण[8] प्रवृत्ति के पालन एवं अनुचित सावद्य प्रवृत्ति के निषेध से ही नभती है ।

'हे भगवंत ! में सामायिक करता हूँ एवं सावद्य योगों का पच्चक्खाण (त्याग) करता हूँ । ऐसी प्रतिज्ञा श्रुतज्ञान के एक उपयोगरूप है - श्रुत की परतंत्रता को स्वीकार करने रूप है । इसलिए जिसके मन-वचन-काया सतत शास्त्र से नियंत्रित रहते हों, वही साधक मन-वचन-काया के सावद्य योग का पच्चक्खाण कर सकता है । बोलते-चलते, खाते-पीते, सोचने या सोने की क्रिया करते हुए शास्त्र इस विषय में क्या कहते हैं ? इस विषय में भगवान की आज्ञा क्या है ? उसका उपयोग रखकर शास्त्र वचन को स्मरण में लाकर जो साधक अपने मन-वचन-काया को सक्रिय करे, वही सावद्य योग से रुक सकता है । जो व्यक्ति अपनी इच्छानुसार मन-वचन-काया का उपयोग करता है, वह कभी भी सावद्य योग से रुक नहीं सकता । इसीलिए अंशतः या सम्पूर्णः सामायिक की प्रतिज्ञा लेनेवाले साधक को सामायिक के दौरान मन-वचन-काया की प्रवृत्ति किस तरीके से करनी चाहिए, इस विषय

7. पच्चक्खामि - प्रत्याख्यामि - पच्चक्खाण करता हूँ । यह शब्द प्रति+आ+ख्या धातु का प्रथम पुरुष एक वचन का रूप है । **'प्रति'**=प्रतिषेध, निषेध अर्थ में है अर्थात् प्रति शब्द दूर करने के अर्थ में प्रयोग हुआ है एवं **'आख्यान'** शब्द अभिमुखता से ख्यापन करने के अर्थ में प्रयोग हुआ है ।

8. समभावो सामाइयं तणकंचणसत्तुमित्तविसउ ति । णिरभिस्संगं चित्तं उचियपवित्तिप्पहाणं च।।
- पंचाशक

में शास्त्र वचनों को गुरु भगवंत से जानकर, उन्हें स्थिर कर लेना चाहिए, क्योंकि तभी प्रतिज्ञा का पालन यथायोग्य रीति से हो सकता है ।

जिज्ञासा : सामायिक का परिणाम प्रकट करना भी दुष्कर है और टिकाना भी दुष्कर है । ऐसा दुष्कर कार्य कौन कर सकता है ?

तृप्ति : जिसे संसार के अविरति के याने की असंयम के परिणाम खटकते हों, 'अविरति का या असामायिक का परिणाम कलुषित परिणाम है। ऐसे परिणामवाली अवस्था मेरी आत्मा की मलिन अवस्था है, अविरति का परिणाम मुझे पीड़ा देनेवाला है, असामायिक के परिणाम के कारण ही मुझे कर्मबंध कर संसार में भटकना पड़ता है,' ऐसा जिसकी बुद्धि में स्पष्ट हो वैसी आत्मा ही सामायिक के दौरान अपने आप को सामायिक के उपयोग में रखने का प्रयत्न कर सकती है । जिन्हें उपर्युक्त कोई भाव नहीं होता, वे तो मात्र धर्म बुद्धि से, द्रव्य से, सामायिक की क्रिया करते हैं उन्हें सामान्य से पुण्य बंध होता है । परन्तु सामायिक के महाआनंद को वे प्राप्त नहीं कर सकते ।

इस पद का उच्चारण करते समय साधक जगत् की सभी पाप प्रवृत्तियों को याद करके दो घडी के लिए इनमें से कोई भी पाप मुझे नहीं करना है ऐसा संकल्प करने के साथ सोचता है,

'मेरा कैसा सद्भाग्य है कि मुझे जैन शासन मिला और उसमें भी और किसी भी अनुष्ठान के साथ जिसकी तुलना नहीं हो सकती, ऐसा सामायिक व्रत मिला । इस अनुष्ठान को मैं इस तरह निष्पन्न करूँ कि मैं समता के सुख का आंशिक तौर से भी अनुभव कर पाऊँ'

सामायिक करने के लिए प्रथम सावद्य योग के त्याग की प्रतिज्ञा की, अब प्रतिज्ञा का काल बताते हैं ।

जाव नियमं पज्जुवासामि : जब तक मैं नियम का पालन करता हूँ ।

जाव = यावत् = जब तक; यह शब्द मर्यादा बताता है । उसका संबंध नियम के साथ है । **नियमं** = प्रतिज्ञा, यह शब्द सावद्य योग से विराम पाने की जो प्रतिज्ञा है, उसकी पहचान के लिए दिया है । **पज्जुवासामि = पर्युपासे**[9] पूरे पद का अर्थ होता है कि, जब तक मैं इस नियम का पालन करूँगा, तब तक मैं सावद्य योग से दूर रहूँगा ।

"जाव नियमं पज्जुवासामि" यह पाठ सामान्य प्रश्ननरूप है अर्थात् सामान्य से 'मैं जब तक नियम में हूँ' ऐसा अर्थ ही होता है । इससे 'इतने काल तक ही' ऐसा नियम नहीं होता; फिर भी वृद्ध परंपरा से सामयिक की कम से कम काल मर्यादा एक मुहुर्त जितनी होने से वर्तमान में व्यवहार से दो घडी (४८ मिनिट) की काल मर्यादा मानी जाती है।

जाव नियमं के बदले **जाव सुयं या जाव साहु पज्जुवासामि** का पाठ भी बोला जाता है । इसका अर्थ है जब तक मैं श्रुतज्ञान के लिए यत्न करता हूँ अर्थात् व्याख्यान श्रवण या वाचनादि जब तक चालू है, तब तक मुझे सामायिक है अथवा जब तक मैं साधु की सेवा-वैयावच्च करता हूँ, तब तक मेरा यह नियम है ।

इसके अलावा साधु भगवंत **'जाव नियमं'** के बदले **'जावज्जीवाए'** शब्द का प्रयोग करते हैं क्योंकि, वे जब तक यह जीवन है, तब तक सावद्य योगों का पच्चक्खाण करते हैं । भाव से विरत मुनि को तो सदा के लिए सामायिक में रहने की इच्छा होती है; परन्तु वह लाचार होता है । इस जीवन से आगे की प्रतिज्ञा अगर ली जाए, तो भविष्य में प्रतिज्ञा भंग होने का भय रहता है । इसलिए ही वे जीवन पर्यन्त की ही प्रतिज्ञा ग्रहण करते हैं ।

प्रतिज्ञा का काल बताकर अब प्रतिज्ञा का स्वरूप बताते हैं –

---

9. **परि + उप + आस्** का प्रथम पुरुष एकवचन का रूप है । **परि** एवं **उप** ये दो उपसर्ग धातु का विशेष अर्थ बताते हैं एवं **आस् =** बैठना, सेवा करना ।

दुविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं, न करेमि न कारवेमि[10] : मन वचन एवं काया इन तीन प्रकार के योग से नहीं करूँगा और नहीं करवाऊँगा - इन दो प्रकार से (सावद्य व्यापार के त्याग की प्रतिज्ञा करता हूँ)।

मन, वचन एवं काया - इन तीन साधनों द्वारा एवं करना, करवाना एवं अनुमोदन इन तीन प्रकार की क्रियाओं द्वारा पाप हो सकता है ।

जीव जब रूप, रस, गंध आदि विषयों में आसक्त बनता है एवं क्रोध, मान, माया आदि कषायों के वश में होता है, तब वह मन से अशुभ विचार करता है, असभ्य वाणी का प्रयोग करता है एवं काया से भी मन चाहा बर्ताव करता है, यह मन, वचन, काया से **पाप का करना** है । इसी तरीके से अन्य के पास मन, वचन, काया के द्वारा जो पाप करवाता है, वह **पाप का करवाना** है एवं अपनी या अन्य की इन तीन द्वारा हुई पापप्रवृत्तियों में जो आनंद व्यक्त करता

10. इन शब्दों में पहले **दुविहं** एवं बाद में **तिविहेणं** कहा गया है। उसके बाद दोनों शब्दों को विशेष रूप से समझाते हुए पहले **'दुविहं'** को विशेषतः समझाने के बदले पहले **'तिविहेणं'** को विशेष समझाते हुए **'मणेणं वायाए काएणं'** कहा एवं बाद में **'दुविहं'** को विशेष समझाते हुए **'न करेमि न कारवेमि'** ऐसे शब्द प्रयोग किए हैं । पहला उद्देश्य **दुविहं** का होता तो शास्त्र पाठ **'न करेमि न कारवेमि मणेणं वायाए काएणं'** ऐसा होना चाहिए था । उसके बदले सूत्र में **'मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि'** ऐसा पाठ क्यों दिया, ऐसा हमें प्रश्न होता है ?, उसका समाधान करते हुए विशेषावश्यक भाष्य में कहा गया है कि; करण, करावण एवं अनुमोदन, मन-वचन-काया के अधीन हैं वह बताने के लिए **'मणेणं वायाए काएणं'** का प्रथम प्रयोग किया है । मन आदि से ही करना, करवाना रूप क्रिया हो सकती है ऐसा बताने एवं करण का (साधन का) प्राधान्य बताने के लिए **'मणेणं वायाए काएणं'** प्रथम दिया गया है ।

तो फिर उद्देश्य भी वैसा ही अर्थात् **'तिविहेणं दुविहं'** किया होता तो अच्छा होता ? उद्देश्य में प्रथम **दुविहं** प्रयोग का कारण यह है कि, वहां करने-करवाने रूप क्रिया का प्राधान्य बताया है, मन-वचन एवं काया भी सावद्य कार्य करे या करवाए तो कर्मबंध होता है । इसलिए वहाँ क्रिया का प्राधान्य बताने के पहले **दुविहं** शब्द का प्रयोग किया है । अगर इस रीति से योग एवं करण आदि का उत्क्रम न बताया होता हो उसके प्राधान्य संबंधी कोई जिज्ञासा ही नहीं होती एवं उससे ऐसी स्पष्टता द्वारा प्राधान्य का विशेष बोध भी नहीं होता । इस तरह हेतु एवं निर्देश का यह क्रम भेद शिष्य की बुद्धि की स्पष्टता के लिए भी दिया है । ऐसा विशेषावश्यक भाष्य गा. ३५३० से ३५३१ में हैं ।

है, जो किया वह ठीक किया, ऐसी जो भावना करता है, वह **पाप का अनुमोदन है।** ऐसी क्रियाओं से ही जीव निरंतर कर्मबंध करता है । इसीलिए सामायिक करनेवाला साधक प्रतिज्ञा करता है, कि इस सामायिक काल के दौरान मन, वचन, काया से कोई पाप नहीं करूँगा, किसी को भी मन, वचन, काया से पाप की प्रेरणा नहीं करूँगा एवं पाप का निमित्त भी नहीं बनूँगा ।

सामायिक करनेवाला श्रावक मन, वचन, काया से पाप नहीं करूँगा नहीं करवाऊँगा, ऐसी प्रतिज्ञा करता है । परन्तु अनुमोदन नहीं करूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा नहीं करता, क्योंकि, संसार के ममत्वकृत संबंधों का वह सर्वथा त्याग नहीं कर सकता । वाणी का व्यवहार या काया से कोई पापमय प्रवृत्ति न होने पर भी जहाँ जहाँ ममत्व है, वहाँ वहाँ उसे आंशिक हर्ष, शोक इत्यादि भाव आने की शक्यता रहती है । इसीलिए वह तिविहं तिविहेणं का पच्चक्खाण नहीं करता, पर दुविहं तिविहेणं का पच्चक्खाण ही करता है ।

कोई भी प्रतिज्ञा लेने से पहले वह प्रतिज्ञा किस प्रकार ली है, उसका ज्ञान होना अति आवश्यक है । प्रतिज्ञा की जानकारी के बिना प्रतिज्ञा योग्य तरीके से नहीं पाली जा सकती । इसलिए यहाँ सावद्य योग का जो पच्चक्खाण किया है, वह किस प्रकार का किया है, वह जानने के लिए मन, वचन, काया के करण, करावण एवं अनुमोदन के साथ भिन्न भिन्न प्रकारों की १४७ प्रकार की गिनती को अब देखें ।

१४७ प्रकारों का वर्णन :

मन-वचन-काया के भिन्न भिन्न प्रकार सोचें तो सात[11] प्रकार होते हैं

11. १. मैं मन से सावद्य व्यापार नहीं करूँगा ।
२. मैं वचन से सावद्य व्यापार नहीं करूँगा ।
३. मैं काया से सावद्य व्यापार नहीं करूँगा ।
४. मैं मन-वचन से सावद्य व्यापार नहीं करूँगा ।
५. मैं मन-काया से सावद्य व्यापार नहीं करूँगा ।
६. मैं वचन-काया से सावद्य व्यापार नहीं करूँगा ।
७. मैं मन-वचन-काया से सावद्य व्यापार नहीं करूँगा ।

उसी तरह करण-करावण एवं अनुमोदना के भी सात[12] प्रकार होते हैं । सात को सात से गुणा करने पर ४९ प्रकार होते हैं । इन ४९ को भूत-भविष्य एवं वर्तमान कालरूप तीन काल के साथ गुणा करने से १४७ प्रकार होते हैं । इन १४७ प्रकारों में से हमें किन प्रकारों का पच्चक्खाण करना चाहिए, इसका बोध हो, तो ही सामायिक की प्रतिज्ञा शुद्धरूप से पाली जा सकती है । इसलिए सामायिक करनेवाले को सर्वप्रथम गुरु भगवंत से इन १४७ प्रकारों का ज्ञान पाना जरूरी है । १४७ प्रकारों **में से मैं मन-वचन-काया से वर्तमान में तथा भविष्य की ४८ मिनिट तक सावद्य व्यापार नहीं करूँगा, नहीं करवाऊँगा एवं भूतकाल के सावद्य व्यापारों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा ।** श्रावक इन शब्दों द्वारा इस प्रकार की प्रतिज्ञा ग्रहण करता है ।

मुनि भगवंत **'तिविहं तिविहेणं'** शब्द बोलकर मन-वचन-काया से सावद्य व्यापार नहीं करूँगा, नहीं करवाऊँगा एवं अनुमोदन भी नहीं करूँगा ऐसी जीवन पर्यन्त की प्रतिज्ञा ग्रहण करते हैं । साधु भगवंत के लिए मन-वचन-काया के करण, करावण एवं अनुमोदन के साथ तथा भूत, भविष्य एवं वर्तमान के साथ गुणा करने से २७ प्रकार (३x३x३) होते हैं । मुनि भगवंत इन २७ प्रकारों का स्मरण करके **वर्तमान एवं भविष्य संबंधी मन-वचन-काया से पाप करूँगा नहीं, करवाऊँगा नहीं एवं करनेवाले की अनुमोदना नहीं करूँगा तथा भूतकाल के पापों की अनुमोदना नहीं करूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा ग्रहण करते हैं ।**

---

12. १. नहीं करूँगा ।
    २. नहीं करवाऊँगा ।
    ३. करनेवाला हुए की अनुमोदना नहीं करूँगा ।
    ४. नही करूँगा, नहीं करवाऊँगा ।
    ५. नहीं करूँगा, करनेवाले की अनुमोदना नहीं करूँगा ।
    ६. करवाऊँगा नहीं, करनेवाले की अनुमोदना नहीं करूँगा।
    ७. करूँगा नहीं,,करवाऊँगा नहीं, करनेवाले की अनुमोदना नहीं करूँगा।

इस प्रकार की प्रतिज्ञा ग्रहण करने के बाद साधु एवं श्रावक को बहुत ही सावधान रहने की आवश्यकता है; क्योंकि, सावधान न रहें तो बहुत बार अपने मन, वचन, काया से आरंभ-समारंभ का करण, करावण या अनुमोदन हो जाने की संभावना रहती है एवं इससे प्रतिज्ञा भंग होने की भी शक्यता रहती है ।

जैसे कि रोग से पीड़ित किसी स्वजन को देखकर, सामायिक में रहा हुआ श्रावक या साधु कहें कि, क्यों दवाई नहीं लेते ? अथवा अमुक वैद्य या डॉक्टर अच्छा है । ऐसे वचन सुनकर वह रोगी डॉक्टर के पास जाने का, या औषध लेने का जो आरंभ-समारंभ करता है, उसमें सामायिक में रहे हुए श्रावक या साधु की वाणी कारण बनती है, इसलिए वाणी से सावध करवाने का दोष लगता है । आँख से या हाथ के संकेत से किसी सावद्य कार्य की सूचना करने से काया से करवाने का दोष लगता है । किसी के सावद्य कार्य संबंधी या अविरतिधर के आगमन संबंधी आँख से आश्चर्य व्यक्त करने पर काया से अनुमोदना का दोष लगता है । यदि सावधानी से न रहें, तो ऐसे अनेक तरह के मन-वचन-काया से अनुमोदन का दोष लगने की संभावना रहती है। यहाँ तो मात्र दो-तीन उदाहरण ही दिये हैं । परन्तु बुद्धिसंपन्न व्यक्ति के लिए इस तरीके से हरेक प्रकार के दोषों का विचार करना जरूरी है ।

सामायिक में रहकर समताभाव को प्राप्त करने की जिसकी इच्छा हो, वैसे साधु या श्रावक को संक्लेश बढ़ानेवाले एवं चित्त को मलिन करनेवाले योगों से दूर होकर आत्मा को निरवद्य भाव की ओर ले जाए, वैसे तप-संयम, स्वाध्याय या वैयावच्चादि में अपने मन-वचन-काया को जोड़ देना चाहिए । बार बार समिति-गुप्ति स्वरूप संयम में किया हुआ प्रयास, अनशन आदि तप का पालन एवं सूत्र-अर्थ के परावर्तनादि योग, संसारवर्ती सावद्य योग के संस्कारों को मन्द मन्दतर करते हैं । अशुभ संस्कार मंद होने से आत्मा आंशिक सुख का अनुभव कर सकती है । उसके कारण आत्मा

सावद्य योग के प्रति अत्यंत सावधान बनती है एवं निरवद्य भाव को अधिक प्राप्त करती है । इस तरीके से उत्तरोत्तर निरवद्य भाव को प्राप्त करके आत्मा अंत में वीतराग दशा के श्रेष्ठ सुख को प्राप्त कर सकती है ।

तस्स भंते ! पडिक्कमामि : हे भगवंत ! उनका = सावद्य व्यापारों का मैं प्रतिक्रमण करता हूँ ।

'भंते' शब्द द्वारा पूर्वोक्त रीति से देव, गुरु और अपनी आत्मा को उपस्थित कर साधक उन्हें कहता है कि, 'हे भगवंत ! मैंने भूतकाल में जो भी पाप प्रवृत्तियाँ की हों, करवाई हों या उनका अनुमोदन किया हो तो उन सबसे मैं अब निवृत्त होता हूँ । उस पापमार्ग को त्याग कर अब मैं वापस लौटता हूँ ।' वैसे तो भूतकाल में मैंने जो पाप किए है, उन पापों से करने या करवाने रूप में तो निवृत्ति संभव नहीं है, तो भी उन पापों के विचार रूप अनुमोदन से मैं निवृत्त होता हूँ । याने उसे मैं त्याग करता हूँ । इसके अतिरिक्त, ये शब्द बोलते हुए श्रावक ऐसा संकल्प करता है कि अब भूतकाल में किए हुए पाप पुनः नहीं करूँगा एवं नहीं करवाऊँगा । ऐसे भूतकाल के पापों के स्मरणपूर्वक उन पापों का प्रतिक्रमण करके निंदा, गर्हा द्वारा उन पापों का त्याग करता हूँ ।

इस प्रकार पाप से वापस लौटने का संकल्प, भूतकाल में आत्मा के ऊपर पडे हुए पाप के संस्कारों को म्लान करता है । यह संकल्प ही पाप करने की इच्छा प्रकट करनेवाले मलिन संस्कारों को दूर करने का काम करता है । भूतकालीन पाप के संस्कार का नाश करने का भाव और भविष्य में पाप न हो, ऐसी वृत्ति को प्रकट करना, प्रतिक्रमण है ।

जिज्ञासा : इस सूत्र के प्रारंभ में ही 'भंते' पद का प्रयोग किया गया है, तो पुनः यहाँ भंते पद का उच्चारण किसलिए ?

तृप्ति : पूर्व में जो 'भंते' पद था, वह गुरु को आमंत्रण देने के अर्थ में था एवं यहाँ जो 'भंते' पद है, वह प्रत्यर्पण के लिए है अर्थात् प्रथम 'भंते' पद

बोलकर गुरु से पूछकर जिस सामायिक का आरंभ किया था, वही सामायिक हे भगवंत ! मेरे द्वारा समर्पित हुई है । इससे यह निश्चित हुआ कि गुरु से पूछकर आरंभ की गई सभी क्रियाओं के अंत में गुरु को प्रत्यर्पण = निवेदन, अवश्य करना चाहिए अथवा प्रारंभ में सामायिक की प्रतिज्ञा का उच्चारण करने रूप क्रिया करते हुए 'भंते' कहकर गुरु को आमंत्रित करके क्रिया संबंधी गुरु से अनुज्ञा माँगने के लिए भंते शब्द का उच्चारण किया गया है एवं अब भूतकाल में किए हुए पापों का प्रतिक्रमण, निंदा एवं गर्हा रूप क्रिया के लिए गुरु से अनुज्ञा मांगनी है । इसलिए पुनः भंते शब्द का उच्चारण है ।

निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि : मैं निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ एवं (सावद्य योगवाली मेरी) आत्मा को वोसिराता हूँ ।

निंदामि : मैं निन्दा करता हूँ याने आत्मसाक्षी से मैं पाप का पश्चात्ताप करता हूँ । पाप होने या करने के बाद जब साधक को अपनी भूल महसूस हो, तब वह सोचता है कि,

'भूतकाल में हिंसा, जूठ, चोरी आदि के जो छोटे-बड़े पाप किए हैं, वह मैंने गलत किया है । उससे मैंने अपनी आत्मा का अहित किया है । जान बूझकर मैंने ही अपनी दुर्गति को आमंत्रण दिया है । पापी, अधम, दुष्ट कर्म करनेवाले मुझे धिक्कार है।' हृदय के सच्चे भाव से ऐसा सोचना 'निन्दा' है ।

'**गरिहामि**' पाप खटकने के कारण जिस पाप के प्रति तिरस्कार भाव उत्पन्न किया हो, उस पाप को सरलता से गुरु के समीप जाकर कहना गर्हा है । 'हे भगवंत! मैं पापी हूँ । मैंने बहुत से पाप किए हैं, आप मुझे इन पापों से मुक्त होने का रास्ता बताइये ! आप मेरा उद्धार करें !' इस तरह पाप के प्रायश्चित्तपूर्वक गुरु के पास पाप का नम्र भाव से निवेदन करना, गर्हा है ।

इस तरीके से गुरु भगवंत को स्मृति में लाकर अथवा गुरु भगवंत के समक्ष, भूतकाल में किए हुए पापों की निंदा एवं गर्हा करने से पाप के

संस्कार बहुत मंद हो जाते हैं । तदुपरांत सत्त्व का प्रकर्ष होता है, पाप के संस्कार अत्यंत कमजोर होते हैं एवं पाप से वापस लौटने का एक नया मार्ग मिलता है ।

अप्पाणं वोसिरामि : भूतकाल में पाप करनेवाली अपनी आत्मा का त्याग करता हूँ ।

भूतकाल में जिसने पाप किया है, उस अत्यंत निंदनीय मेरी आत्मा के पर्याय का मैं त्याग करता हूँ । दूसरी तरह से अर्थ करते हुए **अप्पाणं = अत्ताणं** =जिसे किसी का शरण नहीं, कोई जिसका रक्षक नहीं है, ऐसे इस संसार में पड़ी हुई आत्मा का मैं विसर्जन करता हूँ अर्थात् वोसिराता हूँ। अत्यन्त त्याग करता हूँ । अनादिकाल से सतत जो पाप होते रहे हैं एवं उनके कारण आत्मा के ऊपर जो पाप के सघन संस्कार पड़े हैं, उन पापों का विविध प्रकार से मैं त्याग करता हूँ अर्थात् सामायिक के दौरान उन पापों का होना संभव ही न रहे, उस तरीके से मैं त्याग करता हूँ । ऐसा बोलने से 'भूतकाल की सावद्य भावयुक्त आत्मा के साथ अब मेरा संबंध नहीं' ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है जिससे पाप करने की वृत्ति नष्ट हो जाती है ।

इस सूत्र का उच्चारण करते हुए सोचना चाहिए कि,

"इस संसार में मैं निरंतर पाप-सावद्य व्यवहार करता रहता हूँ। फलतः मैं कर्म के कटु विपाक भी सहन करता हूँ। हे भगवंत ! आज आप की कृपा से मुझे पाप से अटकने की भावना हुई है। इसीलिए मैंने कुछ देर के लिए मन-वचन-काया से पाप नहीं करने की प्रतिज्ञा की है। प्रभु ! मैं इस प्रतिज्ञा का अच्छी तरह पालन कर सकूँ, मेरे हृदय में से ममता आदि दोषों का नाश हो ऐसी कृपा करना ।"

सामाइयवय जुत्तो सूत्र

सूत्र परिचय :

इस सूत्र का मुख्य उपयोग सामायिक पारते समय याने कि सामायिक समाप्त करते समय करते हैं । इसलिए इस सूत्र का दूसरा नाम **'सामायिक पारना सूत्र'** भी है ।

सामायिक पारना याने शास्त्रों में सामायिक को जिस तरीके से करने का विधान है, उस तरीके से विधिपूर्वक पूर्ण करना । सामायिक का समय पूर्ण होने पर यह सूत्र बोलकर पुनः पुनः सामायिक करने की भावना के साथ सामायिक पारा जाता है ।

इस सूत्र की प्रथम गाथा में सामायिक करनेवाले श्रावक को सामायिक से कौन कौन से विशिष्ट फायदे होते हैं, यह बताया गया है । इसके साथ ही सूत्रकार ने श्रावक को सावधान करने के लिए यह भी कहा है कि, अगर सामायिक भावपूर्वक संपन्न हुई हो तो ही कर्मक्षय आदि फल मिल सकते हैं ।

दूसरी गाथा में सर्वविरति की लालसा रखनेवाले श्रावक को उत्साहित करते हुए कहा गया है कि, यदि तुम्हें संयम के प्रति अत्यन्त अनुराग है पर तुम सत्त्वहीनता के कारण संयम नहीं स्वीकार कर पाते हो तो भी तुम निराश मत बनो क्योंकि करुणायुक्त परमात्मा ने सामायिक का एक ऐसा सुंदर अनुष्ठान बताया है कि, तुम जब जब सामायिक करोगे, तब तब तुम साधु जैसे बन जाओंगे । इसलिए तम्हें बार बार सामायिक करनी चाहिए ।

मोक्ष का अभिलाषी साधु हो या श्रावक, उसकी एक ही भावना होती है कि, कब कर्म का नाश हो एवं मैं कुछ शुद्ध होकर आत्मा की साधना कर सकूँ । कर्मनाश का सर्वश्रेष्ठ उपाय सर्वविरति है, परन्तु सर्वविरति को ग्रहण करने का सामर्थ्य जिस श्रावक में नहीं है, वैसे श्रावक को जब ऐसा सुनने को मिले कि, इस सामायिक की क्रिया ऐसी है कि, जिसमें श्रावक लगभग साधु जैसा हो जाता है एवं श्रावक भी सामायिक काल में बहुत से अशुभ कर्मों का क्षय कर सकता है तब उसे पुनः पुनः सामायिक करने की इच्छा होती है । इसीलिए सामायिक पारते हुए ज्ञानी पुरुषों ने इस सूत्र को बोलने का विधान किया है ।

इस सूत्र के अंत में सामायिक काल में लगे बत्तीस दोषों को याद करके उनका भी मिच्छा मि दुक्कडं दिया है ।

मूल सूत्र :

सामाइय-वयजुत्तो, जाव मणे होइ नियम-संजुत्तो,
छिन्नइ असुहं कम्मं, सामाइय जत्तियावारा ।।१।।

सामाइयम्मि उ कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा,
एएण कारणेणं, बहुसो सामाइयं कुज्जा ।।२।।

सामायिक विधिए लीधुं, विधिए पार्युं, विधि करतां जे कांई अविधि हुओ होय, ते सवि हुं मन, वचन, कायाए करी मिच्छामि दुक्कडं ।

दश मनना, दश वचनना, बार कायाना बत्रीस दोषोमांथी जे कोई दोष लाग्यो होय, ते सविहु मन, वचन, कायाए करी मिच्छा मि दुक्कडं ।

अन्वय एवं संस्कृत छाया सहित शब्दार्थ :

सामाइय-वयजुत्तो, जाव मणे होइ नियम-संजुत्तो,

सामायिक-व्रतयुक्तः यावत् मनसि नियमसंयुक्तः भवति

सामायिक व्रत से युक्त (श्रावक का) मन जब तक नियम से जुड़ा है (तब तक वह)

जत्तिया वारा सामाइय छिन्नइ असुहं कम्मं, ।।१।।

यावत् वारान् सामायिकं (करोति. तावत्, तावत् वारान्) अशुभं कर्म छिन्नत्ति ।

जितनी बार सामायिक (करता है, उतनी बार और उतने समय तक) अशुभ कर्मों को छेदता है ।

(यहाँ प्रश्न होता है कि, किस कारण वह अशुभ कर्मों को छेदता है ? उसका जवाब देते हुए कहते हैं कि...)

जम्हा,

यस्मात्

जिस कारण से

सामाइयम्मि कए, उ समणो इव सावओ हवइ

सामायिके कृते तु श्रावकः श्रमणो इव भवति ।

सामायिक करते समय श्रावक साधु जैसा होता है, (इस कारण अशुभ कर्म को छेदता है ।)

एएण कारणेणं, बहुसो सामाइयं कुज्जा ।।२।।

एतेन कारणेन बहुशः सामायिकं कुर्यात् ।

(सामायिक अशुभ कर्म को छेदता है) इसलिए सामायिक बहुत बार करनी चाहिए ।

सामायिक विधिए लीधुं, विधिए पार्युं, विधि करतां जे कोई अविधि हुओ होय, ते सविहु मन, वचन, कायाए करी मिच्छा मि दुक्कडं.

सामायिक विधि से लिया, विधि से पारा फिर भी अगर विधि करते हुए कोई अविधि हो गई हो तो उसका 'मिच्छा मि दुक्कडं' ।

दश मनना, दश वचनना, बार कायाना बत्रीस दोषोमांथी जे कोई दोष लाग्यो होय, ते सविहु मन, वचन, कायाए करी मिच्छा मि दुक्कडं ।

दस मन के, दस वचन के, बारह काया के ये बत्तीस दोषों में से कोई दोष लगा हो तो, उन सब का मैं मन, वचन, काया से मिच्छा मि दुक्कडं देता हूँ ।

विशेषार्थ :

सामाइयवय-जुत्तो जाव मणे होइ नियम-संजुत्तो छिन्नइ असुहं कम्मं

सामाइय जत्तियावारा : जब तक और जितनी बार सामायिक व्रत से युक्त (श्रावक) मन में नियम से संयुक्त होता है (तब तक और उतनी बार) वह अशुभ कर्मों को छेदता है ।

सामायिक की प्रतिज्ञा रूप नियम को स्वीकार करने के बाद जब तक मन में सावद्य प्रवृत्ति नहीं करने का एवं समताभाव का सेवन करते हुए तप-संयम या स्वाध्याय में रहने का परिणाम होता है अर्थात् जब तक मन सामायिक के भाव से युक्त होता है, तब तक हर एक क्षण, अज्ञान-अविवेक आदि दोषों के कारण पूर्व में बंधे हुए एवं भविष्य में महादुःखों को देनेवाले कर्मों का नाश होता है ।

सामाइयवय-जुत्तो : 'करेमि भंते' सूत्र बोलकर सामायिक की प्रतिज्ञा को स्वीकार करके जो श्रावक स्वाध्याय, जाप, ध्यान, कायोत्सर्ग, भावना आदि द्वारा समताभाव को पाने का यत्न कर रहा हो, उसे सामायिक व्रत से युक्त कहा जाता है ।

जाव मणे होइ नियम-संजुत्तो : सामायिक व्रत को स्वीकार करने के बाद जब तक मन सामायिक से जुड़ा हुआ है अर्थात् जब मन सामायिक की मर्यादा के बाहर के विचारों से घिरा हुआ नहीं होता, तब तक अशुभ कर्मों का नाश होता है।

जिज्ञासा : सामायिक व्रत का स्वीकार मन-वचन-काया इन तीनों योग से किया था । इसलिए व्रत का अच्छी तरह पालन करने के लिए तीनों योगों का योजन जरूरी है । तो फिर यहाँ 'मन नियम से युक्त है' ऐसा कहकर केवल मन को महत्त्व क्यों दिया गया है ।

तृप्ति : व्रत-नियम में मन का जुड़ना अति महत्त्वपूर्ण है क्योंकि व्रत-नियम का स्वीकार अशुभ कर्मबंध को रोकने एवं बंधे हुए कर्मों का नाश करने के लिए होता है । यह उद्देश्य तभी सिद्ध होता है, जब मन सामायिक के भावों मे जुडा हो । मन अगर रागादि के अधीन बनकर पाप-प्रवृत्तियों के विचारों से घिरा हो तो सामायिक करनेवाला साधक भी कर्मबंध को रोक नहीं सकता । वाणी एवं काया नियंत्रण में होने पर भी यदि मन पाप के विचारों में फँस गया हो तो प्रसन्नचंद्र राजर्षि की तरह नरक गति के योग्य भूमिका तैयार हो जाती है या फिर तंदुलिया मत्स्य की तरह नरक गति के योग्य कर्मबंध भी हो जाता है । इसीलिए यहाँ मन के नियंत्रण पर ज्यादा भार दिया गया है ।

मन ही शुभ-अशुभ भावों को उत्पन्न करता है । मन का क्षेत्र अति विशाल एवं अपरिमित है । इसलिए जब तक उसे किसी भी प्रकार की प्रतिज्ञा से बद्ध न किया जाय, तब तक वह निरंतर विविध भावों में भटकता ही रहता है । मन को अच्छी तरह से नियम से युक्त करें, तो ही सानुबंध निर्जरा होती है । मन को नियम में यथार्थ रूप से जोड़ने से उसके साथ वचन एवं काया तो नियम में आ ही जाते है ।

जिज्ञासा : इस गाथा की पहली पंक्ति में सामायिक को व्रत और नियम दोनों स्वरूप में बताया गया है; तो सामायिक व्रत है या नियम है ?

तृप्ति : सामायिक व्रत भी है एवं नियम भी है क्योंकि मूलगुण व्रत कहलाता है एवं उत्तरगुण नियम कहलाता है । हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन एवं परिग्रह - इन पाँचों का जिसमें सम्पूर्ण त्याग किया जाता है, वह मूल व्रत कहलाता है एवं इन व्रतों के पोषण के लिए या अभ्यास के लिए जो भिन्न भिन्न तरीके से प्रतिज्ञा ली जाती है, उसे नियम या उत्तरगुण कहते हैं । सामायिक करते समय हिंसादि का सम्पूर्ण त्याग होने से वह व्रत कहलाता है एवं सर्वथा पाप की निवृत्तिरूप सर्वविरति के पालन का अभ्यास इस सामायिक द्वारा किए जाने से यह नियम भी कहलाता है तथा उससे संयम

जीवन की शिक्षा मिलने से उसे शिक्षाव्रत भी कहते हैं । श्रावक के १२ व्रतों में सामायिक व्रत का समावेश नौवें व्रत में पहले शिक्षाव्रत के रूप में किया गया है । इसीलिए सामायिक को व्रतरूप मानकर सूत्र की शुरूआत में कहा गया कि सामायिक के व्रत से युक्त श्रावक है और दूसरी पंक्ति में उसे नियम के तरीके से बताया गया है ।

छिन्नइ असुहं कम्मं : अशुभ कर्म का नाश होता है । जिसका मन सामायिक के भाव से युक्त होता है उसके ही अशुभ कर्मों याने दुःख-दौर्भाग्य देनेवाले पाप कर्मों का छेदन होता है । परमार्थ से सोचें, तो शुभ या अशुभ सब कर्म आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्रकट करने में अंतरायभूत होने के कारण अशुभ ही हैं; तो भी व्यवहार से पाप-आस्रव को ही अशुभ कर्म कहा जाता है, क्योंकि उसका फल बहुत बुरा होता है और उसका उदय होने पर सत्संग के साधनों की प्राप्ति शीघ्र नहीं होती । ऐसे अशुभ कर्म सामायिक में उत्पन्न होनेवाली भावशुद्धि द्वारा नाश होते हैं क्योंकि भावशुद्धि एक प्रकार का अभ्यंतर तप है, जो निर्जरारूप है ।

जिज्ञासा : यहाँ कर्म का छेद होता है, ऐसा न कहते हुए ऐसा क्यों कहा है कि, अशुभ कर्मों का छेद होता है ?

तृप्ति : प्राथमिक भूमिकावाले बाल जीवों को जब धर्म में जोड़ना हो तब उन्हें "अगर तुम ये धर्म क्रिया करोंगे, तो तुम्हारे पाप-अशुभ कर्मों का नाश होगा" ऐसा कहने से वे क्रिया में शीघ्र जुड़ते हैं क्योंकि सबको दुःख देनेवाले पापरूपी अशुभ कर्मों को नाश करने की इच्छा तो होती ही है ।

सामाइय जत्तियावारा : एक बार ग्रहण की हुई सामायिक से ही अशुभ कर्मों का नाश होता है, ऐसा नहीं है, परंतु जितनी बार सामायिक करते है उतनी बार अशुभ कर्मों का नाश होता है । अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करते हुए जीव ने इतने कर्म बांधे हैं कि, वे एकबार की सामायिक से नष्ट हो जाए ऐसा नहीं है । इसीलिए कहा गया कि आप जितनी बार सामायिक

करते हैं, उतनी बार अशुभ कर्मों का नाश होता है । इसीलिए अशुभ कर्मों का नाश चाहनेवाली आत्मा को बार-बार सामायिक करनी चाहिए ।

'करेमि भंते' सूत्र में जिसका स्वरूप बताया है, वैसी सामायिक उल्लास में आकर अक्सर ली जाती है, परन्तु हमेशा भावपूर्वक सामायिक के उपयोग में रहना बहुत मुश्किल है । इस सूत्र में सामायिक के जो लाभ बताये हैं, वे भावपूर्वक सामायिक व्रत में लीन रहनेवाले श्रावक के लिए ही हैं, दूसरों के लिए नहीं ।

इस गाथा का उच्चारण करते हुए सोचना चाहिए,

'प्रभु ने कर्मनाश का कितना अद्‌भुत उपाय बताया है। न उसमें धन का व्यय होता है - न शरीर को श्रम पडता है फिर भी उससे कर्मनाश होता ही रहता है । ऐसा अनुष्ठान बतानेवाले प्रभु की करुणा अपरंपार है । जब जब समय मिले, तब-तब अगर भाव से इस व्रत का स्वीकार करूँ तो कितनी कर्मनिर्जरा कर पाऊँ... पर मैं कितना अभागा हूँ । समय होने पर भी मैं इस व्रत को स्वीकार करने में प्रमाद करता हूँ अगर स्वीकार करूँ तो उसका मात्र व्यवहार से पालन करता हूँ; पर समता को पाने के लिए यत्न नहीं करता । हे नाथ ! मेरा क्या होगा ? अशुभ कर्म का उदय जब आएँगा तब मैं क्या करूँगा ? इससे बचने के लिए मैं आज से ही शुद्ध सामायिक करने का यत्न करूँ ।'

अब सामायिक की क्रिया द्वारा अशुभ कर्मों का नाश होता है, ऐसा बताते हुए कहते हैं,

सामाइयम्मि उ कए समणो इव सावओ हवइ जम्हा : जिस कारण से सामायिक करता हुआ श्रावक साधु जैसा ही हो जाता है उसी कारण से सामायिक में श्रावक के अशुभ कर्मों का नाश होता है ।

जो जिनवचन सुनता है, वह श्रावक है[1] अथवा साधु के सान्निध्य में जो साधु की समाचारी = साधुजीवन के आचारों का श्रवण करता है, वह श्रावक है। श्रावक भी साधु बनने की तीव्र आकांक्षावाला होता है, इसीलिए उसे साधु की समाचारी सुनने की इच्छा होती है । श्रावक की एक व्युपत्ति यह भी हैं कि, जो श्र = श्रद्धा, व = विवेक, क = क्रिया, इन तीनों से युक्त होता है वह श्रावक। श्रावक शायद साधुता न ग्रहण कर सके तो भी साधुता शीघ्र से शीघ्र प्राप्त हो, इसके लिए उद्यमशील जरूर होता है।

ऐसा श्रावक जब सामायिक करता है, तब वह साधु तो नहीं, परन्तु साधु जीवन की अत्यंत निकट की कक्षावाला तो होता ही है... साधु जीवन संपूर्ण पाप रहित निष्पाप जीवन है । श्रावक भी समझता है कि निरवद्य भाव ही कर्मनाश का कारण है । इसीलिए सामायिक करते हुए मन, वचन एवं काया से पाप नहीं करूँगा, नहीं करवाऊँगा, ऐसी प्रतिज्ञा करता है एवं उस प्रतिज्ञा के भाव में रहने के लिए यत्न भी करता है । इस निरवद्य प्रवृत्ति के लिए किए गये प्रयत्न से ही श्रावक साधु समान माना जाता है एवं इसी कारण उसके अशुभ कर्मों का भी नाश होता है ।

एएण कारणेणं बहुसो सामाइयं कुज्जा : इस कारण से = जितनी बार सामायिक करें उतनी बार अशुभ कर्मों का नाश होता ही है, इसलिए बहुत बार सामायिक करनी चाहिए ।

सामायिक के समय श्रावक साधु जैसा होता है, इसलिए वह जितनी बार सामायिक करता है, उतनी बार अशुभ कर्मों का नाश करता है । इसीलिए मोक्षार्थी श्रावक को अनेक बार सामायिक करनी चाहिए ।

आत्महित के लिए बार बार सामायिक करने की भावनावाला श्रावक सामायिक पारे, तो भी उसका मन सामायिक के प्रति ही बंधा रहता हैं।

---

1. श्रावक का अर्थ है : **शृणोति जिनवचनम् इति श्रावक**' 'शृणोति साधुसमीपे साधु सामाचारीमिति श्रावकः'

सामायिक पारने के बाद भी सामायिक भाव में उसकी रुचि बनी ही रहती है । इसीलिए जब जब संयोग एवं सत्त्व हो, तब तब वह अवश्य सामायिक में पुनः जुड़ जाता है । सामायिक की ऐसी रुचि होने के कारण जब वह संसार की अन्य क्रिया करता है, तब भी उसमें उसे तीव्र रुचि नहीं होती । तीव्र रस या रुचि के बिना संसार की क्रिया करते रहने के कारण संसार की क्रियाएँ भी उसके लिए, वैसे सानुबंध पापकर्म का कारण नहीं बनती जिसका प्रवाह हमेशा चालू रहता है एवं पुनः पुनः की हुई सामायिक क्रिया उसे तात्त्विक मुनिभाव के नज़दीक ले जाने का कारण बनती है ।

इस गाथा का उच्चारण करते हुए श्रावक यह सोचता है कि,

> "यदि मुझे अपना कल्याण करना है, तो सर्वप्रथम मुझे सावद्य भाव का त्याग करना पड़ेगा, क्योंकि सावद्य भाव ही जीव को तीनों काल में दुःख देता है । इसलिए सत्त्व एवं सामर्थ्य हो तो सर्वविरति भाव को स्वीकार कर मुझे पाँच समिति, तीन गुप्ति, क्षमादि दश यतिधर्मों का निरंतर पालन करना चाहिए । उससे ही मेरे कर्म समाप्त होंगे एवं मेरी आत्मा का हित होगा । यदि ऐसा सामर्थ्य न हो तो भी ऐसे सामर्थ्य को प्राप्त करने के लिए पुनः-पुनः दो घड़ी की भी शुद्ध (बिना दोष की) सामायिक करने के लिए मुझे सतत यत्न करना चाहिए ।"

सामायिक विधिए लीधुं, विधिए पार्यु विधि करता जे अविधि हुई होय तेनुं 'मिच्छामि दुक्कडं' ।

शास्त्र में जिस प्रकार से मन-वचन-काया की शुद्धि बनाए रखने को कहा गया है, उस प्रकार से शुद्धि रखकर, शुद्ध वस्त्रों को पहनकर, शास्त्रानुसारी मुहपत्ति, चरवला वगैरह उपकरण लेकर, योग्य समय, योग्य स्थान पर सामायिक के सूत्रों एवं अर्थ का योग्य विचार कर सामायिक की जो प्रतिज्ञा ली जाती है वह विधि पूर्वक ली गई सामायिक कहलाती है एवं ग्रहण की हुई उस प्रतिज्ञा को योग्य तरीके से पालन करते हुए, शास्त्र

में बताई गई विधि से सामायिक पारने को विधिपूर्वक सामायिक पारा कहा जाता हैं ।

सामायिक पारने के समय भी साधक इन पदों द्वारा पुनः याद करता है कि, "मैंने सामायिक विधि से ग्रहण की है या नहीं ?, विधि से पारी है या नहीं ?" प्रारंभ से अंत तक विधिपूर्वक करने की भावना थी, इस लिए मेरा यत्न भी था । ऐसा होने के बावजूद भी विधि करते हुए कोई भी अविधि हुई हो, तो उन पापों का मैं मन, वचन, काया से 'मिच्छा मि दुक्कडं' देता हूँ अर्थात् विधि से करने का भाव होने पर भी अज्ञानता से, अविवेक से या प्रमाद आदि दोषों के कारण मुझ से कोई भी अविधि हुई हो, तो वे अविधिकृत मेरे पाप नाश हो जाएँ ।"

सामायिक विधि से लिया इत्यादि पदों का उच्चारण करने का सच्चा अधिकारी वही व्यक्ति है, जिसे शास्त्र विधि का ज्ञान हो एवं उसी प्रकार से विधि अनुसार सामायिक करने का जिसने प्रयत्न किया हो तथा सामायिक विधि अनुसार पूर्ण की हो; परन्तु जिसने मात्र सूत्रोच्चारण कर कायिक क्रिया ही की हो, सामायिक के पारमार्थिक स्वरूप को या विधि को जाना भी नहीं हो याने कि जिसने वास्तविक रीति से सामायिक का यत्न नहीं किया हो, उसके लिए इन पदों का उच्चारण मृषावाद तुल्य बन जाता है ।

जो सामायिक के स्वरूप को यथार्थ रूप से जानता है, विधि का ज्ञाता है एवं जिसे विधिपूर्वक सामायिक करने की इच्छा है फिर भी अनादि अभ्यस्त प्रमाद के कारण यत्न नहीं कर सकता तथा 'सामायिक विधि से लिया, विधि से पारा', बोलते हुए उसके मन में बहुत दुःख होता है कि, वास्तव में "मैं इन वचनों को बोलने का अधिकारी ही नहीं हूँ क्योंकि मैंने प्रमाद के कारण विधिमार्ग का पालन नहीं किया, मैंने सामायिक विधिपूर्वक लेकर, सामायिक में रहते हुए समभाव में रहकर, यत्नपूर्वक सामायिक पूर्ण करनी चाहिए वैसा भी नहीं किया, तो मैं विधि किए बिना यह पद कैसे बोल सकता हूँ ?" इस प्रकार के अपने प्रमाद के प्रति तिरस्कार भाववाली

एवं भविष्य में सुयोग्य करने की अभिलाषावाली आत्माएँ ये पद बोलें तो वह शब्दोच्चारण ऊपरी तौर से मृषारूप लगे, तो भी विधिपूर्वक करने की इच्छावाली आत्माओं को उससे सानुबंध[2] दोष नहीं लगता । उनका यह दोष निरनुबंध (नाश पानेवाला) है । इस तरीके से प्रारंभिक कक्षा में ग्रहण की हुई सामायिक भी लाभप्रद बनती है ।

जिनको वास्तविक सामायिक की समझ भी नहीं है, पारमार्थिक विधि की जानकारी नहीं है एवं जानने की इच्छा भी नहीं है, मात्र सामायिक करने को अच्छा मानते हैं । ऐसे सामान्य भाव से निर्विचारक की तरह सामायिक करनेवाले को सामायिक से कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता। उनकी सामायिक की क्रिया अननुष्ठान[3] रूप बनती है ।

इसीलिए सामायिक के उत्तम फल को प्राप्त करने की इच्छावाले साधक को सामायिक का स्वरूप एवं सामायिक की विधि सुयोग्य गुरु से जान लेनी चाहिए एवं उसके अनुरूप व्यवहार (कार्य) करना चाहिए, जिससे विशेष फल की प्राप्ति हो सके ।

अविधि का 'मिच्छा मि दुक्कडं' देने के बाद, अब मन-वचन-काया से कितने दोष लगते हैं यह बताते हैं -

दश मन ना, दश वचन ना, बारह कायाना आ बत्रीस दोषों मां जे कोई दोष लाग्यो होय ते सविहु मन-वचन-काया थी मिच्छा मि दुक्कडं ।

---

2. सानुबंध - जो बंध दोष की परंपरा को चलाता है, उसे सानुबंध कहते है ।

3. भिन्न भिन्न प्रकार के परिणामों की अपेक्षा से शास्त्रों में अनुष्ठान के (धर्मक्रिया के) पाँच प्रकार बताये हैं ।

   १. इस लोक के सुख की इच्छा से किया अनुष्ठान, विषानुष्ठान है ।
   २. परलोक के सुख की इच्छा से किया अनुष्ठान, गरानुष्ठान है ।
   ३. समुर्च्छिम की तरह सोंचे समझे बिना किया हुआ अनुष्ठान, अननुष्ठान है ।
   ४. सुंदर अनुष्ठान का कारण बने ऐसी क्रिया को तद्हेतु अनुष्ठान कहते हैं ।
   ५. मोक्ष का शीघ्र कारण बने, वैसे अनुष्ठान को अमृत अनुष्ठान कहते हैं ।

मन-वचन-काया से वैसे तो अनेक दोष होते हैं, फिर भी यहाँ मुख्यरूप से जितने दोषों की संभावना है उनकी संख्या दी है। उनके आधार से अन्य दोषों को याद करके उनका भी मिच्छा मि दुक्कडं देना हैं ।

सामान्यतया हम यह सोचते हैं कि, सामायिक का भाव तो आत्मा का परिणाम है, तो फिर मन-वचन-काया के दोषों को याद कर उनका 'मिच्छा मि दुक्कडं' कैसे देते हैं ? वास्तव में यह सत्य है कि समता आत्मा का परिणाम है, पर वर्तमान में वह मन-वचन-काया के सम्यग् प्रवर्तन से ही सिद्ध हो सकता है। इसलिए मन-वचन-काया के योगों को दोष के रास्ते जाते हुए रोककर, निरवद्यभाव की ओर ले जाने का यत्न करें, तो सामायिक का भाव प्राप्त हो सकता है ।

अब उस मन-वचन-काया के दोष किस प्रकार के हैं वह देखेंगे -

मन के दश दोष :

१. अविवेक : सामायिक में मन-वचन और काया से क्या करना है एवं क्या नहीं करना ? ऐसे विवेक का अभाव अविवेक दोष है । सामायिक के दौरान मन से क्या सोचा जाए या न सोचा जाए उसका पूर्ण विवेक होना चाहिए । ममता आदि दोषों को छोड़कर समता को सिद्ध करने के लिए सामायिक करना है । इस समता की सिद्धि विवेकपूर्ण शास्त्र श्रवण से या अध्ययनादि क्रिया से हो सकती है । जो सामायिक में ऐसी क्रियाएँ नहीं करते अथवा मात्र दिखाने के लिए करते हैं, परन्तु इस क्रिया द्वारा आत्मा में सामायिक के भाव को प्रकट करने का यत्न नहीं करते, उनको इस अविवेक दोष की संभावना रहती है ।

२. अविनय : गुरु भगवंत के प्रति अथवा भावाचार्य की स्थापना जिसमें की हो वैसे स्थापनाचार्य के प्रति मानसिक विनय का परिणाम एवं उसके अनुरूप की गई क्रिया विनय है और उसका अभाव 'अविनय दोष' है । यह अविनय दोष सामायिक के भाव को उत्पन्न करने में बड़ा विघ्न बनता

है क्योंकि, विनय ही सामायिक के भाव को उत्पन्न करवाने का प्रबल साधन है । इसीलिए सामायिक करनेवाली आत्मा को विनय संपन्न बनकर इस दोष का नाश करना चाहिए ।

३. अबहुमान : सामायिक संपन्न गुरु भगवंत, सामायिक के सूत्रों एवं सामायिक के परिणाम - इन तीनों के प्रति अत्यंत आदर रखना वह बहुमान का भाव है । इसका अभाव 'अबहुमान' दोष है।

सामायिकादि के प्रति बहुमान, तो उसी आत्मा को हो सकता है जिसे सामायिक सर्वश्रेष्ठ तत्त्व लगता हो । रत्न चिंतामणी से भी अधिक इसका मूल्य है, ऐसा महसूस होता हो । इसके अतिरिक्त वह समझता हो कि भगवान ने जैसी सामायिक कही है, वैसी सामायिक अगर मुझे पूर्व में प्राप्त हुई होती तो इस अनादिकालीन संसार भ्रमण का नाश कब का हो गया होता । तात्त्विक सामायिक ही संसार के नाश का कारण है, ऐसा जिसको समझ में आता है, उसे ही सामायिक संपन्न गुरु, सामायिक सूत्रों तथा सामायिक के परिणाम के प्रति बहुमान भाव हो सकता है । इसके सिवाय 'अबहुमान' नामक दोष है, ऐसा समझना चाहिए ।

४. रोष : सामायिक करते समय किसी की अयोग्य प्रवृत्ति के कारण **उसके** प्रति अरुचि - घृणा या क्रोध करना अथवा सामायिक करने के लिए बार बार प्रेरणा करनेवाले पर रोष में आकर सामायिक करना अथवा क्रोध के भाव में रहते हुए ही सामायिक करना यह 'रोष' नाम का दोष है । इसलिए किसी भी संयोग में सामायिक में रोष न हो ऐसा संकल्प करके सामायिक करने बैठना चाहिए ।

५. गर्व : मैं रोज सामायिक करता हूँ । मैं सुंदर विधिपूर्वक सुव्यवस्थित सामायिक करता हूँ । ऐसा अहंभाव गर्व नामक दोष है । इस दोष से बचने के लिए साधक को सामायिक के पहले सोच लेना चाहिए कि कोई मुझे धर्मी कहे या महान कहे; इतने मात्र से मैं धर्मी या महान् नहीं बनूंगा, परन्तु **मान को त्यागकर ही मैं महान बन सकता हूँ ।** इसलिए व्यक्त या अव्यक्त मान का अर्थात् गर्व का त्याग करने के बाद ही मुझे सामायिक करनी चाहिए ।

६. लाभवांछा : सामायिक करने से मुझे पुत्र - पैसा या शत्रु पर विजय आदि लाभ होगा, ऐसी इच्छा से सामायिक करना 'लाभवांछा' दोष है । यद्यपि संसारी धन या पुत्रादि की इच्छावाले होते हैं, तो भी विवेकी श्रावक तो समझते ही हैं कि **'इच्छाएँ ही अनर्थ का मूल हैं'** वे तो जहाँ एक भी इच्छा न हो, ऐसे मोक्षसुख पाने के लिए ही भगवान ने इस सामायिक की क्रिया बताई है । इसलिए सामायिक द्वारा अन्य सुख की इच्छा न रखते हुए विवेकी आत्मा मात्र मोक्ष की ही इच्छा रखते हैं ।

७. भय : सामायिक नहीं करूँगा, तो धर्मी समाज में मैं अच्छा नहीं लगूँगा, मेरे बुजुर्गों को अच्छा नहीं लगेगा ऐसे कोई भय से सामायिक ले तो वह सामायिक में 'भय' दोष कहलाता है, ऐसे श्रावक सामायिक लेकर सूत्रार्थ परावर्तना आदि करते हों, तो भी भय का परिणाम अंतर में चालू ही रहता है । सामायिक में अपने धनादि के नाश का या आपत्ति का भय रहे, तो वह भी भय दोष कहलाता है । सामायिक में साधक के चित्त को सर्वत्र अप्रतिबद्ध करने का प्रयत्न करना है एवं जैसे जैसे चित्त परपदार्थ से अलिप्त (अनासक्त) बनता है, वैसे वैसे वह भय मुक्त बनता जाता है ।

८. यशकीर्ति : सामायिक करने के कारण लोग मेरी प्रशंसा करेंगे, मुझे धर्मी कहेंगे, ऐसे व्यक्त या अव्यक्त आशयपूर्वक की गई सामायिक यशकीर्ति दोषवाली कहलाती है । इस दोष को निकालने के लिए सर्वत्र उदासीन वृत्ति रखनी चाहिए । किसी से भी प्रशंसा की इच्छा तो बिल्कुल नहीं रखनी चाहिए; परन्तु यदि कोई सामने से प्रशंसा के शब्द कहे तो भी लेश मात्र भी मन पर उसकी असर न हो, तो ही सामायिक शुद्ध हो सकती है।

९. निदान : सामायिक के फल रूप इस लोक में भौतिक सुख या परलोक में मुझे देवादि भव और उनका वैभवादि प्राप्त हो, ऐसी आकांक्षा निदान नामक दोष है। इस दोष को दूर करने के लिए सामायिक करते समय सर्वत्र समभाव में रहने का खास यत्न करना चाहिए, जिससे ऐसे तुच्छ पदार्थों की इच्छा मात्र की संभावना न रहे ।

१०. फल संशय : सामायिक का फल मुझे मिलेगा या नहीं ? ऐसी शंका 'फल संशय' नामक दोष है । सामान्य से विचारक व्यक्ति कोई भी कार्य करते हुए इस कार्य से मुझे क्या फल मिलेगा ? एवं किस तरीके से करने से मुझे फल प्राप्त होगा ? उसका विचार करके ही प्रवृत्ति करता है । इसीलिए कार्य के अनुरूप प्रयत्न करते समय उसे फल में संशय नहीं रहता । आत्मा की निर्मलता एवं सामायिक के बीच कार्य-कारण भाव के विचार के बिना प्रवृत्ति करनेवाले को यह दोष लगने की संभावना रहती है । इसीलिए इस दोष से बचने की इच्छावाले साधक को सामायिक का फल क्या है एवं वह किस तरीके से सामायिक करने से मुझे प्राप्त होगा, उसका निर्णय कर वैसे यत्नपूर्वक सामायिक करना चाहिए एवं विश्वास रखना चाहिए कि, सर्वज्ञ कथित सामायिक में किया हुआ प्रयत्न निश्चय मोक्ष फल देगा ही । ऐसा सोचने से इस दोष की संभावना ही नहीं रहती ।

वचन के दश दोष :

१. स्वच्छंद वचन : शास्त्र में कहा गया है कि श्रावक को सामायिक में ऐसे ही वचन बोलने चाहिए, जिससे सामायिक के भावों का पोषण हो । इस बात को ध्यान में रखे बिना सामायिक में जैसे-तैसे बोलना 'स्वच्छंद' दोष कहलाता है। इस दोष से बचने के लिए समता के इच्छुक साधक को सामायिक में समभाव के पोषक शास्त्र स्वाध्याय-तत्त्वपृच्छा आदि ही कार्य करने चाहिए, जिससे इस दोष की संभावना ही न रहे ।

२. सहसाकार : सोचे बिना ही एकाएक सामायिक के भाव के बाधक शब्द का प्रयोग करना 'सहसाकार' नामक दोष है । कल्याणार्थी साधक सामायिक प्रारंभ करने से पहले संकल्प करता है कि मुझे अपने मन-वचन-काया के योगों को निरवद्य भाव के अनुरूप ही सक्रिय करना है, फिर भी अनादिकालीन गलत आदत के कारण कोई परिचित व्यक्ति आने पर या वैसे संयोग आने पर सहसा ही समभाव के बाधक शब्द निकल पड़ते हैं । इस दोष से बचने के लिए वचनों पर अत्यंत नियंत्रण रखना जरूरी है ।

३. कुवचन : प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूप से किसी की उपस्थिति या अनुपस्थिति में बोले हुए वचन अगर अन्य को पीड़ा पहुंचाएँ तो वे कुवचन कहलाते हैं ।

४. संक्षेप : भव्यात्माओं को तत्त्वमार्ग समझाने के प्रसंग पर या हित के अनुकूल कुछ भी कहने के अवसर पर, वे बातें सक्षिप्त में ही समझाई जाएँ तो सुननेवाला जीव अगर योग्य हो, तो भी उस वस्तु को अच्छी तरह नहीं समझ सकता । वचन का ऐसा प्रयोग संक्षेप नामक दोष है ।

सामायिक में इसको दोष माना जाता है; क्योंकि सामायिक उचित प्रवृत्ति प्रधान अनुष्ठान है एवं उपदेशादि के अवसर पर सामनेवाला व्यक्ति अच्छी तरह समझ सके, इतना विस्तारपूर्वक उपदेश देना ही उचित है, उसके बदले अपनी अधीरता के कारण या अन्यमनस्कता के कारण सामान्य और थोड़ी ही समझ देना अनुचित प्रवृत्ति है एवं समभाव की बाधक है, इसलिए वह प्रस्तुत में दोषरूप है ।

५. कलह : सामायिक में किसी के साथ वैमनस्य पैदा हो, इस तरीके से बोलना कलह नामक दोष है ।

६. विकथा : राजकथा-देशकथा-भक्तकथा एवं स्त्रीकथा ये चार प्रकार की विकथाएँ हैं । सामायिक में धर्मकथा को छोड़कर धर्मशास्त्र में आई हुई इन कथाओं का रसपोषण हो, उससे मन में विकृती उत्पन्न हो ऐसी बातें करना 'विकथा' है । ऐसी विकथाएँ सामायिक के भावों को मलिन करती हैं । इसलिए मुमुक्षु को ऐसी कथाओं का सामायिक में त्याग करना चाहिए ।

७. हास्य : खुद को या दूसरों को हास्य उत्पन्न हो, वैसे वचनों का प्रयोग करना हास्य नामक दोष है । सामायिक में तात्त्विक भावों की प्राप्ति हो, वैसा ही प्रयत्न करना है । उसके बदले हँसी आए, ऐसा बोलना सामायिक में दूषण है । इसलिए तत्त्वज्ञ पुरुष को ऐसे वचनों का त्याग करना चाहिए ।

८. अशुद्ध : सामायिक में प्रयोग होनेवाले सूत्र या सामायिक करते हुए स्वाध्याय के सूत्र अशुद्ध बोलना, सूत्र के अर्थ का निरूपण भी समझे बिना जैसे तैसे करना 'अशुद्ध' नामक दोष है ।

९. निरपेक्ष : जैन दर्शन स्याद्वादमय दर्शन है । उसमें किसी एक नय को (एक दृष्टि को) स्थान नहीं, जब किसी भी नय (दृष्टिकोण) से पदार्थ को समझाते हों, तब अन्य नय की अपेक्षा भी होनी चाहिए । उसके बदले 'यह वस्तु ऐसी ही है' इस तरह मात्र एक ही दृष्टिकोण से पदार्थ को समझाने में निरपेक्ष दोष की संभावना है ।

१०. मूलगुण : सामायिक की क्रिया में आनेवाले सूत्रों को अस्पष्ट रीति से बोलना अथवा संकलन के बिना उपदेश देना 'मूलगुण' दोष है । इस दोष से बचने के लिए साधक को शुद्ध भाव की वृद्धि हो, उस तरह सूत्रों का स्पष्ट उच्चारण करना चाहिए तथा श्रोता को स्पष्ट बोध हो, वैसे संकलनायुक्त स्पष्ट शब्दों में उपदेश देना चाहिए ।

काया के बारह दोष :

१. अयोग्य आसन : सामायिक के लिए जो आसन योग्य हो, उस आसन का अभाव 'अयोग्य आसन' नामक दोष है । सामायिक व्रत को स्वीकार कर साधक को समताभाव की वृद्धि हो, ऐसे पद्मासन वगैरह किसी योग्य आसन एवं मुद्रा में बैठना चाहिए । मनचाहे ढंग से पैर लंबे-छोटे कर अयोग्य आसन में नहीं बैठना चाहिए । अयोग्य आसन में बैठना तो सामायिक धर्म के प्रति अविनयभाव का सूचक है । सामायिक धर्म के प्रति अविनय कर्मबंध का कारण है । इसीलिए समता इच्छुक आत्मा को सामायिक में जैसे तैसे बेठने रूप अयोग्य आसन नाम के दोष को टालना चाहिए ।

२. अस्थिर आसन : बार बार आसनों को, मुद्राओं को बदलना, बिना कारण बार बार स्थानांतरण करना, हाथ-पैर या सिर हिलाना 'अस्थिर आसन' नामक दोष है । समभाव के इच्छुक साधक को सामायिक लेकर

मन को स्थिर करने के लिए प्रथम काया को स्थिर आसन में रखनी चाहिए। स्थिर आसन में रहकर स्वाध्यायादि में इस तरीके से यत्न करना चाहिए कि जिससे मन में किसी चीज के प्रति प्रतिबंध न रहे । सामायिक में यदि कभी किसी कारण से कहीं जाना पड़े, तो समिति-गुप्ति के परिणामपूर्वक गमन-आगमन करना चाहिए । ऐसा करने से यह दोष धीरे-धीरे मंद मंदतर होता हुआ नाश हो जाता है ।

३. चलदृष्टि : सामायिक लेकर दृष्टि यहाँ वहाँ घुमाना 'चलदृष्टि' दोष है। अनादि अभ्यस्त उत्सुकता नामक दोष के कारण जब किसी की आवाज़ सुनने पर या आगमन की शंका होने पर वह कौन है, कहाँ से आया है ? जानने की इच्छा से आँख इधर उधर घुमती है, तब समताभाव को प्राप्त करनेवाले स्वाध्यायादि क्रिया में विघ्न पैदा होता है । इस विघ्न को टालने के लिए दृढ़ यत्नपूर्वक उत्सुकता का त्याग कर नेत्रों को स्थिर करके सामायिकादि की क्रिया में यत्न करना चाहिए ।

४. सावद्य क्रिया : सामायिक में रहते हुए ईशारों आदि से सावद्यक्रिया विषयक सूचना देना अथवा समिति-गुप्ति के पालन के बिना अयतना से शरीरादि का हलन-चलन करना 'सावद्य क्रिया' नामक दोष है । उपयोग बिना की गई पडिलेहन की क्रिया करनेवाले को भी शास्त्र में छः काय का विराधक कहा गया है एवं जीव रक्षा के उपयोग के बिना चलनेवाले को जीव न मरते हुए भी सावद्य क्रिया करनेवाला कहा गया है । इस दोष से बचने के लिए जिससे सावद्य क्रिया का प्रारंभ हो सके वैसी क्रिया या वैसे किसी इशारे आदि भी नहीं करने चाहिए । पूंजे-प्रमार्जे बिना हाथ-पैर भी नहीं हिलाने चाहिए । पडिलेहनादि समस्त क्रिया उपयोगपूर्वक करनी चाहिए।

५. आलंबन : सुख-सुविधा चाहनेवाले स्वभाव के कारण शरीर की अनुकूलता के लिए खंभे, भीत या अन्य किसी वस्तु का आधार लेकर बैठने-उठने में आलंबन नाम का दोष लगता है । परन्तु किसी रोगादि के

कारण या शारीरिक अशक्ति के कारण, स्वाध्यायादि में मन को स्थिर करने के लिए कोई आधार आदि लेकर बैठने पर आलंबन दोष नहीं लगता ।

६. आकुंचन - प्रसारण : विशेष कारण के बिना सामायिक में हाथ पैर को संकोचने या फैलाने से यह दोष लगता है । इस तरीके से हाथ-पैर आदि को लंबा करने या सिकोड़ने से मन की स्थिरता तथा यत्न की दृढ़ता नहीं होती । फलतः सामायिक का भाव नहीं आता । अतः इस दोष से बचना चाहिए ।

७. आलस्य : सामायिक में आलस्य करना 'आलस्य' दोष है । आलस्य शरीर की जड़ता से होता है । शरीर की जड़ता विभिन्न क्रियाओं में आनंद, उत्साह या चित्त की प्रसन्नता के अभाव के कारण उत्पन्न होती है । सामायिक करनेवाला साधक यदि शास्त्र का ज्ञाता हो एवं विधिवत् सामायिक में यत्न करता हो, तो उसकी यह क्रिया उसके आनंद-उत्साह में वर्धन जरूर करती है और तब इस दोष का अवकाश नहीं रहता । परन्तु सत्त्व, क्षयोपशम तथा समझ के अभाव के कारण से की हुई सामायिक में आनंद-उत्साह आदि गुण प्रकट नहीं होते । शरीर में जड़ता आने से यह दोष प्रकट होता है ।

८. मोटन (चटकाना) : प्रमादादि दोष के कारण हाथ-पैर की अंगुलियों को चटकाना, शरीर मोड़ना वगैरह मोटन दोषरूप है ।

९. मल : सामायिक लेकर समभाव के प्रति यत्न करने के बदले शरीर पर से मैल उतारना 'मल' दोष है । यह दोष, मल के प्रति जुगुप्सा के कारण होता है । मल के प्रति घृणा समभाव में बाधक है । इसलिए इस दोष का त्याग करना भी जरूरी है ।

१०. विमासण : विमासण की मुद्रा में बैठना 'विमासण' दोष है । ऊपरी तौर से यह गहरी चिंता करने जैसा मानसिक दोष है, ऐसा लगता है । परन्तु विमासण काल में जिस मुद्रा में बैठे हो, उस तरीके की मुद्रा में बैठने के कारण यह दोष काया का दोष माना जाता है ।

११. निद्रा : सामायिक में झपकी आना या सोना 'निद्रा' दोष है । इस अवस्था में नींद उड़ाने का विशेष प्रयत्न किया जाए, तो अवश्य इस दोष से बचकर समभाव के लिए प्रयत्न हो सकता है ।

१२. वस्त्र संकोच : सामायिक में बार बार वस्त्र को व्यवस्थित करना, सकुंचित करना, पलट पलट कर धारण करना - इन सब क्रियाओं को करने में 'वस्त्र संकोच' नामक दोष लगता है । यह दोष भी सामायिक के सम्यग् यत्न में स्खलना उत्पन्न करता है । इसलिए शुद्ध सामायिक की इच्छावाले श्रावक को प्रयत्नपूर्वक उसका त्याग करना चाहिए ।

इस प्रकार मन-वचन-काया के ३२ दोषों को जानकर उनका प्रयत्नपूर्वक त्याग करना चाहिए । एक एक दोष के भिन्न भिन्न रूप को याद करके 'मिच्छा मि दुक्कडं' देने से दोषों का स्मरण अच्छी तरह हो सकता है । उन दोषों के प्रति तिरस्कार भाव उत्पन्न होता है एवं भविष्य में ऐसे दोष न लगें वैसी जागृति भी आती है, जिससे भविष्य में वे दोष अल्प-होते जाते हैं। इस तरह सामायिक करनेवाले साधक अल्प-अल्पतर दोषवाले बनकर शुद्ध बनते हैं ।

सामायिक लेने की विधि

सामायिक अर्थात् समभाव को प्राप्त करने का प्रयत्न । यह प्रयत्न विधिपूर्वक की गई सामायिक की प्रतिज्ञा से सफल होता है, क्योंकि अगर शास्त्र में बताई विधि के अनुसार सामायिक की जाए, तो समता का भाव सुंदर रीति से सहजतापूर्वक प्राप्त हो सकता है । इसलिए साधक को सामायिक की शास्त्रोक्त विधि जान लेनी चाहिए ।

सर्वप्रथम सामायिक करनेवाले साधक को इतने मुद्दे ध्यान में रखने चाहिए ।

१. सामायिक धर्म का अधिकारी कौन है ?

२. सामायिक का स्वरूप क्या है ?

३. सामायिक किस विधि से ग्रहण करनी चाहिए ?

४. सामायिक में प्रयोग हुए सूत्रों का अर्थ क्या है ?

५. सामायिक व्रत को स्वीकार करके सामायिक के दौरान क्या करना चाहिए ?

६. सामायिक करके हमें क्या पाना है ?

७. सामायिक को किस विधि से पारना चाहिए ?

१. सामायिक का अधिकारी :

जिसको सर्वविरति लेने की भावना हो पर जो ले न सकता हो, फिर भी जो अपना चारित्र मोहनीय कर्म तोड़ने के लिए 'जितना भी समय हो सके उतना समय संसार मे गँवाने के बजाय साधना में लगा दूँ' ऐसी भावना रखता हो। भूतकाल में जाने-अनजाने में हुए पापों को गुरु समक्ष स्वीकार करके जो शुद्ध हुए हैं, सामायिक व्रत के प्रति जिन्हें प्रीति है, इसके उपरांत प्रतिज्ञा का दृढतापूर्वक पालन करने का जिनमें सामर्थ्य है और जो समिति-गुप्ति के अभ्यासी हैं, वे मुख्यतया सामायिक के अधिकारी हैं ।

२. सामायिक का स्वरूप :

ऐसी अधिकारयुक्त आत्मा जिस सामायिक का स्वीकार करती है, उस सामायिक का शास्त्र में, भूमिका के भेद से अनेक प्रकार से वर्णन है । ऐसा होते हुए भी सामान्य तौर पर सभी प्रकार के सामायिक में अल्प या अधिक अंश में प्राप्त होनेवाला लक्षण इस प्रकार है -

समभावो सामाइयं तणकंचणसत्तुमित्तविसउ त्ति ।
णिरभिसंगं चित्तं उचियपवित्तिप्पहाणं च ।।

- पंचाशक

सामायिक अर्थात् सर्वत्र समान वृत्ति, निरभिष्वंगचित्त एवं औचित्यपूर्ण व्यवहार।

सर्वत्र समवृत्ति अर्थात् सोने का ढेर हो या रेत का ढेर हो, ये दोनों चीज़े पुद्गलमय-जड हैं, जीव को वे सुख या दुःख नहीं दे सकतीं, इन चीजों के प्रति जो सुखदायक या दुःखदायक बुद्धि उत्पन्न होती है, वह तो कल्पना मात्र है । ऐसा सोचकर उसमें अच्छे-बुरे की वृत्ति नहीं रखनी । शत्रु हो या मित्र, आत्मा से तो भिन्न ही है । मुझे अपने कर्म के अलावा; शत्रु या मित्र - कोई भी सुखी या दुःखी नहीं कर सकता, ऐसा मानकर शत्रु या मित्र को समान

मानना, समता है । सुख एवं दुःख भी अपने किए हुए कर्म के ही फल हैं । कर्म से प्राप्त हुआ यह सुख या दुःख उसका समय पूर्ण होने पर मिट जानेवाला है । ऐसा सोचकर शत्रु-मित्र, सुख-दुःखादि के प्रति समभाव बनाये रखने का यत्न करना, सामायिक है ।

निरभिष्वंग चित्त - मोहाधीनता के कारण जब तक विपरीत मान्यताएँ विद्यमान रहती हैं, तब तक जीव अपने अनुकूल वस्तु या व्यक्ति के ऊपर राग करता है और प्रतिकूल वस्तु या व्यक्ति पर द्वेष करता है । यह राग-द्वेष वाला परिणाम अभिष्वंग युक्त परिणाम है । इससे युक्त चित्त अभिष्वंगवाला चित्त कहलाता है एवं राग-द्वेष रहित चित्त निरभिष्वंगचित्त कहलाता है। अभिष्वंग के परिणाम के कारण साधक व्यथित रहता है । विह्वल एवं व्यग्र चित्तवाला बनता है । प्रारंभिक भूमिका में शायद सर्वथा अभिष्वंग से दूर न रह पाएँ, तो भी सामायिक में अभिष्वंग भाव का त्याग कर, साधक को सर्व स्थानों में निरभिष्वंग चित्त से रहने का यत्न करना चाहिए क्योंकि कहीं भी आसक्त हुआ चित्त समभाव में नहीं रह सकता। इसलिए समभाव की साधना करने की इच्छावाले साधक को किसी भी पदार्थ में कहीं भी आसक्ति न हो जाए, उसकी पूरी सावधानी रखनी चाहिए एवं मन को स्वाध्यायादि में इस तरह लगाना चाहिए कि जिससे अन्य भाव में चित्त न जाए एवं जाए तो भी श्रुत से प्रकट होनेवाला आत्मिक आनंद उसे उसमें आसक्त होने नहीं दे ।

औचित्य प्रवृत्ति प्रधान वर्तन – समभाव को साधने में जैसे निरभिष्वंग (अनासक्त) चित्त जरूरी है, वैसे ही सामायिक में जिस समय जो उचित हो वैसी प्रवृत्ति करना भी अत्यंत आवश्यक है । सामायिक के दौरान गुरु विनय-वैयावच्च-वाचना-पृच्छना-परावर्तना आदि कार्य करने से काषायिक वृत्तियों का नाश होता है । कषायों की मंदता या नाश किए बिना प्रायः जीव तात्त्विक औचित्य का विचार नहीं कर सकता एवं कषाय के अभाववाली आत्मा कहीं भी अपना औचित्य नहीं चूकती । इसलिए, सामायिकवाली आत्मा औचित्य का पालन करनेवाली होती है ।

सर्वश्रेष्ठ कोटि की सामायिक उपर्युक्त तीनों विशेषणों से युक्त होती है एवं प्रारंभिक कक्षा की सामायिक इन तीनों भावों में यत्नवाली होती है । सामायिक की साधना करने की इच्छावाले श्रावक को सामायिक का यह स्वरूप अच्छी तरह समझकर उसमें यत्न करना चाहिए ।

३. सामायिक विधि :

१. स्थापनाचार्य की स्थापना करने के लिए सर्वप्रथम स्थापना-मुद्रा से नवकार एवं पंचिंदिय सूत्र बोलना :

सामायिक का अनुष्ठान संभव हो तो सद्गुरु के सान्निध्य में करना चाहिए। सद्गुरु के सान्निध्य में सामायिक करने से उत्साह में वृद्धि होती है, भूलों से बच सकते हैं एवं किया हुआ अनुष्ठान सम्यग् होता है । यदि सद्गुरु का सान्निध्य प्राप्त न हो, तो गुरु के प्रति विनय-भाव बनाये रखने के लिए उनकी स्थापना करके सामायिक करनी चाहिए । ऐसी स्थापना करने के लिए बाजोठ (पाट) आदि उच्च आसन पर अक्ष, वराटक, धार्मिक पुस्तक या माला आदि रखकर उनमें गुरुपद की स्थापना करनी चाहिए । इसके लिए स्थापना मुद्रा से दायां हाथ उनके सन्मुख रखकर तथा बांये हाथ में मुहपत्ती मुख के पास धारण कर, प्रथम मंगल रूप नमस्कार मंत्र का पाठ बोलकर, पंचिंदिय सूत्र बोलना चाहिए । इस तरीके से विधिवत् जिसमें भावाचार्य की स्थापना की जाती है, उसे स्थापनाचार्य कहते हैं । अब जो भी आदेश या अनुज्ञा लेनी हो, वह उनसे ही लेनी चाहिए । गुरु महाराज के स्थापनाचार्य हों तो, यह विधि करने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु स्थापनाचार्य इस तरीके से स्थापित होने चाहिए कि क्रिया करते समय उनके और साधक के बीच मनुष्य या तिर्यंच की आड न पड़े याने कोई बीच में से आवागमन न करें ।

२. एक खमासमण देकर, खडे होकर ईरियाहियं० तस्स उत्तरी०, अन्नत्थ०, कहकर, चंदेसु निम्मलयरा तक एक लोगस्स का (न

आए तो चार नवकार का) काउस्सग्ग करना, काउस्सग्ग पारकर (नमो अरिहंताणं कहकर) प्रगट लोगस्स सूत्र बोलना ।

सामायिक करने से पहले सर्वप्रथम हिंसादि पापों से आत्मा को शुद्ध करना जरूरी है, हिंसादि पापों की आलोचना एवं प्रतिक्रमण करने के लिए गुरु को वंदन (करते हुए) आदेश माँगना है । उसके लिए प्रथम गुरु को **खमासमण सूत्र** द्वारा वंदन करने के लिए खड़े होकर...

इच्छामि खमासमणो ! वंदिउं जावणिज्जाए निसीहिआए

इतने पद बोलने के बाद चरवले से भूमि का तथा **संडासा** का (हाथ-पैर वगैरह के जोड़ स्थानों -(Joints) का) प्रमार्जन कर नीचे झुकते हुए - मस्तक, दो हाथ, दो जानु - इन पाँचों अंगों को इकट्ठा कर भूमि को स्पर्श करते हुए **मत्थएण वंदामि** बोलना चाहिए ।

गुरु को इस प्रकार वंदन करने के बाद खड़े होकर गुरु से पूछे कि -

इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! इरियावहियं पडिक्कमामि ?

हे भगवन् ! स्वेच्छा से आज्ञा दीजिए । मैं ईर्यापथिकी प्रतिक्रमण करूँ ?

गुरु कहते हैं - **'पडिक्कमेह'** तुम प्रतिक्रमण करो - उसके बाद गुरु को **इच्छं** = 'इच्छुक हूँ' ऐसा कहकर, 'मुझे आपकी आज्ञा स्वीकार्य है' ऐसा जताया जाता है ।

'इच्छं' कहने के बाद **इरियावहिया सूत्र** बोला जाता है ।

इस सूत्र के प्रत्येक पद के अर्थ को विचारणापूर्वक बोलने से अपने किए हुए पापों का स्मरण होता है । पापों का स्मरण होने पर पापों के प्रति पश्चात्ताप का भाव उत्पन्न होता है, जिससे आत्मा की शुद्धि होती है।

इरियावहिया सूत्र बोलने के बाद भी पापों की विशेष शुद्धि के लिए **तस्स उत्तरी सूत्र** बोला जाता है । उसके बाद पापकर्मों के नाश के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है । परन्तु कायोत्सर्ग में कौन से आगार रखने, किस तरीके से कायोत्सर्ग करना वगैरह याद करने के लिए **अन्नत्थ सूत्र** बोला जाता है ।

उसके बाद कायोत्सर्ग रूप प्रायश्चित्त के लिए (चंदेसु निम्मलयरा तक) **एक लोगस्स के चिंतनपूर्वक २५ श्वासोश्वास प्रमाण कायोत्सर्ग किया जाता है ।**

पापकर्मों के नाश रूप प्रणिधान से जिस कायोत्सर्ग का प्रारंभ किया, उन पापों का नाश होने पर साधक विशेष आनन्द में आ जाता है, जिसे व्यक्त करने के लिए पुनः **प्रगट लोगस्स** का उच्चारण किया जाता हैं ।

३. बाद में खमासमण देकर 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! सामायिक मुहपत्ती पडिलेहुं ?' गुरु 'पडिलेहेह' कहे तब 'इच्छं' कहकर मुहपत्ती का पडिलेहण करना है ।

हिंसादि पापों से मलिन हुई आत्मा की विशुद्धि करके मुहपत्ती पडिलेहण की क्रिया की जाती है, यह क्रिया भी गुरुवंदनपूर्वक करनी है । इसलिए गुरु वंदनार्थ पूर्व की तरह खमासमण देकर, **'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! सामायिक मुहपत्ती पडिलेहुं'** अर्थात् 'हे भगवंत ! आप अपनी इच्छा से मुझे आज्ञा दें मैं सामायिक लेने के लिए मुहपत्ती का प्रतिलेखन करूँ ? ऐसा कहकर गुरु भगवंत से मुहपत्ती की प्रतिलेखना करने की आज्ञा माँगी जाती है । यह सुनकर गुरु भगवंत भी योग्य अवसर जानकर साधक को आज्ञा देते हैं - **'पडिलेहेह'** अर्थात् 'तुम मुहपत्ती का प्रतिलेखन करो । गुरु भगवंत जब ये आज्ञा दें तब साधक को, **'इच्छं'** कहकर उनकी आज्ञा का स्वीकार कर मुहपत्ती का पडिलेहण करना है ।

जैनशासन में अगर साधक कोई भी कार्य करना चाहता हो, तो उसके लिए इच्छाकार समाचारी का पालन करना अति आवश्यक है । इसीलिए इस प्रकार के शब्दप्रयोग द्वारा गुरु की इच्छा जानकर, विनयपूर्वक आज्ञा पाकर सामायिक करने का इच्छुक साधक द्रव्य और भाव से, हिंसा से बचने के अभिप्रायपूर्वक मुहपत्ती के ५० बोल की विचारणापूर्वक मुहपत्ती का पडिलेहण करता है ।

सामायिक की प्रतिज्ञा करने से पहले मुहपत्ती की पडिलेहना इसलिए जरूरी है कि पडिलेहना की क्रिया अहिंसक भाव को उत्पन्न करनेवाली है । बाहर से मुहपत्ति को देखकर उसमें कोई जीव-जंतु हो तो उसको दूर करने से बाह्य यतना का पालन होता है और बोल के विचार द्वारा आत्मा को पीड़ा देनेवाले रागादि भावों की अनुप्रेक्षा कर उनसे बचने रुप अभ्यंतर यतना का पालन होता है । यहाँ मुहपत्ती के उपलक्षण से सामायिक के तमाम उपकरण, सामायिक करने का स्थान आदि सर्व को शास्त्र में बताई हुई विधि के अनुसार प्रतिलेखना एवं प्रमार्जना पूर्वक ही उपयोग में लेने चाहिए । इस प्रकार उपकरण के उपयोग से छ-काय जीवों की रक्षा का परिणाम उत्पन्न होता है । यह परिणाम समताभाव का पूरक एवं पोषक परिणाम है ।

४. इसके बाद एक खमासमण देकर कहना कि 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! सामायिक संदिसाहु ? उसके बाद इच्छं० कहकर एक खमासमण देकर खड़े होकर कहना कि, 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! सामायिक ठाउं ?' और इच्छं कहकर दो हाथ जोड़कर एक नवकार गिनना ।

मुहपत्ती-पडिलेहन की क्रिया पूर्ण होने के बाद सामायिक करने की आज्ञा माँगने के लिए, साधक गुरु भगवंत को एक खमासमण देकर कहता हैं कि, **'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! सामायिक संदिसाहु ?** अर्थात् सामायिक करने की मेरी भावना है । मैं इस प्रयोजन के लिए आपसे आज्ञा चाहता हूँ ? तब गुरु कहें, 'संदिसह' - तुम अपनी इच्छा के अनुरूप आज्ञा माँगो । गुरु की आज्ञा को स्वीकार कर साधक कहता है, 'इच्छं' अर्थात् आप की आज्ञा मुझे शिरोधार्य है।

फिर, एक खमासमण देकर साधक कहता है, 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन! सामायिक ठाउं ?' अर्थात् हे भगवंत ! आप मुझे इच्छापूर्वक आज्ञा दें, मैं सामायिक में रहूँ ? तब गुरु कहें, 'ठाएह' तुम सामायिक में रहो । इसके बाद साधक खड़ा होकर 'इच्छं' कहते हुए आज्ञा स्वीकार करके दो हाथ जोड़कर-मस्तक झुकाकर, मंगल करने के लिए एक **नवकार** गिनता है।

कहा है, 'श्रेयांसि हि बहुविघ्नानि' समता को साधने का काम श्रेय रूप है । उसमें अनेक बाह्य-अभ्यंतर विघ्नों की शक्यता रहती है । सर्दी-गर्मी आदि स्वरूप अनेक प्रकार के बाह्य विघ्न हैं एवं सामायिक में आवश्यक साधनों के सिवाय कोई भी साधन-सामग्री या अन्य भावों के प्रति ममत्व आदि अंतरंग विघ्न हैं । अंतरंग विघ्न तो सदा साथ ही रहता है । इसलिए नवकार मंत्र गिनकर पंचपरमेष्ठि का स्मरण करते हुए विघ्ननाश का संकल्प करना है ।

५. इसके बाद 'इच्छकारी भगवन् ! पसाय करी सामायिक दंडक उच्चरावोजी' ऐसा कहकर गुरु या बुजुर्ग के मुख से करेमि भंते सूत्र सुनना एवं कोई न हों, तो स्वयं करेमि भंते सूत्र बोलना ।

एक नवकार गिनकर साधक ऊँचे स्वर में बोलता है 'इच्छकारी भगवन् ! पसाय करी सामायिक दंडक उच्चरावोजी' - हे भगवंत ! आपकी इच्छा हो तो मुझ पर कृपा करके मुझे सामायिक की प्रतिज्ञा स्वरूप - सामायिक दंडक (करेमि भंते सूत्र) का उच्चरण करवाइएँ अर्थात् इस सूत्र द्वारा मुझे सामायिक की प्रतिज्ञा करवाएँ । यह शब्द सुनकर गुरु भगवंत भी स्पष्ट शब्दोच्चारणापूर्वक उच्च स्वर में 'करेमि भंते सूत्र' बोलते हैं । सामायिक लेनेवाला साधक इसके एक एक शब्द को अर्थ के विचार के साथ उपयोगपूर्वक सुनता है । शब्द सुनते ही उसे होता है, *'अहो ! दुनियाभर के पाप से अब मैं छूट गया, पूर्व के पापों का भी प्रतिक्रमण कर थोड़ा हलका हुआ एवं भविष्य में (४८ मिनिट में) भी ऐसे पाप न हों इसके लिए सतर्क रहूँगा ।'* यह तथ्य याद रखना जरूरी है, कि ऐसे भाव उसी को आते हैं, जिन्हें सूत्र का अर्थ आता हो एवं जो सूत्र-अर्थ में ही उपयोगवाला हो । बाकी मन को यहाँ वहाँ भटकने देकर उपयोग के बिना इस सूत्र को बोलनेवाले को या सुननेवाले को ऐसा कोई भाव नहीं आ सकता।

६. फिर एक खमासमण देकर आदेश ले, 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! बेसणे संदिसाहुं ?' "इच्छं" कहकर और एक खमासमण देकर आदेश ले, 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! बेसणे ठाउं ?' "इच्छं" कहकर और

एक खमासमण देकर पूछें, सज्झाय संदिसाहुं ?' 'इच्छं' कहकर, फिर से एक खमासमण देकर पूछें, "इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! सज्झाय करुं ?" 'इच्छं' कहकर दोनों हाथ जोड़कर तीन नवकार गिनना ।

सामायिक व्रत को स्वीकार करने के बाद अप्रमत्त अवस्था में रह सकें ऐसे किसी आसन में बैठने के लिए गुरु की आज्ञा ली जाती है । इसके लिए एक खमासमण देकर पूछते हैं, **"इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! बेसणे संदिसाहुं ?"** अर्थात् हे भगवंत ! आप की आज्ञा हो तो मैं बैठने की अनुमति माँगु ?

यहाँ जो बैठने की आज्ञा मांगी है, वह पलस्थी मारकर सुखासने में बैठने के लिए नहीं । परन्तु अप्रमत्त भाव का कारण बने, वैसे आसन में बैठने की आज्ञा माँगते है । बाद में जिस स्वाध्याय का आदेश माँगकर स्वाध्याय करना है, उस स्वाध्याय के लिए भाव की वृद्धि करें, वैसी दृढ़ मुद्रा में बैठने के लिए यहाँ आज्ञा माँगी जाती है ।

गुरु आज्ञा देते हुए कहते हैं, "संदिसह" अर्थात् 'तुम आज्ञा माँग सकते हो' जिसे सुनकर शिष्य 'इच्छं' कहकर उसे स्वीकार करता है ।

उसके बाद फिर खमासमण देकर पूछना है, **'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! बेसणे ठांउं ?'** अर्थात्, 'भगवंत ! आपकी आज्ञा हो तो मैं आसन (मुद्रा) में स्थिर हो जाऊँ ?' गुरु जब 'ठाएह' कहकर 'तुम स्थिर हो सकते हो,' ऐसा कहते हैं, तब शिष्य 'इच्छं' कहकर उसका स्वीकार करता है ।

सामायिक में मुख्य कार्य करना है, स्वाध्याय । इसलिए अब खमासमणपूर्वक उसका आदेश माँगते हुए शिष्य पूछता है, **"इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! सज्झाय संदिसाहुं ?"** अर्थात् 'भगवंत ! अब मैं स्वाध्याय में रहने के लिए आज्ञा माँगू ?' 'संदिसह' अर्थात् 'स्वाध्याय के लिए तू आज्ञा माँग सकता है,' ऐसा कहे तब शिष्य पुनः 'इच्छं' कहकर उसे स्वीकार कर लेता है । इसके बाद फिर खमासमणपूर्वक पूछता है "इच्छाकारेण संदिसह

भगवन् ! सज्झाय करूँ ?" अर्थात् 'भगवंत! मैं स्वाध्याय करूँ ?' गुरु कहते हैं 'करेह' = कर; तब शिष्य 'इच्छं' कहकर 'आज्ञा प्रमाण है' ऐसा कहकर स्वाध्याय में कोई विघ्न न आए, इसलिए मंगल स्वरूप तीन नवकार गिनकर स्वाध्याय में स्थिर होता है ।

यहाँ हर एक स्थान पर एक एक कार्य के लिए दो बार आज्ञा माँगी गई है क्योंकि जैनशासन विनय प्रधान है, आज्ञा प्रधान है । कार्य को प्रारंभ करने के पहले उस कार्यसंबंधी इच्छा व्यक्त करने के लिए आदेश-आज्ञा माँगी जाती है और फिर उस कार्य को प्रारंभ करते हुए 'यह कार्य करता हूँ ।' इस तरीके से कार्य का निवेदन किया जाता है । हर एक आदेश माँगते समय गुणसंपन्न गुरु भगवंत को अपनी नजर के समक्ष रखकर, उनके अधीन रहकर यह कार्य करता हूँ, ऐसा भाव खास रखना चाहिए ।

आज के समय में बहुत से लोगों की यह मान्यता है कि समभाव ही सामायिक है । इसलिए वे मानते हैं कि सर्वत्र सदा समभाव में रहना जरूरी है; पर ऐसी क्रिया करने की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि, ऐसी क्रिया किए बिना भी भरतादि अनेक आत्माएँ समता रखकर मोक्ष में गई हैं । यह मान्यता योग्य नहीं है । कदाचित् पूर्वभव के संस्कारों से भरत महाराज जैसों को मोक्ष मिल गया हो उतने मात्र से सबको मिल ही जाएगा ऐसा नहीं है । अधिकतर आत्माओं ने तो विधिवत् सामायिक व्रत को स्वीकार करके ही मोक्ष पाया है । इसलिए, विधिवत् सामायिक का स्वीकार करना ही योग्य है । कोई समझदार व्यापारी 'लक्की ड्रॉ' में पडोसी की करोडों की कमाई देखकर अपना व्यापार नहीं छोड़ देता । उसी तरह जिसको समभाव के संस्कार डालने हो, उसे विधिपूर्वक सामायिक ग्रहण करनी ही चाहिए ।

४. सामायिक में प्रयोग किए हुए सूत्रों का अर्थ :

नवकार, पंचिंदिय, इरियावही इत्यादि सूत्र के अर्थ जो इस पुस्तक में दिये हैं, वे उपस्थित होने चाहिए ।

५. सामायिक व्रत को स्वीकार करने के बाद सामायिक काल में क्या करना है ?

सामायिक ग्रहण करने के बाद मुख्य रूप से श्रावक को दो घड़ी तक स्वाध्याय ही करना है । स्वाध्याय अर्थात् जिस क्रिया से आत्मा का निरीक्षण, आत्मा का अभ्यास, आत्मा का ध्यान हो वैसी क्रिया । यह स्वाध्याय पाँच प्रकार का होता है : वाचना-पृच्छना-परावर्तना-अनुप्रेक्षा एवं धर्मकथा । स्वाध्याय आदि इस तरीके से करने चाहिए कि अनादिकाल से चली आ रही अपनी विपरीत प्रवृत्ति का अंत हो एवं अपनी आत्मा धीरे धीरे समताभाव के अभिमुख बने। शास्त्र के एक एक शब्द का सहारा लेकर इस तरीके से शब्दों को बोलना चाहिए, जिससे वे शब्द मोहराजा के शस्त्रों को नष्ट करने में समर्थ बन सकें । मोह के संस्कारों को कमजोर करने का काम कर सकें । सामायिक में स्वाध्याय के सिवाय साधु की वैयावच्च, कायोत्सर्ग, मंत्रजाप, ध्यान, खमासमण वगैरह क्रिया भी कर सकते हैं ।

६. सामायिक करके हमें क्या पाना है ?

समता के अभाव में सिद्धि की प्राप्ति नहीं, इसलिए सामायिक अनुष्ठान को बार बार करके हमें समता को आत्मसात् करना चाहिए ।

७. सामायिक पारने की विधि :

सामायिक व्रत को स्वीकार करके श्रावक सतत स्वाध्याय-ध्यान में मग्न रहता है । जिससे उसे अत्यंत आत्मिक आनंद की प्राप्ति होती है । इस कारण से ही उसकी इच्छा सदा के लिए सामायिक करने की होती हैं । ऐसी भावना होते हुए भी अपनी शक्ति एवं संयोगों का विचार करते हुए जब ऐसा लगे कि, 'अब एक सामायिक का समय पूर्ण हुआ है । मेरे संयोग आदि का विचार करते हुए अब पुनः सामायिक का प्रारंभ करना योग्य नहीं है।' तब ऐसी उत्तम क्रिया छोड़ने की लेश मात्र भी इच्छा न होते हुए भी केवल काया से ही वह सामायिक पारने की क्रिया करता है । उसका मन तो तब भी सामायिक में ही प्रवृत्त रहता है ।

पर जिन्होंने सामायिक लेकर समभाव को प्राप्त करने का यत्न न किया हो, मात्र व्यवहार से ही सामायिक व्रत को स्वीकार किया हो, उन आत्माओं को इस सामायिक की उत्तमता या आत्मिक आनंद का अनुभव नहीं हो सकता अतः वे सामायिक का समय पूर्ण होते ही सामायिक पारने के लिए तत्पर बन जाती हैं ।

सामायिक पारने की विधि इस प्रकार है -

१. एक खमासमण देकर खड़े होकर ईरियावहियं, तस्स उत्तरी०, अन्नत्थ०, कहकर (चंदेसु निम्मलयरा तक) एक लोगस्स का (न आता हो तो चार नवकार का) काउस्सग्ग करना । काउस्सग्ग पारकर (नमो अरिहंताणं कहकर) प्रकट लोगस्स सूत्र बोलना ।

सामायिक पारने के लिए सर्वप्रथम एक खमासमण देकर, गुरु को वंदन कर, सामायिक काल में प्रमाद के कारण जिस तरीके से सामायिक में प्रयत्न करना चाहिए था ऐसा न कर सके हों, अथवा अनाभोग से या अचानक सामायिक के भाव से कोई विरुद्ध प्रवृत्ति हुई हो, उसके निवारण के लिए ईरियावहिया एवं तस्स उत्तरी सूत्र कहते हैं । ये सूत्र इस तरीके से बोलने चाहिए कि, जीव के प्रति मैत्री का अभाव या अन्य किसी दोष के कारण हुए पापों का स्मरण कर, उनका 'मिच्छा मि दुक्कडं' दे सकें एवं भविष्य में ऐसे पाप पुनः न हों, उसके लिए अधिक दृढ़ प्रयत्न चालू रहे ।

इसके बाद सामायिक के समय में लगे पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए अन्नत्थ बोलकर, एक लोगस्स का कायोत्सर्ग करना होता है । इस लोगस्स का स्मरण सामायिक में लगे पापनाश के प्रणिधानपूर्वक करना है । ऐसे प्रणिधानपूर्वक एवं चित्त की एकाग्रता से २४ जिनों की स्तवना करने के कारण कायोत्सर्ग से चित्त खूब निर्मल बनता है । यह निर्मल चित्त पुनः पाप नहीं करने देता एवं कभी पाप हो जाए तो भी पूर्व के जैसे मलिन भाव तो नहीं ही आते । इसके बाद चित्त की निर्मलता से प्राप्त हुए हर्ष को प्रगट करने के लिए प्रगट लोगस्स बोला जाता है ।

२. इसके बाद खमासमण देकर 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! मुहपत्ती पडिलेहुं' 'इच्छं' कहकर मुहपत्ती का पडिलेहन करना ।

इसके बाद गुरु भगवंत से आदेश माँगते हैं । **'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् मुहपत्ति पडिलेहुं ?'** 'इच्छापूर्वक हे भगवंत ! आप आज्ञा दें कि मैं मुहपत्ती का प्रतिलेखन करूँ ?' गुरु कहते हैं, **'पडिलेहेह'** अर्थात् तु प्रतिलेखन कर ऐसी अनुमति देते हैं । तब गुरु का आदेश पाकर शिष्य भी यथोचित मुद्रा में बैठकर बाहर से अन्य जीव की यतना हेतु मुहपत्ती एवं अपनी काया का प्रतिलेखन करता है । अपनी आत्मा का प्रतिलेखन करने के लिए वह मुहपत्ती के ५० बोल का चिंतन करता है । इस क्रिया द्वारा किसी भी जीव की विराधना कहीं पर भी मुझ से न हो जाए, वैसे भाव द्वारा साधक अपने अहिंसा के संस्कारों को दृढ करता है । इस कारण ही सामायिक पारकर गृहकार्य या अन्य कार्य में प्रवृत्त हुए श्रावक की तमाम क्रियाएँ दूसरों से अलग होती हैं। तमाम क्रियाओं में अहिंसा का एवं यतना का भाव उसके प्रत्येक व्यवहार में दिखाई देता है ।

३. इसके बाद खमासमण देकर आदेश माँगता हुआ साधक पूछता है, 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! सामायिक पारुं ?' फिर यथाशक्ति बोलकर और एक खमासमण देकर 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! सामायिक पार्युं ?' ऐसा कहकर 'तहत्ति' कहना । इसके बाद दांया हाथ चरवले के ऊपर रखकर एक नवकार गिनकर सामाईय वयजुत्तो० सूत्र बोलना ।

इतनी क्रिया के बाद भी श्रावक का मन ऐसी उत्तम क्रिया का त्याग करने को तैयार नहीं होता, तो भी संसार की अन्य चिंताओं के कारण उसे इन भावों में रहना संभव न लगे, तब वह गुरु के पास जाकर सामायिक पारने की अनुज्ञा माँगता है ।

श्रावक समझता है कि गुणसंपन्न गुरु भगवंत इस कल्याणकारी क्रिया को छोड़ने की अनुमति तो कभी भी नहीं देते, फिर भी उनके प्रति भक्ति से

उनके पास सामायिक पारने की याचना करते हुए कहता है, **'इच्छाकारेण संदिसह भगवन ! सामायिक पारुं ?'** अर्थात्, 'इच्छापूर्वक हे भगवंत ! आज्ञा दीजिए कि सामायिक पारुं ?'

यह आदेश सुनकर गुरु भी उसके भाव की वृद्धि के लिए कहते हैं **'पुणो वि कायव्वं'** यह सामायिक फिर से करने जैसी है । गुरु के ये शब्द सुनकर हर्षान्वित हुआ श्रावक स्व-शक्ति का विचार करता है । शक्ति नहीं दिखने पर गुरु से कहता है **'यथाशक्ति'** आप कहते हैं वैसी सामायिक मुझे भी करनी बहुत पसंद है, परन्तु अभी मेरे संयोग नहीं है, मुझमें सामर्थ्य नहीं हैं, शक्ति एवं संयोग के अनुसार मैं दोबारा सामायिक करने का जरूर यत्न करूँगा ।

फिर अनुज्ञा माँगते हुए कहता है, **'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! सामायिक पार्युं'** अर्थात् इच्छापूर्वक हे भगवंत ! अब सामायिक पारता हूँ ।

इन शब्दों द्वारा गुरु समझ जाते हैं कि, अब तो इस समय सामायिक कर सके ऐसा प्रतीत नहीं होता एवं गुरु सावद्य कार्य की अनुमति नही दे सकते; इसलिए, 'तुम सामायिक भले पार लो,' ऐसा न कहते हुए कहते हैं, **'आयारो न मोत्तव्वो',** तुम्हारा संयोग नहीं, उसके कारण तुम्हें अभी तो पारना पड़ रहा है, परन्तु इस सामायिक का आचार छोड़ने योग्य नहीं है। गुरु के वचन सुनकर शिष्य उनको स्वीकार करता हुआ कहता है, **'तहत्ति'** अर्थात् आप कहते हैं वैसा ही है - वही सत्य है अर्थात् सामायिक का आचार छोड़ने जैसा नहीं है ।

उसके बाद सामायिक पारने के लिए मंगलार्थक नवकार मंत्र का पाठ बोलकर, सामायिक के महत्त्व को बताने वाला 'सामाइय वयजुत्तो' सूत्र बोलता हैं । इस सूत्र को बोलने द्वारा बार-बार सामायिक करने की भावना के साथ सामायिक में हुई अविधि-आशातना आदि कोई भी दोष लगा हो, तो उसका मिच्छामि दुक्कडं देकर सामायिक व्रत को पूर्ण करता हैं । **योग्य तरीके से सामायिक व्रत को पूर्ण करने का नाम ही सामायिक पारना है ।**

४. स्थापनाजी स्थापित किए हो तो उसके बाद दायां हाथ सीधा रखकर एक नवकार गिनकर स्थापनाजी का उत्थापन कर लेना ।

मुहपत्ती पडिलेहन की विधि

सामायिक धर्म समताभाव की साधना के लिए है । समता की साधना विषम वृत्ति एवं प्रवृत्ति के विनाश से होती है । मुहपत्ती एवं शरीर का पडिलेहन करते हुए बोले जानेवाले बोल द्वारा बाह्य एवं अंतरंग समता के तथा विषमता के कारण कौन से हैं, उनमें से किन कारणों को (साधन-उपाय) ग्रहण करने हैं एवं किन कारणों को त्याग करते हैं, उसकी विचारणा करनी है।

पडिलेहन शब्द का संस्कृत संस्कार प्रतिलेखना है । प्रतिलेखना अर्थात् ध्यानपूर्वक देखना अथवा आगमों में बताई विधिपूर्वक अत्यंत बारीकी से बार बार निरीक्षण करना । प्रतिलेखना दो प्रकार से करने में आती है । एक द्रव्य से और दूसरी भाव से। उसमें द्रव्य-प्रतिलेखना मार्ग, वसति, वस्त्र, पात्र एवं उपकरण संबंधी करनी है, जब कि भाव-प्रतिलेखना आत्मा की करनी होती है । मुहपत्ती की द्रव्य प्रतिलेखना से मुहपत्ति या शरीर पर कोई जीव-जन्तु है या नहीं वह देखना है एवं अगर हो तो उस जीव को किसी भी प्रकार की पीड़ा न हो, इस उद्देश्य से जयणापूर्वक उसे योग्य स्थान पर छोड़ना है । भाव प्रतिलेखना द्वारा अपनी तथा अन्य की आत्मा को जिससे पीड़ा होती है, वैसे दोषों को दूर करने के लिए एवं आत्मा को जिससे आनंद हो वैसे गुणों को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना है ।

वैसे तो प्रतिलेखन की क्रिया बहुत छोटी है । परन्तु उसमें समग्र जैनशासन का सार भरा हुआ है । मुहपत्ती की प्रतिलेखना के समय बोले जानेवाले बोल का अगर शांत चित्त से विचारकर बोले जाएँ, तो मुहपत्ती प्रतिलेखन के बाद की हुई क्रिया जरूर उचित फल प्रदान करने में समर्थ होती है ।

इन एक-एक बोल का जितना अधिक चिंतन होगा, जितना गहरा विमर्श होगा, उतने अपने कुसंस्कार निश्चित रूप से नष्ट होंगे एवं आत्मा गुणों की दिशा में आगे बढेगी। इसीलिए यहाँ मुहपत्ती के एक एक बोल का सामान्य से विचार किया है । विशेष विचारणा सद्गुरु के पास बैठकर स्वयं करनी है ।

१. सूत्र, अर्थ, तत्त्व करी सद्दहुं :

अरिहंत भगवंतों द्वारा प्ररूपित एवं गणधर भगवंतों द्वारा गूँथे हुए सूत्र एवं अर्थ को तत्त्वरूप जानकर श्रद्धा करता हूँ ।

इस जगत् में आत्मा का हित करनेवाला कोई तत्त्व है, तो वह मात्र गणधरकृत सूत्र एवं उनके अर्थ ही हैं । जैसे जैसे सूत्रों का अभ्यास होता जाता है, उनका अर्थ समझ में आता जाता है, वैसे वैसे जगद्वर्ती पदार्थों का वास्तविक ज्ञान होने लगता है । जगत् के यथार्थ रूप को देखने से किस वस्तु में प्रवृत्ति करनी चाहिए एवं किससे निवृत्त होना है, इसका भी यथार्थ बोध होता है । इस बोध के अनुसार प्रवृत्ति करने से आत्महित होता है । सूत्र या अर्थ का मात्र ज्ञान आत्मा के लिए उपकारक नहीं बन सकता, "सूत्र एवं अर्थ ही जगत् में तत्त्वभूत (परमार्थ भूत) हैं" ऐसी दृढ मान्यता रखनेवाले साधक का ही हित हो सकता है। ऐसी तीव्र श्रद्धा ही आत्महित की साधना में उपकारक है । इसीलिए सर्वप्रथम इन शब्दों द्वारा साधक सूत्र-अर्थ की तत्त्वरूप से श्रद्धा करने का संकल्प करता है ।

सूत्र-अर्थ की श्रद्धा में दर्शन मोहनीय कर्म बाधक तत्त्व है । जब तक यह दर्शन मोहनीय कर्म निर्बल नहीं होता, तब तक सूत्र या अर्थ का ज्ञान पाकर उस पर श्रद्धा होना संभव नहीं हो सकता । इसलिए कहते हैं -

२-३-४. सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय परिहरुं :

मिथ्यात्व मोहनीय कर्म बुद्धि में भ्रम पैदा करता है । इस कर्म के कारण ही संसार की असारता को बतानेवाले तथा विषयों के विपाकों का दर्शन करवाने वाले भगवान के वचनों के उपर श्रद्धा नहीं होती । इस कारण से ही संसार को सार मानते हुए विषयों में आसक्त बने जीव अनंतकाल से दुःख की परंपरा पाते हैं । सम्यक्त्व मोहनीय तथा मिश्र मोहनीय कर्म भी शुद्ध या अर्धशुद्ध हुए मिथ्यात्व मोहनीय कर्मों के ही दलिक हैं। उसका कार्य भी तत्त्वमार्ग में तथा तत्त्वभूत सूत्र-अर्थ में बाधक बनने का ही है । इसलिए साधना के लिए उद्यत बना साधक सर्वप्रथम ऐसा बोलने के द्वारा इन तीन प्रकृतियों को त्यागने का संकल्प करता है ।

यह दर्शन मोहनीय कर्म भी तीव्र कोटि के राग पर निभता है । इसलिए प्रतिलेखन करता हुआ साधक अब कहता है कि,

५-६-७. कामराग-स्नेहराग दृष्टिराग परिहरुं :

कामराग अर्थात् पाँचों इन्द्रियों के विषयों के प्रति राग, स्नेहराग याने सुख के रिश्ते से बंधे हुए स्वजनों का राग एवं दृष्टिराग अर्थात् दर्शन, मत या स्वमान्यता का राग । ये तीन प्रकार के राग दर्शन मोहनीय कर्म के उदयादि के कारण तत्त्व की तत्त्वरूप से श्रद्धा होने नहीं देते । इसलिए इन तीन प्रकार के रागों को त्याग करने की इच्छावाला साधक यह बोलकर उनको त्यागने का संकल्प करता है ।

इन तीन प्रकार के राग को निकालना इतना आसान नहीं है। इन राग का त्याग देव, गुरु एवं धर्म की आराधना से ही होता है । इसलिए, अब कहते हैं कि -

८-९-१०. सुदेव-सुगुरु-सुधर्म आदरुं :

सर्वज्ञ, रागादि दोषों को जीतनेवाले, तीनों लोक से पूजित, यथास्थित अर्थ को कहनेवाले, पूजा करने योग्य ऐसे परमेश्वर को सुदेव कहते हैं ।

जो महाव्रत को धारण करते हैं, धीरता से युक्त हैं, अल्प एवं कल्पनीय भिक्षा मात्र से शारीर का पोषण करते हैं, सामायिक चारित्र में स्थित हैं एवं जिनाज्ञा के अनुसार धर्मोपदेश देते हैं, उनको जैनशासन में गुरु कहते हैं ।

'दुर्गति में गिरते हुए प्राणी को धारण करे-बचाए', उसे धर्म कहते हैं। सर्वज्ञ भगवंतो के बताये संयमादि दशविध धर्म मुक्ति प्रदान करते हैं, इसे सुधर्म कहते हैं[1]।

ऐसे सुदेव, सुगुरु एवं सुधर्म का आदर ही आत्मा में राग का त्याग करने का सामर्थ्य प्रकट करता है । इसलिए मुमुक्षु सुदेव, सुगुरु एवं सुधर्म के प्रति आदरवाला होता है याने कि इस बोल द्वारा वह अपने जीवन में उनकी आज्ञा का यथाशक्ति पालन करने का संकल्प करता है ।

सुदेवादि की आराधना तब संभव बनती है, जब कुदेवादि का त्याग हो। इसलिए अब कहते है -

११-१२-१३. कुदेव-कुगुरु-कुधर्म परिहरुं :

जो देव स्त्री, शस्त्र, अक्षमाला आदि रागादि चिह्नों से कलंकित हैं तथा निग्रह एवं अनुग्रह करने में तत्पर है, वे कुदेव है । सर्व पदार्थों की इच्छा रखनेवाले, सर्वप्रकार के भोजन करनेवाले, परिग्रह रखनेवाले, अब्रह्मचारी एवं उन्मार्ग का उपदेश देनेवाले कुगुरु हैं[2] । जिस धर्म में रागादि से मुक्त होने की एवं संपूर्ण अहिंसा की बातें न हो, वह सुधर्म नहीं है। कुदेवादि के सान्निध्य से आत्मा मलिन बनती है । इसलिए साधक आत्मा इन बोलों द्वारा कुदेवादि को त्याग करने का संकल्प करता है ।

सु और कु की परीक्षा भी कौन कर सकता है ? जो सम्यग्ज्ञानादि की प्राप्ति के लिए यत्न करते हो; इसलिए अब कहते हैं कि,

---

1. योगशास्त्र प्रकाश-२ गाथा ४-८-११
2. योगशास्त्र प्रकाश-२ श्लोक-६, ९

१५-१५-१६. ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदरुं :

छोड़ने योग्य क्या हैं एवं अपनाने योग्य क्या हैं इसको जानना ज्ञान है, उसमें श्रद्धा करना दर्शन है एवं उसके अनुरूप क्रिया करनी वह चारित्र है । 'इस ज्ञान, दर्शन, चारित्र के प्रति मैं हृदय से आदर रखुँ । इन तीनों गुणों को पाने के लिए मैं शक्य प्रयत्न करुँ' ऐसा संकल्प यह बोल बोलते हुए साधक करता है।

इस तरीके से ज्ञानादि गुणों के प्रति आदर प्रकट करते हुए उनकी विराधना से भी अटकने का मन होता है । इसलिए कहते हैं,

१७-१८-१९. ज्ञान विराधना-दर्शन विराधना-चारित्र विराधना परिहरुं :

ज्ञानी पुरुषों या ज्ञान के साधनों, सम्यग्दृष्टि आत्मा या सम्यग्दर्शन के साधनों एवं चारित्र संपन्न आत्मा या चारित्र के किसी भी उपकरण की विराधना का मैं त्याग करुँगा अर्थात् उनकी विराधना मुझसे ना हो, इसका मैं सतत ख्याल रखूँगा ।

ज्ञानादि गुणों की या उनके साधनों की विराधना तब बचा जा सकता है जब मन-वचन-काया काबू में हों.... इसलिए कहते हैं कि...

२०-२१-२२. मनोगुप्ति-वचनगुप्ति-कायगुप्ति आदरुं :

मन को अशुभ विचारों से रोकना मनोगुप्ति है, आत्मा के लिए अहितकर ऐसे वचन न बोलना वचनगुप्ति है एवं निरर्थक काया के व्यापारों को रोकना कायगुप्ति है । किसी भी गुण की विराधना ना हो, इसलिए इन तीन प्रकार की गुप्ति का मैं आदर करता हूँ । यथाशक्ति प्रयत्न से खुद की आत्मा को तीन गुप्ति में ही रखने का, ये बोल बोलते हुए, साधक संकल्प करता है ।

तीन प्रकार की गुप्ति के प्रति तभी आदर हो सकता है, जब मन, वचन, काया से आत्मा को दंड मिले ऐसा कार्य न हो । इसलिए कहते हैं कि...

२३-२४-२५. मन दंड, वचन दंड, काय दंड परिहरुं :

मन के अशुभ विचार या जिनके कारण आत्मा को दुर्गति आदि का दंड भुगतना पडे, वह मनोदंड है । स्व या पर को पीड़ा हो वैसी वाणी का असभ्य व्यवहार, वचन दंड है एवं काया से होनेवाली हिंसा आदि की प्रवृत्ति जो आत्महित के लिए बाधक बनती है, वह काय दंड है, ऐसे मन, वचन एवं काय के दंड का में त्याग करता हूँ । इन बोलों के द्वारा साधक ऐसा विचार करता है ।

मन, वचन एवं काया के दंड का परिहार भी कषाय एवं नो-कषाय के त्याग से संभव है । इसलिए कहते हैं...

२६-२७-२८. हास्य-रति-अरति-परिहरुं :

हास्य भी एक प्रकार का विकार है । निमित्त मिलने पर या बिना निमित्त हास्य करना, इष्ट वस्तु की प्राप्ति होने पर उसमें रति का भाव करना एवं अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति होने पर उसमें अरति का भाव रखना, वह हास्य, रति एवं अरतिरूप नोकषाय है । इन नोकषायों का परिणाम भी आत्मा के लिए घातक है । आत्मा उनसे दंडित होती है । इनसे मलिन कर्मों का बंध होता है। इसलिए इन बोलों द्वारा आत्मा में पड़े हुए मलिन भावों का स्मरण कर साधक उनको त्याग करने का संकल्प करता है ।

२९-३०-३१. भय-शोक-जुगुप्सा परिहरुं :

अनिष्टकारक तत्त्वों को देखते हुए उत्पन्न हुए भय, इष्ट वस्तु या व्यक्ति के वियोग से होता हुआ शोक एवं खराब वस्तु जैसे कि, विष्टादि के प्रति जुगुप्सा । उन सब भावों का भी मैं त्याग करता हूँ । भय, शोक एवं जुगुप्सा इन नोकषायों का परिणाम भी आत्मा को मलिन करनेवाला होने से, इन बोलों द्वारा आत्मा में रहे हुए इन भावों को याद करते हुए साधक उनके त्याग की भावना व्यक्त करता है ।

इसके अलावा, तीन लेश्याओं का परिणाम भी मनोगुप्ति आदि में बाधक है । इसलिए अब कहते हैं कि,

३२-३३-३४. कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या परिहरुं :

कषाय अंतर्गत अध्यवसाय लेश्या है। शास्त्र में इस लेश्या के छः प्रकार बताये हैं । उनमें प्रथम तीन लेश्या अशुभ है । जिनमें अन्य के सुख दुःख का विचार भी नहीं होता, वैसा अत्यंत अशुभ परिणाम कृष्ण लेश्या में होता है । नील एवं कापोत लेश्या उससे थोड़ी अल्प मलीनता वाली है । इसलिए, इस बोल द्वारा आत्मा में रही हुई इन तीन मलिन लेश्याओं को त्याग करने का संकल्प करना है ।

तीन प्रकार के गारव भी आत्महित में बाधक हैं, इसलिए अब कहते हैं कि...

३५-३६-३७. रस गारव, ऋद्धि गारव, शाता गारव परिहरुं :

गारव याने गृद्धि अथवा गौरवता का परिणाम । खाने - पीने के स्वादिष्ट पदार्थों में आसक्ति करना या अभिमान करना रसगारव है । अपने पुण्यकर्म के उदय से प्रचुर ऋद्धि समृद्धि मिली हो, तो उसमें आसक्ति या अभिमान ऋद्धिगारव है एवं निरोगी शरीर या शरीर को शाता मिले वैसे साधनों में आसक्ति या अभिमान करना शातागारव है । ये तीनों गारव आत्मा के लिए अहितकर हैं । इन गारवों का आंशिक परिणाम भी आत्मा में न रह जाए, इसलिए इस बोल के द्वारा उनके त्याग की भावना व्यक्त की गई है ।

गारव की तरह तीन प्रकार के शल्य भी आत्महित में बाधक है, इसलिए उनके त्याग के लिए कहते हैं कि-

३८-३९-४०. माया शल्य, नियाणशल्य, मिथ्यात्व शल्य परिहरुं :

माया याने कपट, निदान याने धर्म के बदले में इस लोक या परलोक के सुख की आकांक्षा एवं मिथ्यात्व याने बुद्धि का भ्रम । ये तीन शल्य पैर के

कांटे की तरह आत्मा की प्रगति में रुकावट पैदा करते हैं । इसलिए, इस बोल द्वारा साधक तीन शल्यों के त्याग का संकल्प करता है ।

इन सब परिणामों की तरह कषाय भी बाधक हैं, इसलिए कहते हैं कि..

४१-४२. क्रोध-मान परिहरुं :

क्रोध अर्थात् आवेश एवं मान अर्थात् अहंकार । ये दोनों कषाय भी आत्महित में बाधक हैं । इसलिए, इन दोनों कषायों का भी मैं त्याग करता हूँ।

४३-४४. माया-लोभ परिहरुं :

माया याने कपट एवं लोभ याने असंतोष, तृष्णा, ये कषाय भी आत्मा की कदर्थना करनेवाले हैं । इसलिए आत्मा में रहे हुए इन चार कषायों का भी मैं त्याग करता हूँ । इस बोल से ऐसा संकल्प किया जाता है ।

संसार या शरीर पर ममत्व होने के कारण छः काय के जीवों की विराधना होती है । जब तक ममत्व नहीं जाता, तब तक सामायिक के फल रूप समता प्राप्त नहीं होती । इसीलिए अब छः काय की विराधना से बचने के लिए कहते हैं कि -

४५-४६-४७. पृथ्वीकाय, अप्काय-तेउकाय की जयणा करुँ :

जिन जीवों के शरीर का समूह पृथ्वी, पानी एवं अग्निरुप है वे पृथ्वीकाय, अप्काय एवं तेउकाय के जीव हैं । संसार में रहे हुए संसारी जीवों के लिए तो इन जीवों की रक्षा शक्य नहीं, तो भी सामायिक के काल में तो मैं इन जीवों की रक्षा करने का यत्न करूँगा, ऐसी भावना से इन बोलों द्वारा जयणा रखने का संकल्प किया जाता है ।

४८-४९-५०. वायुकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय की जयणा करुँ :

जिन जीवों का शरीर वायु एवं वनस्पति है तथा जो चलते-फिरते

बेइन्द्रियादि जीव हैं, वे त्रस जीव हैं । इन तीन प्रकार के जीवों की भी यथाशक्ति प्रयत्न से रक्षा करने का, इस बोल द्वारा साधक संकल्प करता है।

भगवान की सर्व आज्ञा में अपने और पर के प्राणों की सुरक्षा में समाई है। छः काय जीवों की रक्षा के परिणाम से, जीवों के साथ मैत्री का भाव प्रगट होता है, हृदय करुणा भाव से भर जाता है एवं 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' (सर्व जीवों के प्रति आत्मसमान परिणाम) का भाव पैदा होता है ।

इस तरीके से मुहपत्ती के बोल के रहस्य को जानकर, उन भावों से हृदय को भावित कर यदि मुहपत्ती प्रतिलेखन की क्रिया करने में आए, तो अल्प समय में आत्मा के उपर लगे हुए कर्म, अनादिकालीन कुसंस्कार नाश हो जाते हैं एवं आत्मा निर्मलता को प्राप्त कर सकती है ।

संदर्भ ग्रंथ सूचि

ग्रंथ	कर्ता
अष्ट प्रवचन माता की सज्झाय	पू.उ.श्री.देवचंद्रजी म.
आवश्यक निर्युक्ति-टीका	पू.आ.श्री.हरिभद्रसूरिजी म.
आवश्यक निर्युक्ति-दिपिका	पू.आ.श्री.भद्रबाहुस्वामीजी म.
कर्मग्रंथ-१	पू.आ.श्री.देवेन्द्रसूरिजी म.
कायोत्सर्ग ध्यान	श्री अमृतलाल कालीदास
गुरुतत्त्व विनिश्चय	पू.महामहोपाध्याय श्रीयशोविजयजी म.
गुरुवंदन भाष्य	श्री.पू.आ.देवेन्द्रसूरिजी म.
चैत्यवंदन महाभाष्य	श्री.पू.आ.शांतिसूरिजी म.
दशवैकालिक सूत्र	श्री.पू.आ.भवसूरिशायंजी म.
धर्मसंग्रह	पू.उ.श्री.मानविजयजी म.
नवकार स्वाध्याय-संस्कृत तथा	श्री तत्त्वानंदविजयजी
प्राकृत विभाग	पू.मु.श्री.धुरधंरविजयजी
प्रतिमाशतक	पू.महामहोपाध्याय श्रीयशोविजयजी म.
प्रबोधटीका	श्री अमृतलाल कालीदास
परमतेज	पू.आ.श्री.भुवनभानुसूरिजी म.
योगशास्त्र	पू.आ.श्री. हेमचंद्राचार्यसूरिजी म.
विशेषावश्यक भाष्य	आ.श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
श्राद्ध प्रतिक्रमण वन्दारूवृत्ति	पू.आ.श्री देवेन्द्रसूरिजी म.
सवासो गाथानुं स्तवन	पू.महामहोपाध्याय श्रीयशोविजयजीम.
सूत्रार्थ विचारणा	श्री प्रवीणभाई मोता

सन्मार्ग प्रकाशन

जैन आराधना भवन, पाछीया की पोल, रीलिफ रोड,
अहमदाबाद-३८०००१. फोन : २५३९२७८९
E-mail : sanmargprakashan@gmail.com

- सन्मार्ग प्रकाशन द्वारा प्रकाशित होते संस्कृत-प्राकृत-अन्य भाषा के सभी ग्रंथ भारत वर्षीय जैन ज्ञानभंडारों को एवं इच्छुक पू. साधु-साध्वीजी भगवंतो को भेंट/अर्पण किए जाते हैं। (उपलब्धता-अनुसार)

- सन्मार्ग प्रकाशन के गुजराती भाषा के प्रकाशन घर बैठा जीवनपर्यंत प्राप्त करने के लिए **आजीवन शुल्क रू. ५०००** (पांच हजार सिर्फ) रखा है।

- सन्मार्ग प्रकाशन के हिंदी भाषा के प्रकाशन घर बैठा जीवनपर्यंत प्राप्त करने के लिए **आजीवन शुल्क रू. २०००** (दो हजार सिर्फ) रखा है । (निकट भविष्य में यह शुल्क बढने की संभावना है।)

- सन्मार्ग प्रकाशन की पुस्तकें जैन धर्म की अधिकृत जानकारी परोसते हैं। हर किताब एक संदर्भग्रंथ का कार्य करती है। उदीयमान प्रवचनकार पू, साधु-साध्वीजी भगवंत भी सन्मार्ग को किताबों को ध्यान से पढकर अपना व्याख्यान सजाते हैं।

आपके स्वयं एवं परिवारजनों के जीवन को आध्यात्मिक आलोक से भरपूर करने आज ही आजीवन-सदस्यता अंकित करें।

सन्मार्ग

100

देवद्रव्य जिन मंदिर निर्माण अथवा जीर्णोद्धार में ही व्यय हो

पुण्यात्माओ !

सिर्फ एक हजार रुपया एक ही बार भर कर आप जीवनभर के लिए आपके और आपके परिवार के आत्मा का बीमा करवा सकते हैं । यह बीमा कंपनी है - 'सन्मार्ग' पाक्षिक । हाँ ! हर पन्द्रह दिन में एक बार वह आपके घर आ कर आपको मिलता है और आपके आत्महित की चिन्ता करता है ।

पिछले ग्यारह साल जितने कम समय में जैन जगत में उत्कृष्ट ख्याति-प्रतिष्ठा प्राप्त किए **'सन्मार्ग'** पाक्षिक के बारे में कुछ भी कहना उचित नहीं लगता ।

यह सन्मार्ग में जगप्रतिष्ठित व्याख्यानवाचस्पति पू. आ. श्री विजय **रामचन्द्रसूरीश्वरजी** महाराजा के, हर एक आत्मा को जागृत करनेवाले प्रवचन तो आते ही है और अधिकांश में हम अभी जिनके प्रवचनों को सुनने में एकाग्र बन जाते हैं, प्रभुवाणी में ओतप्रोत हो जाते हैं, जिन्हें सुनने का बारबार मन होता है, वो प्रवचनप्रभावक पू. आ. श्री विजय **कीर्तियशसूरीश्वरजी** महाराज के जिनाज्ञानिष्ठ प्रवचनों का हूबहू अवतरण उसमें नियमित रूप से प्रकाशित होता है ।

इसके अलावा - शंका-समाधान, प्र नोत्तरी, शासन-समाचार, आगम के अर्क देते लोक और सांप्रतकालीन प्रवाहों के बारे में शास्त्रीय मार्गदर्शन परोसा जाता है । सन्मार्ग के विशिष्ट रंगीन विशेषांकों ने अपनी खुद की उत्कृष्ट पहचान स्थापित की है ।

हर पन्द्रह दिन A/4 साइझ के १६ पन्ने, हर साल करीब ३०० पेज का वाचन, विशिष्ट विशेषांक, सुपर व्हाईट पेपर पर आकर्षक प्रिन्टींग में घर बैठे यह मिलता है । फिर भी आजीवन सदस्यता सिर्फ रु. १०००/-

सन्मार्ग जीवनभर घर आकर आपका आत्मकल्याण करेगा ।

आज ही अपना सभ्यपद प्राप्त करें ।

✣ प्रवचन प्रभावक हिन्दी ग्रंथमाला ✣

१.	जिनाज्ञा परममंत्र	३५/-
२.	प्रार्थनासूत्र के माध्यम से परमात्मा को प्रार्थना	२५/-
३.	जैन संघ के अग्रणिओं को मार्गदर्शन	(अप्राप्य)
४.	आत्मध्यान के अवसर पर	३०/-
५.	नवपद के उपासक - श्रीपाल - मयणा	५०/-
६.	समकित का संग, मुक्ति का रंग	५०/-
७.	उचित आचरण-१ माता-पिता के प्रति संतानों का	२५/-
८.	नवपद उपासना	६०/-

✣ अन्य प्रकाशन ✣

१.	सूत्र संवेदना भाग-१ (सामायिक के सूत्रो)	१००/-
२.	सूत्र संवेदना भाग-२ (चैत्यवंदन के सूत्रो)	१००/-
३.	सूत्र संवेदना भाग-२ (प्रतिक्रमण के सूत्रो)	१००/-
४.	सूत्र संवेदना भाग-२ (वंदित्तु सूत्र)	१००/-

✣ स्मृतिमंदिर ग्रंथमाला ✣

नं.	नाम	मूल्य
१	सुवर्ण पात्र में मंदिरा पान	१५-००
२	प्रभु वीर की वाणी भरत का भावी	३०-००
३	धर्म का मर्म	२०-००
४	श्रमण धर्म की श्रेष्ठता	१५-००
५	आत्महित की बातें	३०-००
६	सफलता का मार्ग	१५-००
७	धर्म का रहस्य	१५-००
८	मानव का कर्तव्य	१५-००
९	अंधे को आयना	१५-००
१०	आत्मधर्म	१५-००
११	संसार असार है	१५-००
१२	सुखं धर्मात् (संस्कृत)	१५-००
१३	जीवन कवन (पू.आ.श्री.वि. रामचंद्र सू.म.की जीवनी)	१००-००

औषधि के ज्ञानमात्र से रोग का नाश नहीं होता । किन्तु औषधि का सेवन भी आवश्यक होता है । वैसे ही ज्ञानमात्र से परिणति नहीं बदलती किन्तु गणधर भगवंतोने बनाए हुए सूत्र के माध्यम से ज्ञानानुसार होनेवाली क्रिया ही मोक्ष के अनुकुल परिणति बनाएँ रखने का सचोट उपाय बन जाता है । वे सूत्र शब्दो में होते है और शब्द अक्षरो के बने होते है । अक्षरो में अनंत शक्ति समाई हुई है पर हमें उसे जगाना पड़ता है । और उसे जगाने के लिए हमें सूत्र में प्राणों का सिंचन करना पड़ता है । यह प्राण फूंकने की क्रिया याने सूत्र का संवेदन करना पड़ता है तब सूत्र सजीवन बन जाता है । फिर उसमें से अनर्गल शक्ति निकलती है जो हमारे में मौजुद अनंत कर्मो का क्षय करने के लिए एक यहा के समान बनी रहती है ।

अनंत गम पर्याय से युक्त इन सूत्रों के अर्थ का संकलन करना याने एक फुलदानी में फुलों को सजा के बगीचे का परिचय देने जैसी बात है । इसलिए ही सूत्र के सारे अर्थों को समझाने का भगीरथ कार्य तो पूर्व के महाबुद्धिमान अनुभवी महाशय ही कर सकते है । तो भी स्वपरिणिति का निर्मल बनाने के आशय से शुरु किऐ इस लिखान में आज के सामान्य बौद्ध जीव क्रिया करते करते याद कर सके उतना अर्थ संकलित है ।

सूत्रार्थ विषयक लिखे हुए इस पुस्तक को काहनी के किताब की तरह नहीं पढ़ना है, या उसे पढ़ाई का माध्यम भी नहीं बनाना है परंतु परिणति का पलटने के प्रयास के कठिन मार्ग का एक दीया है ।

Sanmarg - 079-25352072